अथर्ववेद—

दीर्घ जीवन और आरोग्य

(भाग ४ था)

अथर्ववेद-
दीर्घजीवन और आरोग्य

(भाग ४)

लेखक

म. म. ब्रह्मर्षि पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
विद्या-मार्तण्ड, साहित्य-वाचस्पति, गीतालंकार

पारडी (जि. बलसाड)

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

' दीर्घजीवन और आरोग्य '

विषयानुक्रमणिका

*

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

दीर्घजीवन और आरोग्य

भू मि का

इस विभागमें विभिन्न शीर्षकोंके अन्तर्गत ८८ सूक्त और ६१७ मंत्र आए हैं, जो इस प्रकार हैं—

	सूक्त	मंत्र
१ प्राणरक्षण	२	३३
२ दीर्घजीवन	१२	११७
३ घातक प्रयोगोंको दूर करना	४	२४
४ निर्भयता	१	६
५ आरोग्य	२	११
६ शुद्धि	५	२५
७ हस्तस्पर्शसे रोग निवारण	१	७
८ स्वावलम्बन	२	३
९ वाणी	१	१
१० सुख	२	५
११ उत्साह	२	१४
१२ ज्ञान और कर्म	२	१२
१३ प्रकाश	२	५
१४ यक्ष्मनाशन	९	१०३
१५ विषचिकित्सा	९	७०
१६ ज्वर	३	२०
१७ कुष्ठनाशन	२	८
१८ गण्डमाला	३	१४
१९ रोगकृमि	७	५७
२० क्षेत्रियरोग	२	१२
२१ पशुओंका आरोग्य	१	६
२२ शाप	१	१
२३ ईर्ष्यानिवारण	४	१९
२४ क्लेश-प्रतिबन्ध	३	१८
२५ मृत्यु	२	१०
२६ शक्ति	१	२
२७ सत्य	१	११
२८ कल्याण	१	१
२९ अमृत	१	२
	८८	६१७

दीर्घजीवन

मनुष्यके लिए दीर्घजीवन अथवा रोगरहित दीर्घायु अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही कुटुम्ब, धन, अधिकार, ज्ञान आदि दूसरी चीजोंकी भी आवश्यकता है। परन्तु कुटुम्ब, धन, अधिकार और ज्ञानके होनेपर भी आरोग्यपूर्ण दीर्घायु न हो, तो इनका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता। यदि कोई मनुष्य रोगी बनकर बिस्तरे पर पडा रहे, तो वह अपनी पत्नी, पुत्र आदियोंके लिए निरर्थक और भाररूप बनता है। इस प्रकार धन सम्पत्तिके होते हुए भी मनुष्य आरोग्यपूर्ण दीर्घायुके बिना उस सम्पत्तिका उपभोग नहीं कर सकता। इसलिए इन सब पदार्थोंमें ' आरोग्यपूर्ण दीर्घायु ' ही अतिशय महत्त्वपूर्ण है।

इस ग्रंथका विषय ही ' दीर्घजीवन और आरोग्य ' है। आरोग्यके अभावमें दीर्घायु मनुष्यके लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्यके सुखपूर्ण जीवनके लिए उसके आरोग्यका संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

प्राणका संरक्षण

प्राणकी दीर्घकालतक रक्षा करनेसे दीर्घायुकी प्राप्ति हो सकती है। प्राण ही आयु है, इसलिए कहा है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरः यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अथ. ११।४।१)

' यह सब कुछ जिसके आधीन है, उस प्राणको मेरा नमस्कार हो। यह प्राण सबका ईश्वर है। इसीमें सब कुछ समाविष्ट है। इसीके आधारसे सब प्राणियोंकी स्थिति है। इस विषयमें और भी कहा है—

प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥
(अथर्व. ११।४।१०)

' जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके साथ रहता है, उसी प्रकार सबोंका ईश्वर यह प्राण प्राणधारण करनेवाले और न करनेवाले सभीके साथ रहता है। '

सम्भवतः यहां कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि इतने बडे बडे वैद्यशास्त्रोंके सामने प्राणका महत्त्व ही क्या है? इसका उत्तर वेदने इस प्रकार दिया है—

आथर्वणीः आंगिरसीः दैवीः मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥
(अथर्व. ११।४।१६)

' आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्य निर्मित औषधी तभी तक उपयोगी होते हैं, जबतक कि शरीरमें प्राणका संचार और उसकी प्रेरणा होती है। ' इतना इस प्राणका महत्त्व है। इसीलिए कहा है—

प्राण मा मत् पर्यावृत्तो न मदन्यो भविष्यसि
(अथर्व. ११।४।२६)

' हे प्राण! मुझसे अलग मत हो, मुझसे तू दूर मत जा। ' क्योंकि प्राणके दूर जानेका अर्थ मृत्यु ही है। इसलिए यहां प्राणसे दूर न जानेकी प्रार्थना की है। यह अत्यन्त योग्य और आवश्यक है।

प्राणको अपने अन्दर स्थिर करनेके लिए प्राणायामका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। लम्बा प्राण अन्दर लेकर वहीं थोडी देर रोक कर फिर धीरे धीरे उसे बाहर निकालना प्राणायामकी विधि है। बाहर भी प्राणको थोडी देर रोकना चाहिए। ये चार प्रकार प्राणायामके हैं। योगशास्त्रमें इन्हें ही ' पूरक ' कुम्भक, रेचक और बाह्य कुंभक कहा गया है। इनके अलावा दूसरे प्रकारके भी प्राणायाम होते हैं।

१– भस्त्रा प्राणायाम— जिसमें जल्दी जल्दी श्वास और उच्छ्वास किया जाता है। उसे भस्त्रा प्राणायाम कहते हैं। इनसे फेकडे स्वच्छ होते हैं। दीर्घ और लघुके रूपमें इसके दो भेद हैं।

२– उज्जायी प्राणायाम— इसमें आवाजके साथ श्वासोच्छ्वास किया जाता है। इसमें अन्तःकुम्भक या बाह्यकुंभक नहीं किया जाता। पर आवाजके साथ सांस अन्दर ली और बाहर निकाली जाती है। इस श्वासोच्छ्वासकी आवाज पर मनको एकाग्र भी किया जा सकता है। इससे मनको एकाग्र करनेसे होनेवाले सारे लाभ प्राप्त हो सकते हैं। सर्व साधारण मनुष्योंके लिए यह प्राणायाम बहुत लाभदायक हो सकता है।

३– प्राणायाम— जिसमें धीरे धीरे सांस ली जाती है उसे पूर्ण प्राणायाम कहते हैं। इसमें यथाशक्ति अन्तःकुंभक करके धीरे धीरे सांस बाहर छोडकर उसे बाहर ही रोक दिया जाता है। जितने समयमें पूरक होता है, उससे चौगुने समयमें कुंभक, दुगुने समयमें रेचक और थोडी देर बाह्यकुंभक किया जाता है। कुंभकका समय शक्तिके अनुसार घटाया बढाया जा सकता है। कुंभककी दीर्घकालतक स्थिति हो जाए तो रोमकूप खुलने लगते हैं और शरीरमें नव चैतन्य निर्माण होता है।

प्राणायामके बहुतसे प्रकार हैं, ये किसी एक योगीके आश्रम में रहकर सीखने पडते हैं। सर्व साधारण जिससे लाभ उठा सकते हैं, ऐसे तीन प्राणायाम ऊपर दिए गए हैं। इस प्राणायामसे अपने शरीरमें प्राणोंको स्थिर किया जा सकता है। भस्त्रा और पूर्ण प्राणायामको प्रथम बहुत समय तक नहीं करना चाहिए! भस्त्रा प्राणायाम फेफडोंको स्वच्छ करनेके लिए थोडा ही करें। उज्जायी प्राणायाम ज्यादा करें और पूर्ण प्राणायाम अपनी शक्तिके अनुसार करें। ऐसे करनेसे साधक के शरीरमें प्राण स्थिर रह सकते हैं।

प्राणायामका महत्त्व

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है, और उससे आयु दीर्घ होती है। इस शरीरमें दो तरहकी नाडियाँ हैं। (१) जो शुद्ध रक्तको शरीरमें सर्वत्र पहुंचाती हैं, (२) जो अशुद्ध रक्तको हृदयकी ओर ले जाती हैं। इस शरीरमें प्रतिक्षण विषका प्रसार होता रहता है और वह रक्तमें मिलकर सारे शरीरको विषमय करता रहता है। धमनियों द्वारा वह अशुद्ध या विषमय रक्त हृदय में पहुंचाया जाता है। वहां हृदयमें प्राणाग्निका निवास है। मनुष्य जो श्वास लेता है वह शुद्ध वायु होती है जो हृदयमें पहुंच कर प्राणाग्निको प्रेरित करती है और यह प्राणाग्नि धमनियों द्वारा हृदयमें लाए गए अशुद्ध रक्तके विषमय तत्त्वोंको जला देती है, और वह रक्त फिर शुद्ध होकर शरीरमें परिभ्रमण करने लगता है। इस प्रकार यह प्राण ही इस शरीरका मुख्य आधार है। मनुजी भी अपनी स्मृतिमें लिखते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

जिस प्रकार आगमें डाले गए धातुओंका मैल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणोंका निग्रह कर प्राणाग्निको प्रज्ज्वलित करनेसे सारी इन्द्रियोंका मल दूर हो जाता है।

जितनी ज्यादा शुद्ध वायु अन्दर ली जाएगी, उतनी ही यह प्राणाग्नि ज्यादा भडकेगी, परिणामतः रक्तके अशुद्धतत्त्व भी जलेंगे।

इस प्रकार प्राणसे प्रेरित प्राणाग्नि रक्तको शुद्ध करती है, शुद्ध रक्त इंद्रियोंको निर्मल बनाता है, निर्मल इंद्रियोंको वशमें करनेसे आयु दीर्घ होती है। इस प्रकार प्राणायामसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। यह महत्त्व है प्राणायामका।

*

उन्नतिका मार्ग

मनुष्यका जन्म उन्नति करनेके लिए ही हुआ है, इसलिए कहा है—

उद्यानं ते पुरुष नावयानं। (अथर्व. ८।१।६)

'हे मनुष्य! तू ऊपर उठ, नीचे मत गिर।' मनुष्यका यह कर्तव्य है कि कर्तव्याकर्तव्यका विचार कर वह हमेशा उन्नतिके मार्ग पर ही चलता रहे। वह सर्वत्र अपनी मननशक्तिका सदुपयोग करे। उसे मनुष्य इसीलिए कहा गया है कि वह मननशक्तिसे युक्त है, 'मननात् मनुष्यः।' इसलिए उन्नतिका मनन ही एकमात्र उपाय है। इसलिए मनुष्य सदा सर्वदा अपनी बुद्धिका उपयोग करके उन्नति ही करे, कभी भी अवनत न हो। वेदका यह पवित्र सन्देश मानवमात्रके लिए है। जो भी इस सन्देशको ध्यानमें रखते हुए तदनुसार कार्य करेगा, वह निश्चित रूपसे उन्नत होगा।

बोध और प्रतिबोध

बोध और प्रतिबोध मनुष्यकी सहायता करते हैं। इस विषयमें कहा है—

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षताम्।
अस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्।
(अथर्व. ८।१।१३)

'ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें, आलस्य मत कर और काम करना मत छोड, रक्षक और जाग्रत रहनेवाले तेरी रक्षा करें।' ये रक्षकके गुण हैं, इसलिए ये गुण मनुष्योंको धारण करने चाहिए। इसलिए कहा है—

आ इहि। तमसः ज्योतिः आरोह। (अथर्व. ८।१।८)

'इस अन्धकारको छोडकर प्रकाश पर चढ।' अंधकारका मार्ग छोडकर प्रकाशके मार्ग पर चलना प्रगति करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे करनेसे हम—

सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत्पारयामसि।
(अथर्व. ८।१।१८)

'हजारों वीर्यकी सहायतासे इस मनुष्यको मृत्युके भयसे दूर कर सकेंगे।' इस अनुष्ठानसे मनुष्य दीर्घायु होगा।

जीवतां ज्योतिः अभ्येह्यर्वाङ् आ त्वा हरामि
शतशारदाय। अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं
द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥ (अथर्व. ८।२।२)

'जीवित मनुष्योंकी ज्योतिको तू प्राप्त कर, सौ वर्षकी आयु मैं तुझे प्राप्त कराऊंगा। मृत्युपाश और अवनतिके कारणोंको दूर करके तेरी आयुको दीर्घ करके उसे और दीर्घ बनाता हूँ।' इस प्रकार अपनी आयुको दीर्घ बनाना साधकके हाथोंमें है। साधक प्राणायामादि साधनोंसे अपनी लम्बी उमर और अधिक लम्बी कर सकता है।

सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु।

'सप्तऋषियोंके आधीन इस मनुष्यको मैं करता हूँ, वे इसे वृद्धावस्थातक सुरक्षितरूपसे पहुँचायें।' अपने शरीरमें दो आंखें, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात ऋषि हैं। ये सातों ऋषि मनुष्यको वृद्धावस्थातक ले जावें और मनुष्यकी इन्द्रियें मनुष्यको सुरक्षिततासे दीर्घायु प्रदान करें। मनुष्यको चाहिए कि वह इंद्रियोंको ऐसे उत्तम रास्तेपर ले जाए कि वह दीर्घायुवान् बने। दीर्घजीवनकी प्राप्ति इन्द्रियों और प्राणोंके आधीन है।

मातापिताओंके पाप

दीर्घ जीवनकी प्राप्तिमें मातापिताओंका भी सम्बन्ध है—

मातृकृतात् पितृकृतात् च एनसः शेषे।

(अथ. ५।३०।४)

'माता और पिताके पापोंके कारण तू इस प्रकार बीमार होकर सो रहा है।' अर्थात् माता पिता यदि पुण्यशाली होंगे, तो उनका पुत्र इस प्रकार बीमार नहीं हो सकता। अपितु निरोगी रहकर दीर्घ जीवन प्राप्त करेगा।

मानसिक शक्ति

मानसिक शक्तिसे भी इसका सम्बन्ध है—

पुरुष! सर्वेण मनसा सह इह एधि।
यमस्य दूतौ मा नुगाः। जीव पुरा अधि इहि॥

(अथ. ५।३०।६)

'हे पुरुष! तू अपने सम्पूर्ण मनसे यहां आ, यमके दूतोंके साथ न जा, जीवोंकी इस नगरीमें रह,' मनके भाव उच्च रहने चाहिए। कुविचारोंमें मन न रमे। कुविचार मनुष्यको यमदूतोंके आधीन करता है। यह शरीर ही जीवकी नगरी है। अतः मनको सुविचारोंसे युक्त करके यहां दीर्घायु प्राप्त कर।

मा बिभेः। न मरिष्यसि। त्वा जरदष्टिं कृणोमि।

(अथर्व. ५।३०।८)

'हे मनुष्य! तू डर मत, तू मरनेवाला नहीं है, तुझे मैं इतना बलसे युक्त कर दूंगा कि तू वृद्धावस्था भी सुखसे भोग सकेगा।' ऐसे उत्तम विचारोंसे युक्त मनवाला ही दीर्घायु प्राप्त कर सकता है।

मन एक ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है, जो इस शरीरमें रहकर सारे शरीर पर अपना प्रभुत्व रखता है। मनके बनने बिगडनेपर ही शरीरका बनना बिगडना आधारित है। जिस मनुष्यका मन सदा प्रसन्न और आनन्दित रहता है, वह हमेशा स्वस्थ बना रहता है। अतः मनको कुविचारोंसे बचाना अत्यन्त आवश्यक है। मनको कुविचारोंसे बचानेका एक मात्र उपाय है उसे सर्वदा व्यस्त रखना। 'खाली दिमाग शैतानका घर होता है' इस कहावतके अनुसार बैठाठाला दिमागवाला मनुष्य सदा दूसरोंकी हानिकी ही बातें सोचता रहता है, लिहाजा उसका परिणाम उसके शरीर पर भी होता है!

यही बात रोगीके विषयमें भी है। यदि रोगीका मन शक्तिशाली है, और उसमें जीनेकी चाह है, तो वह भयंकरसे भयंकर बीमारीसे भी सुरक्षित बचकर निकल सकता है, पर एक स्वस्थ मनुष्य भी जीवनकी चाहसे रहित सदा निराशामय होकर क्रमशः क्षीण होता चला जाता है। अतः मनुष्यको सदा 'मैं अमर हूँ, मैं बलवान् और शक्तिशाली हूँ, मैं शीघ्र नहीं मरूंगा' आदि शुभ विचार अपने मनमें रखने चाहिए। यजुर्वेदमें मनकी शक्तिका सविस्तार वर्णन करनेवाला एक सूक्त है, उसे 'शिवसंकल्प सूक्त' कहा है। मनमें सदा शिवसंकल्प ही हों। यह मन सब इन्द्रियोंका राजा है, जिस रास्तेसे मन जाता है, उसी रास्तेपर इन्द्रियां चलती हैं। इसलिए मनको इन्द्रियरूपी घोडोंका सारथी बताया है। अतः शिवसंकल्पवाला मन उत्तम सारथिकी तरह इन इन्द्रियोंको उत्तम मार्गपर ले जाता है, परिणामस्वरूप मनुष्य भी स्वस्थ और दीर्घायुवाला होता है। इसीलिए अथर्ववेदमें भी मानसिक शक्तिपर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है।

हवनसे दीर्घायु

योग्य औषधिके हवन करनेसे मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। औषधियोंके हवन करनेसे सभी तरहके रोगोंका निराकरण हो सकता है। इस विषयमें ब्राह्मणग्रंथमें लिखा है—

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते, ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते। (गो. ब्रा. उ. प्र. १।१९)

'यह औषधियोंसे होनेवाला महायज्ञ है, इसलिए ऋतुओंके संधिकालमें किया जाता है, क्योंकि ऋतुसन्धियोंमें यज्ञ होता है।'

किस रोग पर किस औषधीका हवन करना चाहिए इसका विचार उत्तम वैद्योंको करना चाहिए। ऐसे हवनोंके करनेसे मनुष्य दोषमुक्त बनता है और दीर्घजीवी होता है।

हवनसे सारा वायुमण्डल शुद्ध और निर्मल होता है, इससे हवा शुद्ध होती है, और उत्तम मेघ बनते हैं उनसे फिर निर्मल और विशुद्ध जल बरसता है, जिससे उत्तम अन्नकी उत्पत्ति होती है। मनुस्मृतिमें कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

'अग्निमें डाली गई आहुति सूर्यमें जाती है, सूर्यसे पानी बरसता है, और उस पानीसे प्रजायें बढती हैं।'

प्राचीनकालमें हर नगरके चौराहोंपर बडी बडी यज्ञशालायें होती थीं, जिनमें बडे बडे यज्ञ रचाये जाते थे। इन यज्ञोंमें स्वास्थ्यवर्धक पदार्थोंकी आहुतियां दी जाती थीं, और उन पदार्थोंका सूक्ष्मतत्त्व हवामें विलीन होकर प्राणियोंके अन्दर श्वास द्वारा जाता था, जिससे सभीका स्वास्थ्य उत्तम रहता था और वे दीर्घकालतक उत्तम स्वास्थ्यका आनन्द लेते थे। अतः इस प्रकार हवन भी दीर्घायुप्राप्तिका एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

सुवर्ण-धारण

शरीरपर सोनेको धारण करनेसे मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। इसलिए कहा है—

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः। (वा. य. ३४-५१)
शतानीकाय हिरण्यं अबध्नन्। (अथ. १।३५।१)

'जो दाक्षायण हिरण्य शरीरपर बांधता है, वह मनुष्योंमें सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त करता है।' दीर्घायु प्राप्त करनेका यह भी एक उपाय है। यह उपाय हरएक कर सकता है। शरीरके साथ सोनेका स्पर्श होनेसे शरीरपर उत्तम परिणाम होता है।

इसके आलावा अनेक प्रकारके रोगोंको दूर करनेके उपाय भी बताए हैं। यक्ष्मा, ज्वर, गंडमाला, क्षेत्रिय रोग, संधिवात, मूत्ररोग श्वेतकुष्ठ, रोगकृमियोंका नाश इत्यादि अनेक विषय इस भागमें आए हैं, साथ ही उनके निवारणोपाय भी बताए हैं। रोगोंके दूर होनेपर ही आरोग्य बढेगा और मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त कर सकेगा। रोगकृमियोंके नाश करनेके विषयमें कहा है।

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ये अन्तः क्रिमयो गवि। (अथ. २।३२।१)

'उदय और अस्त होनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे रोग कृमियोंका नाश करता है।' सूर्य किरणोंसे रोगोंके कृमि दूर होते हैं। घर खुले हुए हों तंग न हों ताकि उन घरोंमें सूर्य किरणोंका मुक्त प्रवेश हो सके। ऐसे घरोंमें रहनेसे सभी निरोगी रह सकते हैं।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य

हाथके इशारोंसे रोगचिकित्साकी पद्धति आजकी चिकित्सा पद्धतिका एक आवश्यक अंग है। कुछ रोग शारीरिक होते हैं और कुछ मानसिक। ज्वर, घाव, चर्म रोग आदि शारीरिक हैं, पर चिन्ता, दुःख, क्षय आदि मानसिक हैं। चिन्ता अथवा कुण्ठायें अचेतन मनमें रहती हुई धीरे धीरे अपना प्रभाव सारे शरीर पर जमा लेती हैं। फलतः शरीर क्रमशः क्षीण होता जाता है। चिन्तासे स्वस्थ मनुष्य भी क्षीण होता जाता है यह क्षीण होना ही 'क्षय' है। इस प्रकार क्षय रोगोंमें मनका भाग अधिक होता है। मनमें अनेक तरहकी कुण्ठायें प्रसुप्त अवस्थामें रहती हैं। इनका निराकरण स्थूल शरीरकी चिकित्सासे असम्भव है। इनकी चिकित्सा रोगीके मन पर प्रभाव डाल कर ही की जा सकती है। इसी पद्धतिको आजकल 'मनो-विश्लेषणकी पद्धति' (Psycho-Analysis) कहते हैं। इस पद्धतिमें हिप्नोटिज्म और मेस्मरिज्मका प्राधान्य होता है। चिकित्सक इस पद्धतिके द्वारा रोगी पर अपनी मानसिकशक्ति फेंकता है और उस पर अपनी मानसिक किरणोंको फेंक कर उसकी मानसिक कुंठाओंको दूर करता है।

यह पद्धति आधुनिक नहीं है अपितु वेदोंमें भी इस पद्धतिका अध्ययन किया जा सकता है। अथर्ववेदमें हाथके संकेतसे रोगोंको दूर करनेकी चिकित्सा बताई है—

आ त्वागमं शंतातिभिः अथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ५॥
अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥ ६॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवि।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां
ताभ्यां त्वाभिमृशामसि॥ ७॥ (अथर्व. ४।१३)

'शान्तिदायक गुणोंके साथ और विनाशको दूर करनेवाले शुभगुणोंके साथ मैं तेरे पास आया हूँ। मैं तुझमें बल बढाता हूँ। यक्ष्मा आदि रोगोंको दूर करता हूँ। यह मेरा हाथ भाग्य बढानेवाला है और यह दूसरा हाथ पहलेकी भी अपेक्षा शक्तिशाली है। यह मेरा हाथ सभी रोगोंको दूर करनेवाला है और कल्याण करनेवाला है। दस अंगुलीरूपी शाखायें इस मेरे हाथमें हैं। जीभसे मैं उत्तम कल्याण करनेवाली भाषा ही बोलता हूँ और निरोगता प्रदान करनेवाले इस हाथसे तेरा स्पर्श भी करता हूँ। इस मेरे हस्त-स्पर्शसे तू निःसंदेह निरोगी बनेगा, मेरे हाथमें ऐसा प्रभाव है।'

इस प्रकार प्राचीन कालमें हस्तस्पर्शसे रोगियोंको स्वस्थ किया जाता था। यह विद्या आज भी वृद्धि पर है और हस्त-स्पर्शसे स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले डॉक्टर आजकल बहुतसे हैं। इसलिए इस सम्बन्धमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। मन दृढसंकल्पवाला होना चाहिए, मानसिक दृढ-संकल्पसे उच्चारे गए शब्दोंसे और हाथके स्पर्शसे डॉक्टर अपनी मानसिक शक्ति रोगीके शरीरमें पहुंचाता है और रोग दूर करता है। इस प्रकार हाथसे रोग दूर करनेकी विद्या वेदोंमें बताई है।

शरीरकी स्वस्थता दीर्घजीवनके लिए अत्यावश्यक है। पर तपरहित मनुष्य इस स्वस्थताको प्राप्त नहीं कर सकता। तपसे इन्द्रियां निर्मल होती हैं और निर्मल इन्द्रियां शक्तिशाली होकर सारे शरीरको स्वस्थ बनाये रखती हैं। इन्द्रियोंको शुद्ध करनेकी रीति भी इस भागमें बताई गई है।

शुद्धिकी रीति

शुद्धिकी रीति पांच तरह की है। अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्धता होनी चाहिए—

१ वाणीका तप— सर्व प्रथम वाणीके तपका आचरण करना चाहिए। सत्यभाषण, मौन आदि वाणीके तप हैं। सत्यभाषणसे मनुष्यकी वाणी अप्रतिहत हो जाती है, अर्थात् सत्य भाषण करनेवाला जो कुछ बोलता है, वह अवश्यमेव होकर रहता है। इसका वर्णन योगदर्शनमें देखा जा सकता है। वाणीके दोषोंको दूर कर उसमें प्रकाश और प्रसन्नता लानी चाहिए। जो कुछ भी बोला जाए, वह सावधानता और परिशुद्धतासे ही बोला जाए। इस प्रकार वाणीको शुद्ध करनेसे वाणीका तेज और प्रभाव बहुत बढता है।

२ प्राणोंका तप— प्राणायामसे प्राणका तप होता है। जिस प्रकार फुंकनीसे फूंककर आग जलाई जाती है, उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरकी नसनाडियोंकी शुद्धता होती है और तेज बढता है, शरीरके दोष दूर होते हैं, प्रकाश बढता है, शरीरकी शुद्धि होती है और तेजस्विता बढती है। इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है।

३ दृष्टिका तप— दुष्टभावनासे किसीकी ओर न देखना, मंगलभावनासे ही अपनी दृष्टिका उपयोग करना दृष्टिका तप कहाता है। अपनी दृष्टिको कुमार्गपरसे हटाकर सुमार्गपर चलाना भी एक बडा भारी तप है।

४ मनका तप— मन सब इन्द्रियोंका स्वामी है। वही इन्द्रियोंको चलानेवाला होनेसे इन्द्रियाधिपति है। इसलिए सभी शास्त्रोंमें कहा है कि यदि मनुष्य इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह प्रथम मनका निग्रह करे। मनके निग्रह करनेसे सभी इन्द्रियां स्वयं वशमें आ जाएंगी। सत्यपालन मनका तप है। बुरे विचारोंको मनसे दूर करना मानसिक तप है। इस प्रकारके तपसे मनके दोष दूर होते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है।

५ वीर्यका तप— (ब्रह्मचर्य) जननेन्द्रियका, वीर्यका अथवा कामका तप ब्रह्मचर्य कहाता है। ब्रह्मचर्यसे सारी अपमृत्युयें दूर हो जाती हैं और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं। रोगादियोंका भय दूर होता है और नैसर्गिक आरोग्य प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्यके बारेमें सब जानते हैं, इसलिए उसके विषयमें ज्यादा लिखनेकी जरूरत नहीं है। ब्रह्मचर्य हर प्रकारसे मनुष्य मात्रके उद्धारके लिए उपयोगी है।

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण), सूर्य (दृष्टि—नेत्र), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंका आश्रय लेकर मनुष्य शुद्ध हो सकता है। प्रत्येक देवताकी पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष दूर होते हैं, उसके गुण बढते हैं। इस प्रकार मनुष्य क्रमशः शुद्ध और उन्नत होता जाता है।

दुष्टोंका दमन

दुष्टोंके दमनके लिए अपनी शक्ति बढानी चाहिए। मनुष्यमें भरपूर शक्ति हो, तभी वह अपनी और दूसरोंकी सुरक्षा कर सकता है। वे शक्तियां इस प्रकार हैं—

१ ओजः— स्थूलशरीरकी शक्ति।

२ सहः— शीत, उष्ण और दूसरे द्वन्द्व विकारोंको सहन करनेकी शक्ति कर्तव्य करते हुए मार्गमें आनेवाले

कष्टोंको आनन्दसे सहन करनेकी शक्तिका नाम 'सह' है। शत्रुके आक्रमणके समय उससे न डरते हुए अपने स्थानपर ही खडे रहना भी 'सहनशक्ति' है।

३ बलम्— आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और इन्द्रिय विषयक आदि जितने बल मनुष्यकी उन्नतिके लिए आवश्य हैं।

४ आयुः— दीर्घायु, स्वास्थ्यपूर्ण दीर्घजीवन।

५ भ्रातृव्यक्षयणं— दो भाईयोंके सन्तानोंके आपसका नाता 'भ्रातृव्य' का होता है। ये एक ही घरके भ्रातृव्य हैं। उसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई समझे जाते हैं, इस कारण उनकी प्रजाएं परस्पर भ्रातृव्य समझी जाती हैं। उनमें बार बार युद्ध होते हैं। ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रुपक्षको हटानेकी शक्ति स्वयंमें बढानी चाहिए। तभी विजय मिल सकती है।

६ सपत्नक्षयणं— एक ही राज्यमें पक्ष-उपपक्ष-प्रतिपक्ष होते हैं। इस पक्ष भेदका नाम सपत्न है। क्योंकि वे एक ही पति अर्थात् पालकोंके अधिकारमें रहते हैं। उनमें परस्पर स्पर्धाओंका होना स्वाभाविक ही है। इस स्पर्धामें सपत्नोंको दूर करके विजय प्राप्त करनेका नाम 'सपत्नक्षयण' है।

७ अरायक्षयणं— 'राय' धनका वाचक है और 'अराय' शब्द निर्धनताका वाचक है। यह निर्धनता सब तरहसे दूर की जानी चाहिए। वैश्य और कारीगरोंकी उन्नतिसे ही यह साध्य हो सकता है।

८ पिशाचक्षयणं— रक्त मांसका शोषण करनेवालोंका नाम पिशाच है, (पिशिताच्=पिशाच) रक्त पीने या सुखानेवाले रोगोंका अन्तर्भाव भी इसीमें हो जाता है मनुष्योंमें मांस खानेवाले और वह भी कच्चे मांस खानेवालेको पिशाच कहते हैं। इनको समाजसे दूर ही रखना चाहिए।

९ स-दान्वाक्षयणं— (स-दानव-क्षयणं) असुर राक्षसोंको दूर करना अथवा उनका नाश करना चाहिए। पुराणोंमें देवासुर युद्धके नामसे प्रसिद्ध है। आज भी मनुष्य समाजमें देवासुर संग्राम जारी ही है। उसमें असुरोंकी पराजय अवश्य होती है।

सीसेकी गोली

समाजमें ऐसे भी दुष्ट मनुष्य होते हैं जो बिना कारण लोगोंके जानमालकी हानि किया करते हैं। उनके बारेमें वेदमें कहा है।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥
(अथर्व. १।१६।४)

'हे दुष्ट! यदि तू हमारी गाय, घोडे और मनुष्योंको मारेगा, तो तुझे हम सीसेकी गोलीसे मार देंगे ताकि तू हमारे वीरोंका नाश नहीं कर सके।'

इस मंत्रमें केवल सीस शब्द है, गोलीका वाचक कोई शब्द यहां नहीं है। तो भी 'सीसेन विध्यामः' (सीसेसे बींध देंगे) यहां 'विध्यामः' शब्द प्रयोग सीसेकी गोलीका भाव बताता है। केवल सीसेका उपयोग चोरोंको मारनेमें और किसी दूसरी तरहसे नहीं हो सकता इसके अलावा (विध्यामः) बींधते हैं, यह शब्द बताता है कि यह कोई ऐसी चीज है, जो दूरसे ही लक्ष्य करके छोडी जाती है। ऐसी गोलियोंसे शत्रुओं और दुष्ट मनुष्योंका वध करना चाहिए। शत्रुओंके भी कई प्रकार इस भागमें बताये हैं।

१ विष्कन्धं— प्रतिबंध करनेवाला, विघ्न डालनेवाला।

२ पिशाच, पिशाची— रक्त पीनेवाला, कच्चा मांस खानेवाला क्रूर मनुष्य।

३ अत्रिन्— खाऊ, जो अपने स्वार्थके आगे दूसरोंको नहीं गिनता। जिसे खानेके सिवा और और कुछ सूझता ही नहीं।

४ यातुः— चोर।

ये सभी समाजके शत्रु हैं। इन्हें प्रथम उपदेश द्वारा सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिए। उपदेशके द्वारा भी जो नहीं सुधरते, उनको योग्य दण्ड देनेके लिए राजाके हाथोंमें सौंप देना चाहिए। उपदेश और दण्डसे भी जो सुधरते नहीं उन्हें सीसेकी गोलीसे मार देनेका विधान है।

उन्नतिका मूलमंत्र

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः
पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।
इममादित्या उत विश्वे च देवा
उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु॥ (अथर्व. १।९।१)

'इस मनुष्यमें जो निवासक शक्ति, क्षात्र, बल, पुष्टि, शांति मित्रता तथा वाणी इत्यादि शक्तियां हैं, वे शक्तियां इस मनुष्य के अन्दर धन्यता स्थापित करें। उसके स्वतंत्र विचार और उसकी सब इन्द्रियें उसमें उत्तम तेज धारण करायें।'

मनुष्यों और जगके प्रत्येक पदार्थोंमें कई निवासक शक्तियां रहती हैं, उनके कारण वे प्राणी और पदार्थ अपनी अवस्थामें रहते हैं। जिस समय निवासक वसु शक्तियां बढती हैं, उस समय पोषण होता है और जब वे कम होती हैं, तब क्षीणता आती है। उसी प्रकार इन निवासक शक्तियोंका सर्वथा नाश ही मृत्यु है। इसी प्रकार दूसरी शक्तियोंके घटने बढनेसे उनके गुण भी घटते बढते हैं। मनुष्यमें आठ वसु शक्तियां हैं इनके अलावा अन्य दैवी शक्तियां भी हैं। इन शक्तियोंके

विकसित होने पर ही मनुष्य वसु अर्थात् धन प्राप्त करता है और स्वयंको धन्य कर सकता है। सारांशमें उन्नतिके निम्न-मूलमंत्र हैं—

(१) अपनेमें निहित वसुशक्तिका विकास।

(२) स्वयंमें क्षात्रतेजकी वृद्धि।

(३) स्वयंका पोषण।

(४) स्वयंमें शांति और समताका स्थापन।

(५) मनमें मित्रभावको बढाना और हिंसकभावको कम करना।

(६) वाणीकी शक्तिको विकसित करना।

विजयके लिये संयम

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु
सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु
उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ (अथर्व. १।९।२)

'देवो! इस मनुष्यकी आज्ञामें तेज, नेत्र, वाणी रहें। हमारे शत्रु नीचे गिरें और इसे सुखकी उत्तम अवस्था प्राप्त हो।'

अस्य प्रदिशि सूर्यः अस्तु— इसकी आज्ञामें सूर्य रहे। पर मनुष्य यह आसानीसे समझ सकता है कि सूर्य किसीकी भी आज्ञामें रह नहीं सकता। क्योंकि यह बात मनुष्यकी शक्तिके बाहर है। परन्तु नेत्रस्थानमें दर्शनशक्तिके रूपमें रहनेवाला सूर्यका अंश संयमीके आधीन रह सकता है। यह ठीक है कि मनुष्य अग्नि, इन्द्र, वायु आदि बाह्य देवताओंपर अधिकार नहीं कर सकता, पर शरीरस्थानीय उन देवताओंके अंशोंपर तो अधिकार कर ही सकता है।

मनुष्यमें सभी देवताओंके अंश हैं। ये देवताओंके अंश मनुष्यशरीरमें जगह-जगह पर हैं, इन्हीं अंशोंको इन्द्रिय-शक्ति कहा जाता है। मनुष्यकी स्फूर्ति दृष्टि और वाणी उसी प्रकार दूसरी इन्द्रियें भी उसकी आज्ञामें रहती हैं। अर्थात् इन्द्रियोंको स्वैरविहार करने नहीं देना चाहिए। तात्पर्य यह कि मनुष्योंको चाहिए कि संयम और मनोनिग्रह द्वारा अपनी शक्तियां अपने अधीन रखे। इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना ही आत्मविजय है। इस प्रकारका आत्मविजयी मनुष्य ही शत्रुओंको दबाकर उत्तम सुखको प्राप्त कर सकता है। अतः जगत्को जीतनेकी इच्छा करनेवालेके लिए यह आवश्यक है कि वह प्रथम स्वयंको जीते।

ज्ञानसे श्रेष्ठत्व प्राप्ति

येनेन्द्राय समभरः पयांसि
उत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं
स जातानां श्रेष्ठ्य आ धेह्येनम्॥ (अथर्व. १।९।३)

'जिस उत्तम ज्ञानसे क्षत्रियोंको उत्तमोत्तम यश प्राप्त होता है, हे धर्मोपदेशक! उस उत्तम ज्ञानसे यहां इस मनुष्यकी वृद्धि कर, उसके कारण इसे अपनी जातिमें श्रेष्ठत्व प्राप्त हो।'

क्षत्रिय, राजा और इन्द्रको इस ज्ञानके कारण ही भोग प्राप्त होते हैं और इसी ज्ञानके कारण वह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है। उस ज्ञानको प्राप्त कर सभी मनुष्य अपनी अपनी ज्ञातियोंमें श्रेष्ठ हों।

जनताका कल्याण करना

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं
रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु
उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्। (अथर्व. १।९।४)

'इन सबोंके चित्त मैं अपनी तरफ आकर्षित करता हूं और उनके धनकी वृद्धि मैं करूंगा। उसी प्रकार उनके सत्कर्मोंका प्रचार मैं करूंगा। हमारे शत्रु नीचे दब जाएं और हमें सुख मिले।'

इस प्रकार उन्नतिकी ये चार सीढियां है—

(१) शरीरकी धारकशक्ति, इन्द्रियों और अवयवोंकी सभी शक्तियोंका विकास, उसी प्रकार मन और विचार-शक्तियोंका विकास।

(२) अपनी इन्द्रियशक्तियोंको अपने आधीन रखना और आत्मविजयी बनना।

(३) ज्ञानकी वृद्धिसे विविध रस प्राप्त करना और अपनी जाति और राष्ट्रमें सर्वश्रेष्ठ होना।

(४) लोगोंके मनोंको अपनी ओर आकर्षित करके उनकी सेवा करना।

ये चार सीढियां हर मनुष्य और हर राष्ट्रके लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार इस चौथे भागमें अनेक उन्नतिके साधक उपायोंका वर्णन है। इस भागमें बताये गए मार्गका अनुसरण कर मनुष्य 'दीर्घजीवन और आरोग्य' प्राप्त कर सकता है।

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद

[भाग चौथा]

दीर्घजीवन और आरोग्य

प्राणका संरक्षण

कां. ११, सू. ४

(ऋषि- भार्गवो वैदर्भिः । देवता- प्राणः ।)

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे । नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥
यत्प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः । प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥
यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः । सर्वं तदा प्र मोदते यत्किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्य वशे) जिसके आधीन (इदं सर्वं) यह सब जगत् है उस (प्राणाय नमः) प्राणके लिये मेरा नमस्कार हो । (यः सर्वस्य ईश्वरः) वह प्राण सबका ईश्वर (भूतः) है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं) उसीमें सब जगत् स्थित है ॥ १ ॥

हे प्राण ! (क्रन्दाय ते नमः) गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार हो, (स्तनयित्नवे) मेघोंमें नाद करनेवाले तुझको नमस्कार हो । हे प्राण ! (विद्युते) चमकनेवाले तुझको नमस्कार हो और हे प्राण ! (वर्षते) वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार हो ॥ २ ॥

हे प्राण ! (यत् स्तनयित्नुना औषधीः क्रन्दति) जब तू मेघोंके द्वारा औषधियोंके सन्मुख गर्जना करता है, तब औषधियां (प्रवीयन्ते) तेजस्वी होती हैं, (गर्भान् दधते) गर्भधारण करती हैं और (अथो बह्वीः विजायन्ते) बहुत प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

हे प्राण ! (ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु आते ही जब तू (ओषधीः अभिक्रन्दति) औषधियोंके सामने गर्जन करने लगता है; (तदा यत् किं च भूम्यां अधि तत् सर्वं प्रमोदते) तब जो कुछ इस पृथ्वीपर है, वह सब आनन्दित होता है ॥ ४ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम् । पशवस्तत्प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् । आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥
नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥ ८ ॥
या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी । अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् । प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १० ॥
प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते । प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥
प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते । प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

अर्थ— (यदा प्राणः) जब प्राण (वर्षेण महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्) वृष्टि द्वारा इस बडी भूमिपर वर्षा करता है, (तत् पशवः प्रमोदन्ते) तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निश्चयसे अब (नः वै महः भविष्यति) हम सबकी वृद्धि होगी ॥ ५ ॥

(अभिवृष्टाः ओषधयः) वृष्टि होनेके पश्चात् औषधियां (प्राणेन समवादिरन्) प्राणके साथ बात करती हैं कि हे प्राण ! (नः आयुः वै प्रातीतरः) तूने हमारी आयु बढायी है और हम सबको (सुरभीः) सुगंधियुक्त (अकः) किया है ॥ ६ ॥

(आयते ते नमः अस्तु) आनेवाले तुझ प्राणके लिये नमस्कार हो और (परायते नमः अस्तु) जानेवाले प्राणके लिये भी नमस्कार हो । हे प्राण ! (तिष्ठते) स्थिर रहनेवाले और (आसीनाय ते नमः) बैठनेवाले तुझ प्राणके लिये नमस्कार हो ॥ ७ ॥

हे प्राण ! (प्राणते) जीवनका कार्य करनवाले तुझे नमस्कार हो (अपानते) अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार हो । (पराचीनाय) आगे बढनवाले और (प्रतीचीनाय) पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार हो (सर्वस्मै त इदं नमः) सब कार्य करनेवाले तेरे लिए मेरा नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे प्राण (या ते प्रिया तनूः) जो मेरा (प्राणमय) प्रिय शरीर है, (या ते प्रेयसी) और जो तेरे (प्राणापानरूप) प्रिय भाग हैं, तथा (अथो यत् तव भेषजं) जो तेरा औषध है वह (जीवसे नः धेहि) दीर्घजीवनके लिये हमें दे ॥ ९ ॥

(पिता प्रियं पुत्रं इव) जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उसी प्रकार (प्राणः प्रजाः अनुवस्ते) सब प्रजाओंके साथ यह प्राण रहता है । (यत् प्राणति) जो प्राण धारण करते हैं और (यत् च न) जो नहीं धारण करते, (प्राणः सर्वस्य ईश्वरः) उन सबका प्राण ही ईश्वर है ॥ १० ॥

(प्राणः मृत्युः) प्राण ही मृत्यु है और (प्राणः तक्मा) प्राण ही जीवनकी शक्ति है । इसलिये (प्राणं देवाः उपासते) सब देव प्राणकी उपासना करते हैं । (प्राणः ह सत्यवादिनं) क्योंकि प्राण ही सत्यवादीको (उत्तमे लोके आदधत्) उत्तम लोकमें पहुंचाता है ॥ ११ ॥

प्राण (वि-राज्) विशेष तेजस्वी है और प्राण ही (देष्ट्री) सबका प्रेरक है, इसलिये (प्राणं सर्वे उपासते) प्राणकी ही सब उपासना करते हैं । सूर्य, चंद्रमा और प्रजापति भी (प्राणं आहुः) प्राण ही हैं ॥ १२ ॥

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान्प्राण उच्यते । यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥
अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा । यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥
प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते । प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत । ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ १६ ॥
यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम् । ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः । सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः । एवा तस्मै बलिं हरान्यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः ॥ १९ ॥
अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः ।
स भूतो भव्यं भविष्यत्पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥ २० ॥

अर्थ— (प्राणा पानौ व्रीहियवौ) प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं। (अनड्वान्) बैल ही (प्राणः उच्यते) मुख्य प्राण है। (यवे ह प्राणः आहितः) जौ में प्राण भरा हुआ है और (व्रीहिः अपानः उच्यते) चावलको अपान कहते है ॥ १३ ॥

(पुरुषः गर्भे अन्तरा) जीव गर्भके अंदर (प्राणति अपानति) प्राण और अपानके व्यापार करता है । हे प्राण ! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है, तब वह (अथ सः पुनः जायते) जीव पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(प्राणं मातरिश्वानं आहुः) प्राणको मातरिश्वा कहते हैं और (वातः ह प्राणः उच्यते) वायुका नाम ही प्राण है । (भूतं भव्यं च ह प्राणे) भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो कुछ है (सर्व प्राणे प्रतिष्ठितं) वह सब प्राणमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

हे प्राण ! (यदा) जबतक तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है तबतक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यकृत (ओषधयः) औषधियां (प्र जायंते) लाभदायक होती हैं ॥ १६ ॥

(यदा प्राणः महीं पृथिवीं अभ्यवर्षीत्) जब प्राण इस बडी पृथ्वीपर वृष्टि करता है तब (याः काः च ओषधयः प्रजायन्ते) जो कुछ औषधियां और वनस्पतियां होती हैं, वह सब बढ जाती हैं ॥ १७ ॥

हे प्राण ! (यः ते इदं वेद) जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और (यस्मिन् प्रतिष्ठितः असि) जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, (तस्मै सर्वे बलिं हरान्) उस मनुष्यका इस उत्तम लोकमें सब ही सत्कार करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! (यथा) जिस प्रकार ये (तुभ्यं सर्वाः इमाः प्रजाः बलिहृतः) सब प्रजाजन तेरा सत्कार करते हैं उसी प्रकार (यः) जो (सुश्रवाः) उत्तम यशस्वी है और (त्वा) तेरा सामर्थ्य (शृणवत्) सुनता है (तस्मै बलिं हरान्) उसके लिये भी बलि देते हैं ॥ १९ ॥

(देवतासु आभूतः) इंद्रियादिकोंमें व्यापक प्राण ही (अंतःगर्भः चरति) गर्भके अंदर चलता है। जो (भूतः) पहिले हुआ था (सः उ) वह ही (पुनः जायते) फिर उत्पन्न होता है। जो (भूतः) पहिले हुआ था (स) वह ही (भव्यं भविष्यत्) अब होता है आगे भी होगा। पिता (शचीभिः) अपनी सब शक्तियोंके साथ (पुत्रं प्रविवेश) पुत्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

*

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदा चन ॥ २१ ॥
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥
यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः । अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥
यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः । अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥
ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते । न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥
प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि । अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥

अर्थ— (सलिलात् हंसः उच्चरन्) जलसे हंस ऊपर उठता हुआ (एकं पादं न उत्खिदति) एक पांवको नहीं उठाता। (अंग) हे प्रिय (यत् स तं उत्खिदेत्) यदि वह उस पांवको भी उठा ले (न एव अद्य स्यात्, न श्वः न रात्रिः न अहः स्यात्, न व्युच्छेत् कदाचन) तो आज, कल, रात्री, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी न हो ॥ २१ ॥

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त (सहस्राक्षरं) सहस्र अक्षरोंसे युक्त (एकनेमि वर्तते) एक धुरावाला यह प्राण-चक्र (प्र पुरः नि पश्चा) आगे और पीछे चलता है। इसके (अर्धेन विश्वं भुवनं जजान) आधे भागसे सब भुवन उत्पन्न होता है। (यत् अस्य अर्धं) पर जो इसका आधा भाग शेष है (कतमः सः केतु) वह किसका चिन्ह है ? ॥ २२ ॥

हे प्राण ! (अस्य विश्व-जन्मनः) सबको जन्म देनेवाले और (चेष्टतः विश्वस्य) हलचल करनेवाले इस विश्वका (यः ईशे) जो ईश है, ऐसे सब (अन्येषु) अन्योंमें (क्षिप्र-धन्वने नमः) शीघ्र गतिवाले तेरे लिये नमन हो ॥ २३ ॥

(यः अस्य सर्वजन्मनः) जन्म धारण करनेवाले और (चेष्टतः सर्वस्य) हलचल करनेवाले सब जगत्का जो (ईशे) स्वामी है, वह धैर्यमय प्राण (अतन्द्रः) आलस्यरहित होकर (ब्रह्मणा धीरः) आत्मशक्तिसे युक्त होता हुआ सदा (मा) मेरे पास (अनुतिष्ठतु) सदा रहे ॥ २४ ॥

(सुप्तेषु) सबके सो जानेपर भी यह प्राण (ऊर्ध्वः) खडा रहकर (जागार) जागता है और (ननु तिर्यङ् निपद्यते) निस्सन्देह तिरछा गिरता है। (सुप्तेषु अस्य सुप्तं) सबके सो जानेपर इसका सोना (कश्चन न अनुशुश्राव) किसीने भी नहीं सुना है ॥ २५ ॥

हे प्राण ! (मत् मा पर्यावृतः) मुझसे पृथक् न हो। (न मत् अन्यः भविष्यसि) मुझसे दूर न हो। (जीवसे अपां गर्भं इव) पानीके गर्भके समान, हे प्राण ! (जीवसे मयि त्वा बध्नामि) जीवनके लिये अपने अंदर तुझे बांधता हूं ॥ २६ ॥

प्राणका संरक्षण

प्राणका महत्त्व

प्राणकी विद्याको 'प्राण–विद्या' कहते हैं। मनुष्योंके लिये सब अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अभौतिक अनेक प्रकारकी शक्तियां हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंके सो जानेपर भी इस शरीरमें प्राणशक्ति कार्य करती रहती है। परंतु प्राणके अस्त हो जानेपर कोई भी अन्य शक्ति कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती। इससे प्राणका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें ' प्राण ' शब्दसे परमेश्वरकी

विश्वव्यापक जीवन-शक्तिका (Life energy) वर्णन किया है। इस परमात्माकी जीवनशक्तिके आधीन यह सब संसार है, इसीके आधारसे यह चल रहा और इसीसे सब संसारका नियमन भी हो रहा है। समष्टि दृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है। व्यष्टि दृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें भी प्राणका ही आधिपत्य है। प्राणिमात्रके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियादिक शक्तियां हैं, तथा विभिन्न अवयव और इंद्रियें हैं, सब ही प्राणके वशमें हैं, क्योंकि उसीके आधारसे सब शरीर प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है। प्राणके विना इस शरीरकी स्थिति ही नहीं हो सकती। अर्थात् प्राणके वशमें होनेसे सब शरीर सुदृढ और नीरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल होजाता है। इसलिये प्राणको स्वाधीन करनेकी आवश्यकता है।

अपने शरीरमें श्वास उच्छ्वास रूप प्राण चल रहा है और जन्मसे मरणपर्यंत यह कार्य करता रहता है। सब इंद्रियों और अवयवोंके मर जानेके पश्चात् भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता रहता है, इसलिये सबमें प्राण ही मुख्य है और वह सबका आधार है। अपने प्राणको केवल साधारण श्वासरूप ही समझना नहीं चाहिये, अपितु उसको श्रेष्ठ दिव्य-शक्तिका अंश समझना चाहिए है। मनकी इच्छाशक्तिसे प्रेरित प्राण ही शरीरका आरोग्य संपादन करनेमें समर्थ होता है, इस दृष्टिसे प्राणका महत्त्व सब शरीरमें अधिक है। इसके महत्वको समझना और सदा मनमें धारण करना चाहिये। ' प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है, प्राणके कारण वह स्थिर है और उसकी सब हलचल प्राणकी प्रेरणासे ही होती है इस प्रकारके प्राणकी मैं उपासना करूंगा और उसको अपने आधीन करूंगा। प्राणायामसे उसको प्रसन्न करूंगा और वशीभूत प्राणसे अपनी इच्छानुरूप अपने शरीरमें कार्य करूंगा। ' यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए।

यह प्राण जैसे शरीरमें है वैसे ही बाहर भी है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखने योग्य है।

इस द्वितीय मंत्रमें बादलोंके अनेक प्रकार बताए हैं जो इस तरह हैं– केवल गरजनेवाले मेघोंका नाम ' क्रंद ' है, बडी गर्जनाके साथ बिजली गिरानेवाले मेघोंका नाम ' स्तनयित्नु ' है, जिनसे बिजली बहुत चमकती है उनको ' विद्युत् ' कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है ' वर्षत् '। ये सब मेघ अंतरिक्षमें प्राणवायुको धारण करते है और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमंडल पर आता है। और वृक्षवनस्पतियोंमें संचरित होता है।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि अंतरिक्ष स्थानका प्राण वृष्टि द्वारा औषधि वनस्पतियोंमें आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है। प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखने योग्य है।

वृष्टि द्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पतियां ही प्रफुल्लित होतीं हैं, अपितु अन्य जीव जंतु और प्राणी भी बडे हर्षित होते हैं। मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं। यह तृतीय मंत्रका कथन है।

अंतरिक्षस्थ प्राणका कार्य इसी प्रकार चतुर्थ और पंचम मंत्रमें भी बताया है। पहिले मंत्रमें प्राणके सामान्य स्वरूपका वर्णन किया है, उसकी अंतरिक्षस्थानीय एक विभूति यहां बता दी है। अब इसीकी वैयक्तिक विभूति सप्तम और अष्टम मंत्रोंमें बतायी जाती है।

श्वासके साथ प्राण अन्दर जाता है और उच्छ्वासके साथ बाहर आता है। प्राणायामके पूरक और रेचकका बोध ' आयत्, परायत् ' इन दो शब्दोंसे होता है। स्थिर (तिष्ठत्) रहनेवाले प्राणसे कुंभकका बोध होता है। और बाह्य कुंभकका ज्ञान ' आसीन ' पदसे होता है। ' (१) पूरक, (२) अन्तः कुंभक, (३) रेचक और (४) बाह्य कुंभक ये प्राणायामके चार भाग हैं। इन चारोंसे युक्त प्राणायाम ही परिपूर्ण प्राणायाम होता है। इनका वर्णन इस मंत्रमें ' (१) आयत्, (२) तिष्ठत्, (३) परायत्, (४) आसीन ' इन चार शब्दोंसे हुआ है। जो अंदर आनेवाला प्राण होता है, ' उसको आयत् प्राण ' कहा जाता है, यही पूरक प्राणायाम है। आने जानेकी गतिका निरोध करके जो प्राण अंदर स्थिर किया जाता है, उसको ' तिष्ठत् प्राण ' कहते हैं, यही कुंभक अथवा अंतःकुंभक प्राणायाम होता है जो अंदरसे बाहर जाता है, उसको ' परायत् प्राण ' कहते हैं, यही रेचक प्राणायाम है। सब प्राण रेचक द्वारा बाहर निकाल कर उसको बाहर ही रोके रखना ' आसीन प्राण ' द्वारा होता है, यही बाह्यकुंभक है। प्राणायामके ये चार भाग हैं। इन चारोंके अभ्याससे प्राण वशमें होता है। यही इस प्राणदेवताको प्रसन्न करनेका उपाय है। यही प्राणोपासनाकी विधि है।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिका द्वारा हृदयमें पहुंचता है। अपान उसका नाम है कि जो नाभिके निम्न देशसे

गुदाके द्वारतक कार्य करता है। इन्हींके दो अन्य नाम ' प्राचीन ' और ' प्रतीचीन ' प्राण हैं। प्राणको स्वाधीन रखनेका तात्पर्य प्राण और अपानको स्वाधीन करना है। अपानकी स्वाधीनतासे मलमूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं है और प्राणकी स्वाधीनतासे रुधिरकी शुद्धि होती है। इस प्रकार दोनोंके वशीभूत होनेसे शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है। इस प्रकार प्राणके वशमें होनेसे प्राणके अधीनस्थ शरीरका अनुभव होसकता है। इसी उद्देश्यसे मंत्र कहता है कि ' सर्वस्मै तं इदं नमः ' अर्थात् ' तू सब कुछ है, इसलिये तेरा सत्कार करता हूं। ' शरीरका कोई भाग प्राणशक्तिके बिना कार्य नहीं कर सकता, इसलिये सब अवयवोंमें सब प्रकारका कार्य करनेवाले प्राणका सदा ही सत्कार करना चाहिये। हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने प्राणकी इस शक्तिका ध्यान करे, विश्वासपूर्वक इस शक्तिका स्मरण रखे, क्योंकि आरोग्यकी सिद्धि इसीपर निर्भर है। इस प्राणशक्तिका इतना महत्व है कि इसकी विद्यमानतामें ही अन्य औषध कार्य कर सकते हैं। अन्यथा इस शक्तिके कमजोर होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता। प्राण ही सब औषधियोंकी औषधि है, इस विषयमें नवम मंत्र देखने योग्य है।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ये पांच कोश हैं। इनको पांच शरीर भी कह सकते हैं। इन पांच शरीरोंसे ' प्राणमय शरीर ' का वर्णन इस मंत्रमें किया है। ' प्रिया तनू ' यह प्राणमय कोश ही है। सब ही इसपर प्रेम करते हैं, सब चाहते हैं कि यह शरीर सदा प्राणमय रहे। प्राण और अपान ये इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं। प्राणसे शक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विष दूर होकर स्वास्थ्यका संरक्षण होता है। प्राणके अंदर एक प्रकारका ' भेषजं ' अर्थात् औषध है, दोषोंको दूर करनेकी शक्तिका नाम (दोष-ध) औषध अथवा भेषज होता है। शरीरके सब दोष दूर करने और वहां शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करनेका यह पवित्र कार्य करना, प्राणका ही धर्म है। प्राणका दूसरा नाम ' रुद्र ' है और रुद्र शब्द-का अर्थ वैद्य भी होता है।

इस प्राणमें औषध है, वेदके इस कथन पर अवश्य विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि यह विश्वास अवास्तविक नहीं है, अपितु अपनी शक्तिपर विश्वास रखनेके समान ही यह वास्तविक विश्वास है। मानस-चिकित्साका यह मूल है। अपनी प्राणशक्तिसे अपनी ही चिकित्सा की जा सकती है। ' मैं अपनी प्राणशक्तिसे अपने रोगोंका निवारण अवश्य करूंगा ', यह भावना मनमें धारण करनेसे बडा लाभ होता है।

दशम मंत्रमें कहा है कि जिस प्रकार पुत्रके संरक्षण करनेकी इच्छा पिता करता है, उसी प्रकार प्राण सबका रक्षण करना चाहता है। सब प्रजाओंके शरीरोंमें, नसनाडियोंमें जाकर, वहां रहकर सब प्रजाका संरक्षण यह प्राण करता है। न केवल प्राण धारण करनेवाले प्राणियोंका अपितु जो प्राण धारण नहीं करते हैं, ऐसे स्थावर पदार्थोंका भी रक्षण प्राण ही करता है। अर्थात् कोई यह न समझे कि श्वासोच्छ्वास करनेवाले प्राणियोंमें ही प्राण है, अपितु वृक्षवनस्पति, पत्थर आदि पदार्थोंमें भी प्राण है और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है। प्राणको पिताके समान पूज्य और सब पदार्थोंमें व्यापक समझना चाहिए।

शरीरसे प्राणके चले जानेपर मृत्यु होती है। और तबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतक ही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है, ग्यारहवें मंत्रका कथन है। इस प्रकार एक ही प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है। ' देव ' शब्दसे इस मंत्रमें इंद्रियोंका ग्रहण होता है। सब इंद्रियां प्राणकी ही उपासना करती हैं अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं। जो इंद्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है वह ही कार्यक्षम होता है, परंतु जो इंद्रिय प्राणसे वियुक्त होता है, वह मर जाता है। यही प्राण उपासना और यही रुद्र उपासना है। सब देवोंमें कार्य करनेवाली महादेवकी शक्तिका यहां अनुभव हो सकता है। प्राण ही महादेव, रुद्र, शंभु आदि नामोंसे बोधित होता है। व्यक्तिके शरीरमें प्राण ही उसकी बिभूति है। सब जगत्में उसका स्वरूप विश्वव्यापक प्राणशक्ति ही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयसे अग्नि, वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवतागण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टिमें और समष्टिमें एक ही नियम कार्य कर रहा है व्यष्टिमें प्राणके साथ इंद्रियां रहतीं हैं और समष्टिमें व्यापक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकार-के देव प्राणकी उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं, वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायाम द्वारा प्राणोपासना करते हैं। प्राण ही इनको उत्तम लोकमें पहुंचाता है। अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणोपासनासे सभी श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि 'सत्यवादिताका प्राण-उपासनाके साथ क्या संबंध है?' उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिके विकास होनेसे बडा लाभ होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है।

प्राण विशेष तेजस्वी होता है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तभीतक शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होजाता है। सब शरीरमें प्राणसे ही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासे ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे ही होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणकी ही उपासना करते हैं अथवा यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं तबतक ही उनकी स्थिति होती है। जब वे प्राणका साहचर्य छोड देते हैं तब उनकी मृत्यु ही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकी ही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक श्रद्धाके साथ प्राणोपासना की जायगी तो निःसंदेह बडा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसे ही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना हो तो प्रयत्नसे उसकी उपासना करनी ही चाहिये। प्राणायामका यही फल है। इस जगत्में सूर्य-चन्द्र ये प्राण ही हैं, सूर्यकिरणोंके द्वारा वायुमें प्राण भरा जाता है और चंद्र अपनी किरणोंसे औषधियोंमें प्राण भरता है। मेघ, विद्युत् आदि अपने-अपने कार्य द्वारा जगत्को प्राण दे ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, वही सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवनकी सब प्राण-शक्तिका वह एकमात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राण ही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है उसका वर्णन तेरहवें मंत्रमें इस प्रकार किया है—

मुख्य प्राण एक ही है, उसके बलसे शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतीमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिसे ही चावल और जौ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें 'अनड्वान्' यह बैलवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समझो कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैल ही खेती करता है और यहांका किसान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, प्राण बैल है और जीवनव्यवहाररूपी खेती यहां चल रही है। वेदमें अनड्वान् शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कईयोंने बडा अर्थका अनर्थ किया है।

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम ॥

(अथर्व. ४।११।१)

'प्राणने पृथिवी और द्युलोकको धारण किया हुआ है' यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बैलने पृथिवी और द्युलोकको धारण किया हुआ है, ऐसा भाव कइयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनड्वान् सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वहां अनड्वान्का अर्थ केवल बैल ही नहीं है, प्रत्युत प्राण भी है। इसी कारण इस सूक्तमें प्राणको अनडवान् कहा है। यव प्राण और चावल अपान है, यह कथन आलंकारिक है। धान्यमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणकी संपूर्ण शक्तियां व्याप्त हैं; धान्यका योग्य सेवन करनेसे हमारे शरीरमें प्राणादिक आते हैं और हमारे शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं।

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहीं गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है। और इसीलिये वहां उसका जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणके ही आधीन है। इस चतुर्दश मंत्रमें '**सः पुनः जायते**' यह वाक्य पुनर्जन्मकी कल्पनाका मूल वेदमें बता रहा है, जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, वह सब प्राणकी प्रेरणासे ही होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें "**मातरि-श्वा**" शब्दका अर्थ 'माताके अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला' है, माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका नाम '**मातरिश्वा**' है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं।

'**मातरिश्वा**' का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं, प्राणका विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमानका सब जगत् रहता है। प्राणके आधारसे ही सब रहता है। प्राणके बिना जगत्में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्वजन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब

प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं, उसके कारण यथायोग्य रीतिसे पुनर्जन्मादि होते हैं।

औषधियोंका उपयोग तबतक ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में "प्राण ही औषधि है कि जो जीवनका हेतु है," ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस १६ वें मंत्रके साथ करना उचित है।

इस मंत्रमें आए हुए '(१) आथर्वणीः, (२) आंगिरसीः, (३) दैवीः और (४) मनुष्यजाः' ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं। जो निम्न प्रकार हैं—

(१) **मनुष्यजाः ओषधयः**= मनुष्योंकी बनाई औषधियाँ, अर्थात् कषाय, चूर्ण, अवलेह, भस्म, कल्प, आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंके बनाये होते हैं उनका समावेश इसमें होता है। ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं। इससे श्रेष्ठ दैवी विधि है।

(२) **दैवीः औषधयः**— आप, तेज, वायु आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह दैवी–चिकित्सा है। जलचिकित्सा, सौरचिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब दैवी चिकित्साके प्रकार हैं। सूर्य, चंद्र, वायु आदि देवताओंके साक्षात् संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आश्चर्यकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसकी योग्यता बडी है। इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है। देवयज्ञ द्वारा देवताओंको प्रसन्न करके, उन देवताओंके जो जो अंश हमारे शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है। यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है।

(३) **आंगिरसीः औषधयः**= अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है, जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है। उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि–रसचिकित्सा कहलाती है। मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है। मानसिक चित्तैकाग्र्यका इसमें विशेष संबंध है। रुग्ण अवयवको संबोधित करके नीरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगीको निज अंगरस–शक्तिको प्रेरित करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है। आरोग्यके लिये बाह्य साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरस–चिकित्सा अर्थात् अपने अंगोंके रस द्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं।

(४) **आथर्वणीः ओषधयः**= 'अ–थर्वा' नाम है योगीका। मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध करनेवाला चित्तवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला योगी अथर्वा कहलाता है। इस शब्दका अर्थ (अ–थर्वा) निश्चल, स्तब्ध, स्थिर, गतिहीन ऐसा है। स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थिरमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं। योगी लोग मंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आथर्वणी–चिकित्सा है। हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्मविश्वाससे मंत्रसिद्धि होती है। यह आथर्वणी–चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह आत्माकी शक्तिसे होता है इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है। जब प्राण चला जाता है तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है।

प्राणकी वृष्टि

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन श्रद्धासे सुनता है, प्राणके बल पर विश्वास करता है, वही प्राणका बल प्राप्त करनेमें यशस्वी होता है और जिस मनुष्योंमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है, उसका ही सब सत्कार करते हैं उसकी स्थिति उत्तम लोकमें होती है और उसीका यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायाम द्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढता है। इस उन्नीसवें मंत्रमें 'बलि' शब्दका अर्थ सत्कार, पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि है। सब अन्य देवों द्वारा प्राणकी ही पूजाका अनुभव अपने शरीरमें भी किया जा सकता है। नेत्र, कर्ण, नासिक आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपासनासे ही प्राणकी शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका सत्कार अन्य सज्जन करके उसके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान् बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणयाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

बीसवें मंत्रमें कहा है कि सूर्य, चंद्र, वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। वे ही आंख, नाक आदि अवयव किंवा इंद्रियोंके स्थानमें रहते हैं। इन

देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है। यही व्यापक प्राण पूर्व देहको छोडकर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् एकबार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है। आत्माकी शक्तियों-का नाम शची है। इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची है। धर्मपत्नीका भाव यहाँ निजशक्ति ही है। इंद्र नाम जीवा-त्माका है और उसकी शक्तियां शची नामसे प्रसिद्ध हैं। पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है। पिताके अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंके समान ही पुत्रके कई अंग, अवयव और इंद्रिय होते हैं। स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशोंमें मिलते हैं। इस बातको देखनेसे पता लग सकता है कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है। गृहस्थी लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है। मातापिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए। अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है।

इक्कीसवें मंत्रमें प्राणको 'हंस' कहा है। श्वासके अंदर जानेके समय 'स' की ध्वनि होती है और उच्छ्वासके बाहर आनेके समय 'ह' की ध्वनि होती है। 'ह' और 'स' मिलकर प्राणवाचक 'हंस' शब्द बनता है। उसीके अन्य रूप 'अ-हंसः; सोऽहं' आदि उपासनाके लिये बनाये गये हैं। इसमें 'हंस' शब्द ही मुख्य है। उलटा शब्द बनानेसे इसीका 'सोऽहं' बन जाता है, अथवा 'हंस' के साथ 'ओं' मिलानेसे 'सोऽहं' बन जाता है।

स–ह	ह–स
ओं–म्	म्–अओ (अः)
सोऽहं	हं सः

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं। सांप्रदा-यिक झगडोंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखेंगे तो उनको बडा आश्चर्य प्रतीत होगा। 'ओं' शब्द आत्माका वाचक है और 'हंस' शब्द प्राणका वाचक है। आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है। आत्मा ब्रह्मा-का वाचक है और ब्रह्माका वाहन हंस है इस पौराणिक रूप-कमें आत्माका प्राणके साथके अखंड संबंधका ही वर्णन किया है। यह हंस मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। यहां प्राण भी हृदयरूपी मानससरोवरमें क्रीडा कर रहा है। हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस, इसकी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यहां स्पष्ट होती है–

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस–वाहन	प्राण–वाहन
कमल–आसन	हृदय कमल
मानस सरोवर	अतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्तादेव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आया है उसका मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें 'असौ अहं' (यजु ४०।१७) कहा है 'असु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहनेवाली मैं आत्मा हूं।' यह भाव उक्त मंत्रका है। वही भाव उक्त स्थानमें है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान है। यह प्राणही 'हंस' है। वह (सलिलं) हृदयके मानस सरो-वरमें क्रीडा करता है। श्वास लेनेके समय यह प्राण उस सरो-वरमें गोता लगता है और उच्छ्वास लेनेके समय ऊपर उडता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहर निकल आता है, तब प्राणी मरता क्यों नहीं? पूर्ण उच्छ्वास लेकर श्वासको पूर्ण रूपसे बाहर निकाल देनेपर भी मनुष्य मरता नहीं। इसका कारण इस मंत्रमें बताया है। जिस प्रकार हंस पक्षी एक पांव पानीमें ही रखकर दूसरा पांव ऊपर उठाता है, उसी प्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पांव हृदयके रक्ताशयमें ही दृढतासे रखे रखता है और दूसरे पांवको ही बाहर उठाता है।

तात्पर्य यह कि प्राण अपनी एक शक्तिको शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि यह अपने दूसरे पांवको भी बाहर निकाल ले तो आज, कल, दिन, रात, प्रकाश आदि कुछ भी नहीं हो अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पश्चात् ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। 'हंस' शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके 'स' कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ 'हं' कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकाग्रता शीघ्र ही साध्य होती है। यही 'सो' अक्षरका श्रवण श्वासके साथ और 'हं' का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे 'हंस' का ही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदा-

यिक लोगोंने इनपर विलक्षण और विभिन्न कल्पनाएं रची हैं, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर झगडोंसे दूर रहना ही हमको उचित है। इसीका और भी वर्णन आगे करते हैं—

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य करता है यह बात २२ वें मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, क्रमशः गुदासे लेकर सिरके उपरले भागतक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पीठके मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है। जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको प्राणके इन चक्रोंमें पहुंचनेका अनुभव होता है और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्रार चक्रका स्थान है। यही मस्तिष्कका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केन्द्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केन्द्रके साथ आठ चक्रोंमें सहस्र आरोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राण-चक्र है। श्वास उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति होती है। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बडा सुगम है, परंतु आत्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बडा कठिन है। आधे भागसे सब भुवन-को बनाता है, जो इसका दूसरा अर्ध है वह किसका चिन्ह है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है ? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

प्राण सबका ही ईश है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबमें गतिमान और सबमें मुख्य यह प्राण है। ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशे-षण 'अतंद्र' अर्थात् आलस्य रहित है। यही भाव पची-सवें मंत्रमें कहा है।

सब इंद्रियां आराम लेती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और नीचे गिर जाती हैं, परंतु प्राण ही रातदिन खडा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खडा रहकर पहरा देता है। कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यसे कभी पीछे नहीं हटता। सब इंद्रियां सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विश्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। किसी आलंबनपर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थक जाती हैं और विश्राम चाहती हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपा-सना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। बिना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अत्यंत महत्त्व है। अब इस सूक्तका अन्तिम मंत्र कहता है कि—

'हे प्राण ! मेरेसे दूर न जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ जीवन व्यतीत करूं, मैं दीर्घ आयुष्य-से युक्त होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवन व्यतीत करूं। इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ !' यह भावना उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए। अन्नमय मन है और आपो-मय प्राण है। इसलिये प्राणको पानीका गर्भ कहा है। उपा-सकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राणायामादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांध दिया है। इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा शरीरमें प्राण स्थिर करनेके दृढ भाव मनमें रखने चाहिए और कभी भी अकाल मृत्युका विचार मनमें नहीं लाना चाहिए। आत्मापर विश्वास रखनेसे उक्त भावना दृढ होती है।

इस प्राण सूक्तमें निम्न भाव हैं—

प्राणसूक्तका सारांश

(१) प्राणके आधीन ही सब कुछ है, प्राण ही सबका मुखिया है।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और द्युलोकमें है।

(३) द्युलोकका प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अंतरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है और पृथ्वीपरका प्राण यहां सदा ही वायुरूपसे रहता है।

(४) अंतरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है। इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनंद होता है।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण अपान आदि रूपमें परिणत होता है। शरीरके प्रत्येक अंग, अवयव और इंद्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है।

(६) प्राण ही सब औषधियोंकी औषधि है। प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं। प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई भी औषध कार्य नहीं कर सकता और प्राणकी अनुकूलता होनेपर विना औषधके भी आरोग्य रह सकता है।

(७) प्राण ही दीर्घआयु देनेवाला है।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है। सर्वत्र व्यापक भी है।

(९) मृत्यु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण ही होते हैं। सब इंद्रिय प्राणके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त कर सकते हैं। सत्यनिष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवता हैं। सबको प्रेरणा देनेवाला प्राण ही है।

(११) धान्यमें प्राण रहता है। वह भोजनके द्वारा शरीरमें जाकर शरीरका बल बढाता है।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है। प्राणकी प्रेरणा-से ही गर्भ बाहर आता है और बढता है।

(१३) प्राणके द्वारा ही पिताके सब गुण कर्म स्वभाव और शक्तियां पुत्रमें आती हैं।

(१४) प्राण ही हंस है और यह हृदयके मानस सरो-वरमें क्रीडा करता है। जब यह चल जाता है, तब कुछ भी नहीं रहता, सब नष्ट हो जाता है।

(१५) शरीरके आठ चक्रोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके केन्द्रमें विभिन्न रूपसे प्राण रहता है। यह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है।

(१६) प्राणमें आलस्य और थकावट नहीं होती है। भीति और संकोच नहीं होता। क्योंकि इसका ब्रह्म अथवा आत्माके साथ संबंध है।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ सदा जागृत रहता है। अन्य इंद्रिय थकते, रुकते और सोते हैं; परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता। इसके विश्राम लेनेपर मृत्यु ही समझनी चाहिए।

(१८) इसलिये सबको चाहिए कि प्राण वशमें करें और उसकी शक्तिसे बलवान् हों।

*

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्यत्र प्राण विषयक जो जो उपदेश है उसका विचार करते हैं।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र हैं, उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात होसकता है—

प्राणाद्वायुरजायत। (ऋ- १०।९०।१३, अथ. १९।६।७)

'परमेश्वरीय प्राण शक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है।' यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है। वायुके बिना क्षण-मात्र भी जीवन रहना कठिन है। सभी प्राणी इस वायुको चाहते हैं। परंतु कोई यह न समझे कि यह वायु ही वास्त-विक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है। यह वायु हमारे फेंफडोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वर की प्राणशक्ति हमारे अंदर जाती है और उससे हमारा जीवन धारण होता है। यह भाव प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये। प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

आयुर्न प्राणः ॥ (ऋ. १।६६।१)

'प्राण ही आयु है।' जबतक प्राण रहता है, तभीतक जीवन रहता है। इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको चाहिए कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनावें। प्राणका स्थान फेंफडोंमें होता है। फेंफडोंको बलवान् बनानेसे प्राणमें बल आता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

असु–नीति

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान 'असुनीति' शब्द है। राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे व्यक्त है, इसी प्रकार 'असु' अर्थात् प्राणका व्यवहार कर-नेकी रीति 'असुनीति' शब्दसे व्यक्त होती है Guide to life, way to life अर्थात् 'जीवनका मार्ग' इस भावको 'असु–नीति' शब्द व्यक्त कर रहा है, यह प्रो० मेक्समूलर, प्रो. रॅाथ आदिका कथन सत्य है। देखिये—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः
पुन प्राणमिह नो धेहि भोगं।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरंत-
मनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ (ऋ. १०।५९।६)

'हे असुनीते! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु, प्राण और भोग स्थापित करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख

सकें। हे अनुमते ! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यसे युक्त करो।'

'असुकी नीति' अर्थात् 'प्राण धारण करनेकी रीति' जब ज्ञात होती है, तब चक्षुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है, प्राणके निकलनेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणको स्थिर किया जा सकता है, भोग भोगनेकी असमर्थता होनेपर भी भोग भोगनेका सामर्थ्य पैदा किया जा सकता है। मृत्युके पास आनेके कारण सूर्य-दर्शन अशक्य होनेपर भी दीर्घ आयुष्यकी प्राप्ति होनेके कारण पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना हो सकती है। प्राण-नीतिके अनुकूल मति रखनेसे निःसंदेह यह सब कुछ हो सकता है, तथा—

> असुनीते मनो अस्मासु धारय
> जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः।
> रारंधि नः सूर्यस्य संदृशि
> घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥ (ऋ. १०।५९।५)

'हे असुनीते ! हम मनःशक्ति प्राप्त करें और हमारी आयु दीर्घ हो। सूर्यका हम दर्शन करें। तू घीसे हमारे शरीर बढा।'

आयुष्य बढानेकी रीतिका इस मंत्रमें वर्णन है। पहली बात मनकी धारणा की है। मनमें यह धारणा दृढ और पक्की करनी चाहिये कि 'मैं योगसाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी।' मनकी दृढ शक्तिपर ही और मनके दृढ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है। सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध ही है। प्राणायाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढाना चाहते हैं उनको घी बहुत खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणायाम बहुत करनेपर घी न खानेसे शरीर कृश होता है। इसलिये प्राणायाम करनेवालोंको चाहिए कि वे अपने भोजनमें घीका अधिक सेवन करें।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

प्राणका संवर्धन करनेके विषयमें यजुर्वेदका उपदेश निम्न प्रकार है—

> प्राणस्त आप्यायताम् ॥ (यजु. ६।१५)

'तेरा प्राण संवर्धित हो।' प्राणकी शक्ति बढानेकी बडी ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथ ही सब अवयवोंकी शक्ति संबंध रखती है, इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है—

> ऐंद्रः प्राणो अंगे अंगे निदिध्यदैंद्र उदानो अंगे
> अंगे निधीतः ॥ (यजु. ६।२०)

'(ऐंद्रः प्राणः) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर प्राण प्रत्येक अंगमें पहुंचा हुआ है, आत्माकी शक्तिसे प्रेरित होकर उदान प्रत्येक अंगमें कार्य कर रहा है।' इस प्रकार आंतरिक शक्तिका वर्णन वेदने किया है।

प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है और वहां आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है। इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून हो, वहां आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति भी बढाई जा सकती है। यही पूर्व सूक्तोक्त 'आंगि-रस-विद्या' है। अपने उस अंगमें प्राणकी न्यूनता हो इसको जानना और वहां अपनी आत्मिक इच्छाशक्ति द्वारा प्राणको पहुंचाना ही अपने आरोग्य बढानेका उपाय है। वेदमें जो 'आंगिरस विद्या' है वह यही है। प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

> प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि ॥
> (य. १४।८; १७)

'मेरे प्राण, अपान, व्यानका संरक्षण करो।' इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

> प्राणं ते शुंधामि ॥ (यजु. ६।१४)
> प्राणं मे तर्पयत। (यजु. ६।३१)

'प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति करो।' तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है। अतृप्त इंद्रिय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है और पतित होता है। इस प्रकार भोगोंमें फंसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और नित्यतृप्त वृत्तिसे व्यतीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं। शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि—

> प्राणं न वीर्यं नसि। (य. २१।४९)

'नाकमें प्राणशक्ति और वीर्य बढाओ।' प्राणशक्ति नासिकाके साथ संबंध रखती है और जब यह प्राणशक्ति

बलवान् होती है, तब वीर्य भी बढता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियां साथ साथ रहती हैं। शरीरमें वीर्य रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ वीर्य भी रहता है। एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियां हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान् हो जाता है, और उनको आसानीसे प्राणायामकी सिद्धि भी होती है। तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियमपूर्वक करते हैं उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसीका कारणवश प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्य न रहा हो, तो भी वह नियमपूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। जिसका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उसको शीघ्र और सहजसिद्धि होती है। परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्ध नहीं होता, उसको यह प्रयत्नसे सिद्ध होती है। प्राणशक्ति-संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है।

गायन और प्राणशक्ति

साम प्राणं प्रपद्ये। (य. ३६।१)

'प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूं।' सामवेद गायन और उपासनाका वेद है। ईश उपासना और ईशगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढता है। केवल गानक्रियासे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं। गायक लोग यदि दुर्व्यसनोंमें न फंसें तो वे अन्योंकी अपेक्षा अधिक दीर्घआयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है। उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है। मन गायनसे उपासनामें अत्यंत तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है। यह बात और है कि गायनका धंदा करनेवाले आजकलके स्त्रीपुरुषोंने अपने आचरण बहुत ही गिरा दिये हैं। परंतु यह दोष गायनका नहीं है, वह उन मनुष्योंका दोष है।

मयि प्राणापानौ। (य. ३६।१)

'मेरे अंदर प्राण और अपान बलवान् रहें।' यह इच्छा हरएक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है। जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा, तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं हो सकता। प्रस्तुत प्रकरण प्राणका है, इसका संबंध बाहरके शुद्ध वायुके साथ है, और अंदरका संबंध नासिका आदि स्थानके साथ है इसलिये कहा है—

वातं प्राणेन अपानेन नासिके। (य. २५।२)

'प्राणसे वायुकी प्रसन्नता और अपानसे नासिकाकी पूर्णता करनी चाहिए।' बाह्य शुद्धि और प्रसन्न वायुके साथ प्राण हमारे शरीरोंमें जाता है और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। बाह्य वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए। नाककी मलिनता और अपवित्रताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है। प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है—

प्राणकी प्रतिष्ठा

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय-
उदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय॥
(य. १३।१९; १४।१२ १५।६४)

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय
विश्वं ज्योतिर्यच्छ॥
(य. १३।२४; १४।१४; १५।२८)

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा॥
(य. २२।२३; २३।१८)

'प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणोंको तेजस्वी करो। सब प्राणोंके लिये त्याग करो।'

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि अपने आचरणसे अपने प्राणोंको बढा रहा है या घटा रहा है, अपने प्राणों की प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है, अपने प्राणोंके सभी व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई त्रुटि है; अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इसका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविषयक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूं या नहीं। प्राणविषयक कर्तव्यका स्वरूप 'स्वाहा' शब्द द्वारा व्यक्त हो रहा है। सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है, इसलिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार प्राणके संवर्धनके लिये होना चाहिये। अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जाये तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणसंवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति भी नहीं खर्च

होती, परंतु गौण इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है !! क्या यह आश्चर्य नहीं है ? वास्तवमें मुख्यके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए। यही वेदने कहा है कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार आवश्यक है। मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए। प्रतिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिए कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके।

राजा मे प्राणः ॥ (य. २०।५)

'प्राण मेरा राजा है' सब शरीरका विचार करने पर आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। अपना प्राण सचमुच राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथि आता है, उस समय आप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उनके नौकरोंकी तरफ ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योंके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथि है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा शुश्रूषा अधिक करनी चाहिए क्योंकि उसके ठीक रहने पर ही अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चला जाए तो एक भी अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेगा।

आजकल इंद्रियोंके भोग बढानेमें सब लोग लगे हुए हैं, प्राणकी शक्ति बढानेका कोई ख्याल नहीं करता। इसलिये प्राण अप्रसन्न होकर शीघ्र ही इस शरीरको छोड देता है। जब प्राण छोडने लगता है, तब अन्य इंद्रियशक्तियां भी उस के साथ इस शरीरको छोड देती हैं।। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुत ही थोडे लोग प्रारंभसे करते हैं। तात्पर्य यह कि इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयम ही करना चाहिए और जो बल हो उसको अर्पण करके प्राणकी शक्ति बढानेमें प्रयत्न करना चाहिये। अपने प्राणको बुरे कार्योंमें लगानेसे बडी ही हानि होती है। कितने ही दुर्व्यसन और कुकर्म ऐसे हैं कि जिनमें लोग अपने प्राण अर्पण करनेके लिये आनंदसे प्रवृत्त होते हैं !! वास्तवमें सत्कर्मके साथ ही अपने प्राणोंको जोडना चाहिये। वेद कहता है—

सत्कर्म और प्राण

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां ॥
(य. ९।२१, १८।२९; २२।३३)

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे असुश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ॥ (य. १८।२)

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ॥ (य. १८।२२)

'मेरी आयु यज्ञसे बढे, मेरा प्राण यज्ञसे समर्थ हो। मेरा प्राण, अपान, व्यान और साधारण प्राण यज्ञ द्वारा बलवान् बने। मेरा प्राण यज्ञके लिये समर्पित हो।'

यज्ञका अर्थ सत्कर्म है। जिस कर्मसे बडोंका सत्कार होता है सबमें विरोध हटकर एकताकी वृद्धि होती है और परस्पर उपकार होता है उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं परंतु सूत्ररूपसे सब यज्ञका तत्त्व उक्त प्रकारका ही है। इसलिये यज्ञके साथ प्राणका संबंध आनेसे प्राणमें बल बढने लगता है। स्वार्थ तथा खुदगर्जीके कर्मोंमें लगे रहनेसे प्राणशक्तिका संकोच होता है और जनताके हितके व्यापक कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। वेदमें अग्नि आदि देवताओंका जहां वर्णन आया है वहां उनका प्राणरक्षक गुण भी वर्णन किया है। क्योंकि जो देवता प्राणरक्षक हो उसकी ही उपासना करनी चाहिये।

प्राणदाता अग्नि

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ॥
(य. १७।१५)

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ॥
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥
(य. २०।३४)

'तू प्राण, अपान, व्यान, तेज और स्वातंत्र्य देनेवाला है। तू मेरे प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदिका संरक्षक है, मेरी वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करनेवाला है।'

प्राणका सत्कर्ममें प्रदान करना, प्राणका संरक्षण करना, इंद्रियोंका संयम करना, वाचाके दोष दूर करने और मनकी पवित्रता करना, यह कार्य सूक्ष्मरूपसे उक्त मंत्रमें कहा है। इतना करनेसे ही मनुष्यका बेडा पार हो सकता है। मन और वाणीकी शुद्धता न होनेसे जगत्में कितने अनर्थ हो रहे हैं, इसकी कोई गिनती नहीं हो सकती। मन, वाणी, इंद्रियां और प्राण इनकी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म होते हैं। इसलिये अपनी उन्नति चाहनेवालोंको इस कर्तव्यकी ओर अपना ख्याल सदा रखना चाहिये। अब प्राणकी विभूति बतानेवाला अगला मंत्र है, देखिये—

अयं पुरो भुवः। तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः ॥ (य. १३।५४)

'वह आगे भुवर्लोक है, उसमें रहनेसे प्राणको भौवायन कहते हैं। वसन्त प्राणायन है।'

भूर्लोक पृथ्वी है, और अंतरिक्ष लोक भुवर्लोक है। यह प्राणका स्थान है, इस अवकाशमें प्राण व्यापक है, वायुका और प्राणका एक ही स्थान है। अंतरिक्षमें ही दोनों रहते हैं। वसंत प्राणका ऋतु है। क्योंकि इस ऋतुमें सब जगत्में प्राणशक्तिका संचार होकर सब वृक्षोंको नवजीवन प्राप्त होता है। यह प्राणका अवतार हरएकको देखना चाहिये। प्राणके संचारसे जगत्में कितना परिवर्तन होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव यहां दिखाई देता है। इस ऋतुमें सब वृक्ष आदि नूतन पल्लवोंसे सुशोभित होते हैं, फलोंसे युक्त होनेके कारण पूर्णताको प्राप्त होते हैं। फल, फूल और पल्लव ही सब सृष्टि के नवजीवनकी साक्षी देते हैं। इसी प्रकार जिनका प्राण प्रसन्न होता है उनको भी स-फल-ता-प्राप्त होती है। जिस प्रकार सब सृष्टि प्राणकी प्रसन्नतासे पुष्पवती और फलवती होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणको वशमें करनेसे अपने अभीष्टमें सफलता प्राप्त कर सकता है।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास

सोनेके समय अपने इंद्रिय कैसे लीन होते हैं, और फिर जागृतिके समय कैसे व्यक्त होते हैं, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिए। इससे अपने आत्मा और प्राण-शक्तिके महत्त्वका पता लगता है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः
प्राणः पुनरात्मा म आगन्।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥ (य. ४।१५)

'मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः मुझे प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हित-कारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे।'

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसी ही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सर्वत्र एक ही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहती हैं, प्राण कैसे जागता है और अन्य इंद्रियां कैसी थककर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी आत्म-शक्तिका ज्ञान होता है और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्व-व्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये। इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। (य. ६।१८)
सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्। (य. ६।१०)

'अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। तेरा प्राण वायुके साथ संगत हो।' तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है, वह सार्वभौमिक प्राणका ही एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिये। सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र भरा हुआ है, उसमेंसे थोडासा ही प्राण इस शरीरके अंदर आकर इस शरीरको जीवन देता है, श्वास प्रश्वास द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर जाता है। तात्पर्य यह सार्व-भौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए। सबकी उन्नतिमें एककी उन्नति है, समष्टिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है। इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होनी चाहिये। इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

लडनेवाला प्राण

अविर्न मेषो नसि वीर्याय
प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥
(य. १९।९०)

'(मेषः न) मेंढेके समान लडनेवाला (अविः) संर-क्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा हुआ है। (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (बदरैः उपवाकैः) स्थिर स्तुति-योंके द्वारा (सरस्वती) सुषुम्ना नाडी (व्यानं) सर्व शरीर व्यापक व्यान प्राणको तथा (नस्यानि) नासिकाके साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है।'

स्पर्धा करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें

हैं। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लडकर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बडा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेंढेके समान लडता है। इसका नाम ' अविः ' है क्योंकि यह अवन अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है। अवनके अन्य अर्थ भी यहां देखने योग्य हैं– रक्षण, गति, कांति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, प्रार्थना, कर्म, इच्छा, तेज, प्राप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने अव् धातुके अर्थ हैं। ये सब अर्थ प्राणवाचक ' अवि ' शब्दमें हैं। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। इन अर्थोंको लेकर अपने प्राणके धर्म और कर्म जाने जा सकते हैं।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षण प्राण हमारी नासिकामें रह रहा है। नासिका स्थानीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें उक्त कार्य करता है। यही इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग ' अ-मृत ' मय है। अर्थात् इस मार्गमें मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो ग्रह हैं। ' श्वास और उच्छ्-वास ' ये दो ग्रह इस मार्गका संरक्षण कर रहे हैं। सबको स्वाधीन रखनेवाले, सबका ग्रहण करनेवाले ग्रह होते हैं। श्वास और उच्छ्वासोंसे सब शरीरका उत्तम ग्रहण हो रहा है इसलिये ये ग्रह हैं। इन दो ग्रहोंके कार्यसे प्राणका मार्ग मरणरहित हुआ है, जबतक श्वास और उच्छ्वास चलते हैं, तबतक मरण होता ही नहीं, इसलिये श्वासोच्छ्वासके अस्तित्वतक शरीरमें ' अमृत ' ही रहता है। परंतु जब ये दो ग्रह दूर हो जाते हैं, तब मरण आता है।

' इडा, पिंगला और सुषुम्ना ' ये तीन नाडियां शरीरमें हैं। इन्हींको क्रमसे ' गंगा ', यमुना और सरस्वती ' कहा जाता है। अर्थात् सरस्वती सुषुम्ना है। इसमें प्राणकी प्रेरक शक्ति रहती है। स्थिर चित्तसे जो उपासना करते हैं, अर्थात् दृढ विश्वाससे जो परमात्मभक्ति करते हैं, उनके अंदर सुषु-म्ना द्वारा यह प्राण विशेष प्रभाव बढाता है। तात्पर्य यह कि उपासनाके साथ ही प्राणका बल बढता है, और अन्य नस्य अर्थात् नासिकाके साथ संबंध रखनेवाले प्राण हैं। इन सब प्राणोंकी प्रेरणा उक्त सुषुम्ना करती है। परमेश्वर भक्तिका बल इस सुषुम्नामें बढता है और इसके द्वारा प्राणोंका सामर्थ्य भी प्रकट होता है।

सरस्वतीमें प्राण

इस मंत्रमें प्राणायाम साधनकी बहुतसी गुह्य बातें सरल शब्दों द्वारा लिखी हैं, इसलिये पाठकोंको इस मंत्रका विशेष विचार करना चाहिए। इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है, उसीका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिए—

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यं।
वाचेंद्रो बलेनेंद्राय दधुरिंद्रियम् ॥ (य. २०।८०)

' अश्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राण शक्तिके साथ वीर्य देती है, इंद्र (इंद्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रियशक्ति अर्पण करता है। '

इसमें सरस्वती जीवनशक्तिके साथ वीर्य देती है ऐसा कहा है। यह सरस्वती शब्द भी पूर्वोक्त सुषुम्ना नाडीका वाचक है। अश्विनौ शब्द धन और ऋण शक्तियोंका वाचक है। इस मंत्रमें दो इंद्र शब्द हैं। पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है। इंद्रिय शब्द आत्माकी शक्तिका वाचक है। कई लोग सरस्वती शब्दका नदी आदि अर्थ लेकर विलक्षण अर्थ करते हैं, उनको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि वैदिक शब्द मुख्यतः आध्यात्मिक शक्तियोंके वाचक हैं, पश्चात् अन्य पदार्थोंके वाचक हैं। अस्तु। अब प्राणके विषयमें और दो मंत्र देखिए—

भोजन और प्राण

धान्यमसि धिनुहि देवान्
प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा।
दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां ॥ (य. १।२०)
प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व
व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वो-
दानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ॥ (य. ७।२७)

' तू धान्य है। देवोंको धन्य कर। प्राण, उदान और व्यानके लिये तुझे स्वीकार करता हूं। आयुष्यके लिये दीर्घ मर्यादा धारण करता हूं। मेरे प्राण, व्यान और उदानके तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध बन। '

सात्त्विक धान्यका आहार इंद्रियादिक देवोंको शुद्ध, पवित्र और प्रसन्न करता है। सात्त्विक भोजनसे प्राणका बल बढता है और आयुष्य बढता है। शुद्धतासे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। इत्यादि बहुत उत्तम भाव उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। तथा और एक मंत्र देखिए—

सहस्राक्ष अग्नि

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्ध्वं
छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे
तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ (य. १७।७१)

'हे सहस्र नेत्रवाले अग्ने? तेरे सैंकडों प्राण, सैंकडों उदान और सहस्र व्यान हैं। सहस्रों धनोंपर तेरा प्रभुत्व है। इसलिये शक्तिके लिये हम तेरी प्रशंसा करते हैं।'

इस मंत्रका 'सहस्राक्ष अग्नि' आत्मा ही है। शतक्रतु, इंद्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक ही हैं। सहस्र तेजोंका धारण करनेवाला आत्मा ही सहस्राक्ष अग्नि है। प्राण, उदान व्यान आदि सब प्राण सैंकडों प्रकारके हैं। प्राणका स्थान शरीरमें निश्चित है। हृदयमें प्राण है, गुदाके प्रांतमें अपान है। नाभिस्थानमें समान है, कंठमें उदान है और सर्व शरीरमें व्यान है, प्रत्येक स्थानमें छोटे मोटे अनेक अवयव हैं और प्रत्येक अवयवके सूक्ष्म भेद सहस्रों हैं। प्रत्येक स्थानमें और सूक्ष्मसे सूक्ष्म भेदमें उस उस प्राणकी अवस्थिति है। प्रत्येकके प्राणके सैंकडों और सहस्रों भेद हो सकते हैं। इस प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हजारों रूपोंसे शरीर भरके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंशमें हुआ हुआ है। यही कारण है, कि प्राणशक्तिके वशमें होनेसे सब अंग प्रत्यंग अपने आधीन हो जाते हैं और प्राणशक्तिके वशमें होनेसे सब शरीरकी नीरोगता भी सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार यजुर्वेदका प्राण-विषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश क्रिया-प्रधान होता है।

सामवेद उपासनात्मक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। इसीलिए कई उसको 'प्राण वेद' भी समझते हैं। उपासना द्वारा जो प्राणका बल बढता है उतनी ही सहायता सामवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्य वेदोंका ही कार्य है। इसलिये यहां इतना ही लिखते हैं कि जो परमात्मोपासनाका विषय है, उसको प्राणशक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अत्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किया करें।

अब अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं।

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा॥ (अ. ३।१६।१)
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः। (अ. २।२८।३)

'प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचावें॥ प्राण अपान इसको न छोडें।' इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतासे मृत्युसे संरक्षण होता है। प्राणके वशमें आ जानेपर मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणको प्रसन्न करना चाहिये।

प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड॥
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुंच॥ ४॥
वातः प्राणः॥ ५॥ (अ. १९।४४)

'हे प्राण! हमारे प्राणका रक्षण कर। हे जीवन! हमारे जीवनको सुखमय कर। हे अनियम! अनियमके पाशोंसे हमें बचा।'

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये। निर्ऋतिके जालोंसे बचना चाहिये। 'ऋति' का अर्थ है— प्रगति, उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता।' और निर्ऋतिका अर्थ है अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, असन्मार्ग, टेढीचाल, घात-पातकी रीति, अपवित्रता, निर्ऋतिके साथ जानेवाला निःसंदेह अधोगतिको जाता है। इसलिये इस टेढेमार्गके भ्रम-जालसे बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हरएक मनुष्य जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निर्ऋतिके जाल प्रारंभमें बडे सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकवार फंस जाता है, उसके लिए फिर उसमेंसे निकलना बडा मुश्किल पड जाता है। सब प्रकारके दुर्व्यसन, भ्रम, आलस्य, छल, कपट आदि सब ही इस निर्ऋतिके जालके रूप हैं। इसलिये उन्नति चाहनेवालेको चाहिए कि, वे इस बुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। योगसाधन करनेवालोंके लिए यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है—

मैं विजयी हूँ

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणः
अंतरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे
द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ (अ. ५।९।७)

'सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्षस्थ तत्त्व मेरी आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है इस प्रकारका मैं अपराजित हूं। मैं अपने आपको द्यु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षणके लिये अर्पित करता हूं।'

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए और अपनी

आंतरिक शक्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नहीं प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रह रहे हैं और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूं, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अंशरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ अथवा मंदिर समझना चाहिए। योग-साधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको निकृष्ट और हीनदीन समझना नहीं चाहिए, परंतु 'अहं अस्तृतः अस्मि' (I am invincible) मैं अपराजित हूं, मैं शक्तिशाली हूं, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए। जैसे जिसके विचार होंगे वैसी ही उसकी अवस्था बनेगी। इसलिये अपने विषयमें कदापि तुच्छ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है। प्राणायाम करनेवालेको तो अत्यंत आवश्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका मंदिर, ऋषियोंका आश्रम समझे और अपने आपको उसका अधिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे। अपनी भावना जैसी दृढ होगी वैसा ही अनुभव आ सकता है। वेदमें—

पंचमुखी महादेव

प्राणापानौ व्यानोदानौ ॥ (अ. ११।८।२६)

प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि नाम आये हैं। उपप्राणोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्य रूपसे उनका उल्लेख संभवतः हो। पंच प्राण ही पंचमुखी रुद्र है, रुद्रके जितने नाम हैं वे सब प्राणवाचक ही हैं। महादेव, शंभु आदि सब रुद्रके नाम प्राणवाचक हैं। महादेवके पांच मुख जो पुराणोंमें हैं, उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मृत्युंजयके स्वरूपका यहां निर्णय हो सकता है। शतपथमें एकादश रुद्रोंका वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः ॥
(शत. ब्रा. १४।५)

'कौनसे रुद्र हैं ? पुरुषमें दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है। ये ग्यारह रुद्र हैं।' अर्थात् प्राण ही रुद्र है और इसलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवताके सब सूक्त अपने अनेक अर्थोंमें एक प्राणवाचक अर्थ भी व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्दको प्राणवाचक माननेपर पशु शब्दका अर्थ इंद्रिय ऐसा ही होगा। इंद्रियोंका घोडे, गौवें, पशु आदि अनेक प्रकारसे वर्णन किया ही है। इस रीतिसे वेदमें अनेक स्थानमें प्राणकी उपासना दिखाई देगी। इस लेखमें रुद्रवाचक सब सूक्तोंका प्राणवाचक भाव बतानेके लिये स्थान नहीं है, इसलिये इस स्थानपर केवल दिग्दर्शन ही किया है। अग्नि शब्द भी विशेष प्रसंगमें प्राणवाचक है। पंचप्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र, आदि शब्दों द्वारा प्राणकी अग्निरूपता सिद्ध है। इस भावको देखनेसे पता लगता है कि, अग्निदेवताके मंत्रोंमें भी प्राणका वर्णन गौणवृत्तिसे है, मध्यस्थानीय देवताओंमें वायु और इंद्र ये दो देवताएं प्रमुख हैं। वायु देवताकी प्राणरूपता सुप्रसिद्ध ही है। स्थान सान्निध्यसे इंद्रमें भी प्राणरूपत्व आ सकता है। इस दृष्टिसे इंद्र देवताके मंत्रोंसे भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणशक्तिका वर्णन है। किसी स्थानपर व्यष्टि दृष्टिसे है और किसी स्थानपर समष्टि दृष्टिसे है। ग्रंथ-विस्तारके भयसे यहां केवल उतना ही लिखा गया है कि जिन मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आया है। अब प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है उसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें देखिये—

प्राणका मीठा चाबुक

महत्पयो विश्वरूपमस्याः
समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत ऐति मधुकशा रराणा
तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥
मातादित्यानां दुहिता वसूनां
प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची
महान्गर्भश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥ (अथर्व. ९।१)

'(अस्याः) इस पृथिवीकी और समुद्रकी बडी (रेतः) शक्ति तू है ऐसा कहते हैं। जहांसे चमकता हुआ मीठा-चाबुक चलता है वही प्राण और वही अमृत है। आदित्योंकी माता, वसुओंकी दुहिता, प्रजाओंका प्राण और अमृतकी नाभि यह मीठा-चाबुक है। यह तेजस्वी, तेज उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषु गर्भः) मर्त्योंके अंदर संचार करनेवाली है।'

इस मंत्रमें 'मधु-कशा' शब्द है। 'मधु' का अर्थ मीठा, स्वादु है। और 'कशा' का अर्थ चाबुक है। चाबुक घोडागाडी चलानेवालेके पास होता है। चाबुक मारनेसे गाडीके घोडे चलते हैं। उक्त मंत्रोंमें 'मधु-कशा' अर्थात् मीठा-चाबुकका वर्णन है। यह मीठा-चाबुक अश्विनीदेवोंका है। अश्विनीदेव प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रहते हैं, प्राण, अपान, श्वास उच्छ्वास, दांये और बांये नाकका श्वास यह अश्विनीदेवोंका प्राणमयरूप शरीरमें है। इस शरीरमें अश्विनीरूप प्राणोंका 'मीठा-चाबुक' कार्य कर रहा है और शरीर

रूपी रथके इंद्रियरूप घोडोंको चला रहा है। इस चाबुकका यह स्वरूप देखनेसे इस अद्वितीय और विलक्षण अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर होसकती है। यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा दे रहा है, इसकी प्रेरणाके विना इस शरीरमें कोई कार्य नहीं होता है। इतना ही नहीं अपितु सब जगत्में यह 'मीठा-चाबुक' ही सबको गति दे रहा है। सब जगत्में प्राणका कार्य देखने योग्य है। मंत्र कहता है कि 'इस मीठे चाबुकमें पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती है, जहांसे यह मीठा चाबुक चलाया जाता है वहीं प्राण और अमृत रहता है।' प्राण और अमृत एकत्र ही रहते हैं क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक मरणकी भीति नहीं होती। और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राण ही सबका प्रेरक है, इसलिये उसके चाबुककी कल्पना उक्त मंत्रमें कही है क्योंकि शरीररूपी रथके घोडोंको चलानेका कार्य यही चाबुक कर रहा है। दूसरे मंत्रमें कहा है कि 'यह चाबुक शरीरस्थ वसु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतका मध्य यही है। यह प्राण मर्त्योंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता है और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है।' यह वर्णन उत्तम अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है। तथा—

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता

नसोः प्राणः ॥ (अ. १९।६०)
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो
अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ ५ ॥
(अ० १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षु-
रयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानो-
ऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥
(अ० १९।५१)

'मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे। मेरे कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होते हुए मेरे शरीरमें कार्य करें। मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दीर्घ होवे। मैं, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान आदि मेरी सब शक्तियां पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें॥'

आयु और प्राणके अविच्छिन्न रूपसे इस शरीरमें रहनेकी प्रबल इच्छा उक्त मंत्रमें है। सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट हों इसकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये। उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

अहं अयुतः।
अहं सर्वः अयुतः।

'मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे किसीकी सहायताके बिना ही सब करनेमें समर्थ और किसी कष्टसे न डिगनेवाला तथा दृढ हूं।' यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायेगी तो मनुष्यकी अपार शक्ति बढ सकती है। मेरी इंद्रियां, मेरे तथा मेरे अन्य अवयव ऐसे दृढ और बलवान् होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके, तथा किसी दूसरेकी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे महान् पुरुषार्थ कर सकूं। कोई यह न समझे कि यह केवल ख्याल ही ख्याल है। मैं यहां निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि यदि मनुष्य निश्चय करेंगे तो निःसंदेह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं।

प्राणकी मित्रता

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्
पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ (अ० १३।१।१७)

'यहीं प्राण हमारा मित्र बने! हे परमेष्ठिन्! हमें वह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो।' प्राणके साथ मित्रताका तात्पर्य इतना ही है कि हमारे शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे। कभी अल्प आयुमें प्राण दूर न हो। अपने आयुष्यमें परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिये। परमात्मा सर्व श्रेष्ठ गुणोंका केन्द्र होनेसे परमात्मचिंतन द्वारा सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंका ध्यान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान करता है उनके समान बन जाता है, इस नियमके अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बन सकता है। यह उपासनाका और मानवी उन्नतिका संबंध है। इस प्रकार जो सत्पुरुष अपनी प्राणशक्तिको बढाता है उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है, इसकी कल्पना निम्न मंत्रोंसे होसकती है—

तस्य व्रात्यस्य। सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः॥
योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः॥
योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः॥
योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चंद्रमाः॥
योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः॥
योऽस्य पंचमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः॥

*

योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम ॥
त इमे पशवः ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो
नाम ता इमाः प्रजाः ॥ (अ० १५।१५।१-९)

'उस (व्रात्यस्य) संन्यासी सत्पुरुषके सात प्राण, सात अपान, सात व्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके नाम क्रमशः ऊर्ध्व, प्रौढ, अभ्यूढ, विभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं। और उनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आप, पशु और प्रजा हैं।' इसी प्रकार इसके अपान और व्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही वेदने किया है। मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढा सकता है। मनुष्य अपने सातों प्राणोंको अपरिमित रूपमें बढा सकता है। वही अपने आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण कर सकता है, जो अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उच्च करता है और अग्निके समान तेजस्वी होता है। इस प्रकार उक्त कथनका भाव समझना चाहिए। तथा—

समयकी अनुकूलता

कालो मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नंदन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥
(अ० १९।५३)

'कालकी अनुकूलतासे ही मन, प्राण और नाम रहते हैं। कालकी अनुकूलतासे ही सब प्रजाओंको आनंद होता है।'

कालका नियम पालन करना चाहिये। पुरुषार्थके साथ कालकी अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है। कालकी अवहेलनाकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। कालकी अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालेको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करे, तथा जिस समय जो करना योग्य है। उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए। अब प्राणके संरक्षक ऋषियोंका वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

प्राणरक्षक ऋषि

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥
(अ० ५।३०।१०)

'बोध और प्रतिबोध अर्थात् स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। वे दोनों तेरे प्राणकी रक्षा करते हुए दिनरात जागते रहें।'

प्रत्येक मनुष्यमें ये दो ऋषि हैं 'स्फूर्ति और जागृति।' एक उत्साहको प्रेरित करता है और दूसरा सावधान रहनेकी चेतना देता है। उत्साह और सावधानता ये दो सद्गुण जिस मनुष्यमें जितने होंगे, उतनी योग्यता उस मनुष्यकी हो सकती है। ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं और यदि ये दिनरात जागते रहें तो मनुष्यको मृत्युकी बाधा नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे परिपूर्ण रहेगा और जबतक सावधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भीति नहीं होगी, यह सर्व साधारण नियम है।

जो लोग असावधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं, तथा जो सदा हीनदीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं; उनको इस मंत्रका भाव ध्यानमें धरना उचित है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो। जो मनुष्य अपने आपको वैदिक धर्मी समझता है उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे। वैदिक धर्मी मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदके विरुद्ध हीन और दीनताके विचार अपने मनमें धारण करके मृत्युके वशमें होवे। वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्वसाधारण जनताकी आयुष्यवृद्धि और आरोग्यवृद्धि करना ही है। इसीलिये स्थान स्थानके वैदिक सूक्तोंमें दीर्घायुत्वके अनेक उपदेश आते हैं।

वृद्धताका धन

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥
आ ते प्राण सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥
(अ० ७।५३)

'जिस प्रकार बैल अपने स्थानपर वापस आते हैं, उस प्रकार प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जावें। वृद्धावस्थाका जो खजाना है वह यहां कम न होता हुआ बढता रहे। तेरे अंदर प्राणको प्रेरित करता हूं और बीमारीको दूर फेंकता हूं। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे।'

जिस प्रकार बैल शामके समय वेगसे अपने आपने स्थानपर आ जाते हैं, उसी प्रकार बलयुक्त वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें। जब प्राण और अपान बलवान् बनकर अपना अपना कार्य करेंगे तब मृत्युका भय नहीं होसकता और मनुष्य दीर्घ आयुष्यरूपी धन प्राप्त कर सकता है। सब धनोंमें आयुष्यरूपी धन ही सबसे श्रेष्ठ

है, क्योंकि सब अन्य धनोंका उपयोग इसके होनेपर ही हो सकता है। उक्त मंत्रमें—

जरिम्णः शेवधिः इह वर्धताम् ॥ (अ. ७।५३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं। 'वृद्ध आयुका खजाना यहां बढता रहे। अर्थात् इस लोकमें आयु बढती रहे, ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं प्रत्युत बढनेवाली है। जो मनुष्य अपनी आयु बढाना चाहे वह उस प्रकारके आयुष्यवर्धक सुनियमोंका पालन करके आयु बढा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है। परंतु कई वैदिक धर्मी समझते हैं कि आयु निश्चित है और घट बढ नहीं सकती। जो वेद सम्मत नहीं है।

बोध और प्रतिबोध

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि बताए हैं, वही भाग थोडेसे फरकसे निम्नलिखित मंत्रमें भी आया है—

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतां-
अस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ (अ. ८।१।१३)

'उत्साह और सावधानता तेरा रक्षण करें। स्फूर्ति और जागृति तेरा संरक्षण करें। रक्षक और जागृत तेरा पालन करें।'

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है। उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और खबरदारी ये गुण संरक्षण करनेवाले हैं और इनके विरुद्ध गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि अपनेमें करे। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्रकी जिसमें दो ऋषियोंका वर्णन है, तुलना करके देखें। अब निम्नलिखित मंत्र देखिये—

उन्नति ही तेरा मार्ग है

उद्यानं ते पुरुष नावयानं
जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथ-
मथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ (अ. ८।१।६)

'हे मनुष्य! तेरी गति (उत् यानं) उन्नतिकी ओर ही हो। कभी भी (अव यानं न) अवनतिकी ओर न हो। तेरी दीर्घ आयुके लिये मैं बलका विस्तार करता हूं। इस सुखमय शरीररूपी अमृतमय रथपर (आरोह) चढ और जब तू दीर्घ आयुसे युक्त हो जाएगा तब (विदथं) सभाओंमें (आवदासि) संभाषण कर सकेगा।'

अपना अभ्युदय साधनेका हमेशा यत्न करना चाहिये, कभी ऐसा कर्म नहीं करना चाहिये कि जिससे अवनति होनेकी संभावना हो सके जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है, जिसमें इंद्रियरूपी घोडे जुते हुए हैं। इस रथमें प्राणरूपी अमृत है। इसलिये इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर मनुष्य चढे और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढे। जब मनुष्य बल और दीर्घ आयु प्राप्त कर लेगा तब उसको बडी बडी सभाओंमें अवश्य ही संभाषण करना होगा, क्योंकि तब दूसरोंका सुधार करना उसका कर्तव्य ही होता है। जीवनार्थ युद्धमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य उसीका होता है। उसे स्वार्थी बनना नहीं चाहिए। प्रत्युत जनताकी उन्नतिमें ही उसे अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, अद्वितीय बल, सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितसाधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही शांति प्राप्त करनेमात्रसे मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता, अपितु जब एक 'नर' अपने आपको उन्नत करके 'वैश्वा-नर' के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उच्चतम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही सर्व-मेध-यज्ञ है। इस प्रकार उक्त मंत्रमें योगी मनुष्योंके सम्मुख अंतिम उच्च आदर्श रख दिया है। योगीजनोंका प्रभाव कहां तक पहुंचता है, इसका पता निम्न मंत्रसे लग सकता है—

यमके दूत

कृणोमि ते प्राणापानौ
जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतां-
श्चरतोप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं
क्रव्यादः पिशाचान्। रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं
तत्तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो
वन्वे जातवेदसः। यथा न
रिष्या अमृतः सजूरस-
स्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥ १३ ॥
(अ. ८।२)

'मैं तेरे अंदर प्राण और अपानका बल, दीर्घ आयु, (स्वस्ति) स्वास्थ्य आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके

पश्चात् योग्य समयमें मृत्यु आदिकी स्थापना करता हूं। वैवस्वत यमके द्वारा भेजे यमदूतोंको मैं ढूंढ ढूंढ कर दूर करता हूं। (अरातिं) द्वेष (निर्ऋतिं) नियमविरुद्ध व्यवहार, (ग्राहिं) जकडनेवाले रोग, (क्रव्यादः) मांसको क्षीण करनेवाली बीमारी (पिशाचान्) रक्तको निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि (रक्षः=क्षरः) सब क्षयके कारण (सर्वं दुर्भूतं) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है, उस सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूं। तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता हूं। जिस प्रकार तेरी अकालमृत्यु न हो, तू अमर अर्थात् दीर्घजीवी बने, (सजूः) मित्रभावसे संतुष्ट रहे और तुझे कष्ट न हो उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूं॥ '

इन मंत्रोंमें प्राण साधनके द्वारा जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उत्तम वर्णन है, प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्वास्थ्य, दीर्घआयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकती है। परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती है। इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं। इसलिये आयु बढ नहीं सकती। इस अवैदिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है। इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है। अनुष्ठानकी रीतिसे प्राणका बल बढावेंगे, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं। प्राणोपासना करनेवालोंके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिकधर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए। प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि–दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं। दुष्टभाव, बुरा आचार, विधिनियमोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इस अभ्याससे दूर होते हैं। सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा 'जात–वेदाग्नि' है। वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान् है। इसलिये वही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है। जो उसके साथ अपनी आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपको दीर्घआयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं। इस प्रकारसे साधनसंपन्न योगी अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं। यही सच्ची समृद्धि है। मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिको प्राप्त करे।

अथर्वाका सिर

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छे ही कर्ममें लगाना योग कहलाता है। इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं।

योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और दृढ स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है। इस प्रकारके योगीका नाम 'अ–थर्वा' होता है। 'अचंचल' यह अथर्वा शब्दका भाव है। एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है। अथर्ववेद सर्वसामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है। योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा सिद्ध अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेदका योगियोंका वेद है। इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इस वेदमें अथर्वाके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः।
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ३२
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥
(अ. १०।२)

'(अ-थर्वा) स्थिरचित योगी अपने (मूर्धानं) मस्तिष्कके साथ हृदयको सीता है, और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने (पवमानः) प्राणको भेज देता है॥ वही अथर्वा का सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है। उसका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं॥ अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं। ऐसी इस ब्रह्मपुरीको जो जानता है, जिसमें रहनेके कारण इस आत्माको पुरुष कहते हैं उसे वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु और प्राण छोडते नहीं। आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर स्थित उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है उसको ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। इस देदीप्यमान, मनोहर, यशस्वी और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।'

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है। इसमें सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्कको एक रूप बनावे। हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहां ये दोनों केंद्र विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। धर्ममें विशेषतः मस्तिष्कके तर्क और हृदयकी भक्तिको समान स्थान मिलना चाहिये। जिस धर्ममें इनका स्थान समान नहीं होता, उस धर्ममें बडे दोष उत्पन्न होते हैं। शिक्षाविभागसे भी मस्तिष्क और हृदयको समान रूपसे विकसित करनेवाली शिक्षा होनी चाहिए। जिस शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कशक्ति बढती है उस शिक्षा प्रणालीसे नास्तिकता उत्पन्न होती है और जिससे केवल भक्ति बढती है उस प्रणालीसे अंधविश्वास बढता है। इसलिये तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर होते हैं और सब प्रकारकी उन्नति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तककी तर्कशक्ति और हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करें। यही भाव 'मूर्धा और हृदयको सीने' के उपदेशमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें लगाना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति

'मस्तिष्कके ऊपरके स्थानमें प्राणको प्रेरित करना' यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके नीचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं। प्राणायाम द्वारा नीचेसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठवंशकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुंचता है और ब्रह्मरंध्रतक प्राणकी गति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, इस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इसलिये इस अवस्थाको सबसे श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली अवस्था है।

देवोंका कोश

अ-थर्वा अर्थात् योगीका उक्त प्रकारका सिर सचमुच देवोंका खजाना है। इस प्रकारके अथर्वाके सिरमें सब दिव्य भावनाएं रहती हैं। सब दिव्य श्रेष्ठ दैवी शक्तियोंका निवास उसके शरीरमें होता है इसलिये उसका देह देवताओंका सच्चा मंदिर है। इस देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो वीर हैं उनके नाम प्राण, मन और अन्न हैं। बलवान् प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ सद्गुणी और सत्यनिष्ठ मन अपने सुविचारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है। मनकी प्रबल इच्छा शक्ति द्वारा भी दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है। सात्त्विक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष बनता है, मन भी सात्त्विक बनता है और प्राणका बल भी बढता है। इस प्रकार ये तीन वीर– 'प्राण, मन और अन्न'– परस्परोंका संवर्धन करते हुए सब मिलकर योगीकी सहायता करते हैं। यही प्राणायामका महत्व है।

ब्रह्मकी नगरी

ब्रह्मकी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है। यह अमृत देव प्राशन करते हैं और पुष्ट होते हैं। अर्थात् हृदय स्थानीय रुधिर ही सब इंद्रियोंमें जाकर वहांका आरोग्य स्थिर रहता

है। इस अमृतपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो ठीक प्रकार जानता है, इस पुरीके सब गुणधर्मोंसे जो परिचित होता है, अपने इस हृदयकी शक्तियोंको जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तियां चक्षु, प्राण और प्रजा देती हैं। चक्षु शब्दसे सब इंद्रिय और अवयवोंकी सूचना होती है, प्रजा शब्द सुप्रजाका बोध कराता है। और प्राण शब्दसे सामर्थ्ययुक्त जीवनका ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि इस अपने हृदयकी शक्तियोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं। प्राणायामसे जो चित्तकी एकाग्रता होती है उससे कई अज्ञात शक्तियोंका विज्ञान होता है, उसी अवस्थामें आंतरिक उपकरणोंका भी विज्ञान होता है इसी रीतिसे हृदयादि अंतरंगोंका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वहां अपने आत्माकी शक्तिके अद्भुत कार्यका साक्षात्कार होता है। सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्ति, दीर्घ आयु और बलवान् इंद्रिय ये तीन फल अपने हृदयके तथा वहांकी आत्मशक्तिके ज्ञान प्राप्त करनेवालेको मिलते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मज्ञानी बनता है वह अकाल मृत्युसे नहीं मरता, पूर्ण आयुष्यकी समाप्तिके पश्चात् स्वकीय इच्छासे वह मरता है। आयुष्यकी समाप्तितक उसकी संपूर्ण इंद्रियें, अवयव और अंग बलवान् और कार्यक्षम रहते हैं। यह ब्रह्मज्ञानका फल है। कई यहां शंका करेंगे कि ब्रह्मज्ञानका यह फल कैसे प्राप्त होता है? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि ब्रह्मज्ञानसे आत्मिक शांति होती है और उस कारण उसको उक्त फल प्राप्त हो सकते हैं। तथा जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसका आचार- विचार शक्ति क्षीण करनेवाला न होनेके कारण उसकी शक्ति कभी क्षीण होती ही नहीं, प्रत्युत उसकी शक्ति विकसित ही होती जाती है। जिसकी शक्तिकी अभिवृद्धि होती है, उसको उक्त चीजें प्राप्त करना सरल ही है।

अयोध्या नगरी

आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवताओंकी नगरी है, इसका नाम 'अयोध्या' है। जिसमें देवभावना और आसुरीभावनाओंका संग्राम नहीं होता, अर्थात् जहां दैवीवृत्ति ही सदा शांतिके साथ निवास करती है। इसलिये उसका नाम 'अ-योध्या' नगरी है। जबतक यह नगरी देवोंके आधीन होती है तबतक उसमें शांतिका रामराज्य हो जाता है। इंद्रियोंके नौ द्वार हैं और इसमें पृष्ठवंशमें मूलाधार आदि आठ चक्र हैं। इस नगरीमें हृदयस्थानमें प्रकाशमय स्वर्ग है। वही प्राणायामादि साधनोंके द्वारा प्राप्तव्य स्थान है। प्राप्तव्यका अर्थ स्वकीय इच्छासे प्राप्तव्य है, अन्यथा वह स्थान सभी प्राणिमात्रके पास है ही, परंतु बहुत ही थोडे लोग हैं कि जो अपनी इच्छासे उसमें प्रवेश कर सकते हैं। आत्मशक्तिका प्रभाव जानते हुए उस स्थानको जानना और ज्ञानके साथ उसमें निवास करना योगसाधनसे साध्य है।

अयोध्याका राम

इस नगरीमें जो पूजनीय देव है वहां आत्माराम है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही जानते हैं। अन्योंको उसका पता नहीं लग सकता।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है। जीवात्मा जब आसुरीभावनाओंपर विजय प्राप्त करता है तब वह अपनी राजधानीमें विजयोत्सव करता हुआ प्रवेश करता है। यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखोंका हरण करनेवाली है और तेजसे प्रकाशित है। इसका पराजय आसुरीभावनाओंके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता। इस लिये इसका नाम ही 'अपराजित अयोध्या' है। अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिये। मैं अपराजित हूं। दुष्टभावोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता। मैं सदा विजयी ही रहूंगा। मेरा नाम ही 'विजय' है। इत्यादि भाव उपासकको अपने अंदर धारण करने चाहिये। 'मैं हीन, दीन, दुर्बल और अधम हूं' इस प्रकारके भाव कदापि मनमें धारण नहीं करने चाहिये। ये अवैदिक भाव हैं। इस मंत्रमें आत्माका विजयी स्वरूप बताया है।

अपनी आत्माका ही यह वर्णन है। आत्मा किस प्रकारके भावसे पराजित होती है और किस भावनाके धारण करनेसे विजयी होती है, इसका सूक्ष्म वर्णन इनमें किया है। आत्मा ही ब्रह्मा है, वह हृदयकमलमें निवास करती है, हंस अर्थात् 'प्राण उसका वाहन है' आदि वर्णन पूर्व स्थलमें आ चुका है। यह ब्रह्माकी नगरी है, यही देवोंकी पुरी अमरावती है, यही सब कुछ है।

अब चारों वेदोंमेंसे अनेक मंत्रोंद्वारा जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे दिया जाता है जिसको पढनेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नित्य संबंध है।

(२) जितनी प्राणशक्ति होती है उतनी ही आयु होती है, इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणरक्षणके नियमोंमें अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढता है, प्रत्युत चक्षु आदि सभी इंद्रियों, अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढती है और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारोंको धारण करनेसे बडा लाभ होता है।

(५) सूर्य प्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायामकी शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ प्रेरित प्राण शरीरके प्रत्येक अंगमें जाकर वहांके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एक ही प्राणके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये भेद हैं तथा अन्य उप प्राण भी उसीके प्रभेद हैं।

(८) संतोषवृत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे प्राण-शक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है। इस प्रकार इनका परस्पर संबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संगीतका अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंको त्यागना चाहिये अर्थात् अन्य इंद्रि-योंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि नहीं करनी चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्ति ही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखनी चाहिए। इससे बल बढता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियां किस प्रकार आत्मामें लीन हो जाती हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती हैं इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जा सकती है।

(१६) संपूर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है। जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ, प्राणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदिका संबंध है। इसलिये ऐसा उत्तम सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य, आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राण संवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर मनुष्यकी अकाल मृत्यु होती है। इस लिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि, वायु, रवि आदि बाह्य देवता, अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहते हैं। इस प्रकार मानव शरीर देवताओंका मंदिर है और मनुष्य उन सब देवताओंका अधिष्ठाता है। यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये। और अपने आपको उक्त भावनारूप ही समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित, विजयी और शक्तिका केंद्र मानना चाहिए।

(२२) प्राण ही रुद्र है। रुद्रवाचक सब शब्द प्राण-वाचक हैं।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बडी विलक्षण शक्ति है।

(२४) पुरुषार्थसे अवश्य ही अपनी सब शक्तियोंको विकसित करनेका दृढ निश्चय करना चाहिए।

(२५) अपने आपको कभी हीन, दीन, दुर्बल नहीं समझना चाहिये, अपितु अपने प्रभावका गौरव ही सदा देखना चाहिए।

(२६) जगत्में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कष्ट दे सकेगी मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं। यह भाव मनमें रखना चाहिए।

(२७) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बात पर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, भाई आदि समझना चाहिए। उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिका भेद नहीं है।

(२८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना चाहिए। कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर नहीं करना चाहिए। आजका कर्तव्य कलके लिये नहीं रखना चाहिए।

(२९) स्फूर्ति और जागृति धारण करनेसे उन्नति होती है।

(३०) दीर्घ आयु ही बडा धन है, उसको और भी बढाना चाहिए। निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है।

(३१) उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, स्वसंरक्षणकी भावना और योजनासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जनताकी उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए। जीवनका यही उद्देश्य है।

(३४) संपूर्ण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपनी विजयका संपादन करना चाहिए।

(३५) हृदयकी भक्ति और मस्तिष्कका तर्क इन दोनों शक्तियोंको एक ही सत्कार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका समविकास करना चाहिये।

(३६) योगीका सिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है।

(३७) अपने ही हृदयमें ब्रह्मनगरी है, वही स्वर्ग और वही अमरावती है। यही देवोंकी अयोध्या है। ब्रह्मज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं।

(३८) जो आत्मशक्तिका विकास करता है, वही स्वकीय गौरवके साथ इस अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है।

(३९) प्राणको अपने स्वाधीन करके मस्तिष्कके ऊपर भेजना चाहिए। जहां विचारोंकी गति नहीं है वहां पहुंचना चाहिए, वही आत्माका स्थान है।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थके प्रयत्नसे उन्नतिके पथपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है।

इस लेखमें थोडेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उपदेश विशेष रीतिसे स्पष्ट हैं। परंतु इनके अतिरिक्त अन्य देवताओंके सूक्तोंमें भी गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए।

स्वयं अनुभव लेनेके बिना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती, इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए। जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें जाकर वहांका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या

वेदमंत्रोंमें जो आध्यात्मविद्या है, वही उपनिषदोंमें बताई है। अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है। वह जैसे वेदके मंत्रोंमें है वैसे उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांशरूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है।

प्राणकी श्रेष्ठता

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है, इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्।
प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
प्राणेन जातानि जीवंति।
प्राणं प्रयंत्यभि सं विशंतीति। (तै. उ. ३।३)

'प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे ही जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमें ही जाकर मिल जाते हैं।'

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बडी शक्ति है, सब अन्य शक्तियां प्राण पर ही अवलंबित रहती हैं। जबतक प्राण रहता है तभीतक अन्य शक्तियां काम करती हैं और जब प्राण जाने लगता है तो अन्य शक्तियां प्रथम ही चली जाती हैं और पश्चात् प्राण निकलता है। न केवल प्राणियोंको ही प्राणका आधार है, अपितु औषधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ इन सबको भी प्राणशक्तिका ही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रयि है। इस विषयमें देखिये—

स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं च ॥ ४ ॥
आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चंद्रमा।
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च
तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥ (प्रश्न. उ. १)

'परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्रीपुरुषका एक जोडा उत्पन्न किया उसमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। जगत्में आदित्य ही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान् जगत् जिसमें दृश्य और अदृश्य पदार्थ मात्र रयि है।'

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई। इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये—

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
धनशक्ति (Positive)	ऋणशक्ति (Negative)

जगत्‌के ये मातापिता हैं, इनसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगत्में इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रयि हैं, शरीरमें मुख्य-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है, देहमें सीधी बगल प्राण है और बाईं बगल रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तियां व्यापक हैं, कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहां ये दोनों शक्तियां नहीं हैं। सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है; इनको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह सब देवोंका देव है इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ (बृ. ३।९।९)

'एक देव कौनसा है ? प्राण है।' अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राण ही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥
(छां. ५।१।१; बृ. ६।१।१)

'प्राण ही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।' सब अन्य देव इसके आधारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ (बृ. ५।१४।४)
(२) प्राणो वा अमृतम् (बृ. १।६।३)
(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ (बृ. २।१।२०)
(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ (बृ. १।२।६)

'(१) प्राण ही बल है, वह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राण ही अमृत है, (३) प्राण ही सत्य है, (४) प्राण ही यश और बल है।' इस प्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहांसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व खण्डमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन
प्राच्यां प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥
यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं
यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति
तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥
तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं
तपंतम् ॥
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः ॥
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥
(प्रश्न. उ. १।६-८)

'सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणोंके द्वारा प्राण रखा जाता है। इस प्रकार सर्वत्र सूर्य-किरणोंके द्वारा ही प्राण पहुंचता है। यह सूर्य ही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है। यह सूर्य (विश्व-रूपं) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) अंधकारका हरण करनेवाला, (जात-वेदसं) धनोंका उत्पादक, एक, श्रेष्ठ तेजसे युक्त, सैंकडों प्रकारोंसे सहस्रों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका प्राण उदयको प्राप्त होता है।'

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके विना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिकाका मूल प्राण यह सूर्य देव ही है। इसी कारण वेदमंत्रमें आयु, आरोग्य, बल आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णित है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ट संबंध है इसका यहां पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें क्रीडा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना आरोग्य संपादन नहीं करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों, हकीमों और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं, विषरूप दवाइयां पीते हैं उनकी अज्ञानताकी सीमा कहां है ? परमात्माने अपार दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायाम द्वारा उनका सेवन किया जाय तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है। इतना सस्ता आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक आ पहुंचे हैं कि अनंत संपत्तिका व्यय करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। विश्वव्यापक प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है। वह प्राण सूर्यमें केंद्रित हुआ हुआ है, वहांसे सूर्य किरणों द्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे खूनमें जाकर हमारा जीवन बढाता है। जो प्राणायाम करना चाहते हैं उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्राणका और वर्णन देखिये—

*

देवोंका घमंड

' एक समय बाह्य सृष्टिके पृथिवी, आप् , तेज, वायु ये देव, तथा शरीरके अंदर वाचा, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देव समझने लगे कि हम ही इस जगत्को धारण करते हैं और हमसे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है। इन देवोंका यह गर्व देखकर प्राण कहने लगा कि, हे देवो ! ऐसा घमंड न करो, मैं ही अपने आपको पांच विभागोंमें विभक्त करके इसका धारण कर रहा हूं। परंतु इस कथनको उन देवोंने माना नहीं, तो मुख्य प्राण वहांसे जाने लगा, यह देखकर सब देव कांपने लगे। फिर जब प्राण अपने स्थानपर वापस आगया तब देव प्रसन्न हुए। इससे देवोंको पता लगा कि यह सब प्राणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं, केवल अपनी शक्तिसे ही हम इस कार्यको चलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं।' इस प्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमा-विदित की, तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे। यह स्तुति निम्न मंत्रोंमें है—

प्राणस्तुति

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष
पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष
पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥
अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥
प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रति जायसे ॥
तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति
यः प्राणैः प्रति तिष्ठसि ॥ ७ ॥
देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा ॥
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वांगिरसामसि ॥ ८ ॥
इंद्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ॥
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥
यदा त्वमभि वर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः
आनंदरूपास्तिष्ठंति कामायान्नं भविष्यतीति॥१०॥
व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ॥
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥
या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि॥
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः
॥ १२ ॥
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ॥
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति
॥ १२ ॥ (प्रश्न उ. २)

' यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इंद्र, पृथिवी, रयि आदि सब है। जिस प्रकार रथ नाभिमें आरे जुडे हुई होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुडा हुआ है। ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ज्ञान सभी प्राणके आधारसे हैं। हे प्राण ! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है। सब प्रजायें तेरे लिये ही बली अर्पण करती हैं। तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितरोंकी स्वकीय धारणा शक्ति है। अथर्वा आंगिरस ऋषियोंका सत्य तपाचरण भी तेरा ही प्रभाव है। तू इंद्र, रुद्र, सूर्य है, तू ही तेजसे तेजस्वी हो रहा है जब तू वृष्टि करता है तब सब प्रजायें आनंदित होती हैं क्योंकि उनको बहुत अन्न इस वृष्टिसे प्राप्त होता है। तू ही व्रात्य एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है। हम दाता हैं और तू हम सबका पिता है। जो तेरा शरीर वाचा, चक्षु, श्रोत्र और मनमें है, उसको कल्याण रूप कर और हमसे दूर न हो। जो कुछ त्रिलोकीमें है वह सब प्राणके वशमें है। माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें दो। '

यह देवोंका बनाया प्राणसूक्त देखनेसे प्राणका महत्व ध्यानमें आ सकता है। यह सूक्त कई दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है। पहिली बात जो इसमें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र, आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य, चंद्र, वायु आदि जगत्में देव हैं और ये सब प्राणके वशमें हैं। प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है। जिस प्रकार शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेमें समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश दे रही है। इसलिये आंखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आंख और सूर्यकी नहीं है प्रत्युक्त प्राणकी है, इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है। देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगत्में अग्नि, वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें प्राण-विद्या भी प्रकाशित हुई है।

प्राणरूप अग्नि

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ॥
यशसं वीरवत्तमम् ॥ (ऋ. १।१।३)

' (अग्निना) प्राणसे (रयिं) शोभा और (पोषं) पुष्टि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अश्नवत्) प्राप्त होती है। और वीर्ययुक्त यश भी मिलता है। '

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राणके चले जानेपर न शरीरकी शोभा बढेगी और न शरीरकी पुष्टि ही होगी, फिर यश मिलना तो असंभव ही है। इस प्रकार बहुत विचार हो सकता है, यहां उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन ही किया है। वेदके गूढ रहस्योंका इस प्रकार पता लग जाता है इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रतिदिन किया करें। स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पश्चात् कोई कठिनता नहीं होगी।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दके गूढ अर्थोंसे प्राणविद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण देखिए—

(१) देवानां वह्नितमः असि— प्राण 'इंद्रियोंको' चलानेवाला है, सूर्यादिकोंको चलाता है, प्राणायाम द्वारा 'विद्वान्' उन्नति प्राप्त करते हैं।

(२) पितॄणां प्रथमा स्वधा असि— संपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) पहिले दर्जेकी पालक-शक्ति प्राण है और वही (स्व-धा) आत्मतत्वको धारण करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं असि— सप्त ऋषियोंका सत्य (चरितं) चालचलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषि हैं ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वांगिरसां चरितं असि— (अ-थर्वा, अंगिरसां) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राणके द्वारा ही होता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है।

यह भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका आशय देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचना देनेके लिये यहां उपयोगी शब्दार्थ नीचे दिए जाते हैं। (१) अग्निः— गति देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्य— प्रेरणा देनेवाला, प्रकाश देनेवाला; (३) पर्जन्यः (पर-जन्य)— पूर्ण करनेवाला; (४) मघवान् — महत्त्वसे युक्त; (५) वायुः— हिलानेवाला और अनिष्टको दूर करनेवाला; (६) पृथिवी — विस्तृत, आधार देनेवाली; (७) रयिः— तेज, संपत्ति, शरीरसंपत्ति आदि; (८) देवः— क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उत्साह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य; (९) अ-मृतः— अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा-पतिः— चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्नितमः— अत्यंत प्रेरक; (१२) इंद्रः— ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला; (१३) रुद्रः (रुत्-रः)— दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) व्रात्यः — (व्रत) नियमके अनुसार आचरण करनेवाला। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणकी किस शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दोंके गूढ आशय देखनेसे ही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है।

इस प्रकार प्राणकी मुख्यता और श्रेष्ठता है और वह प्राण सूर्य किरणोंके द्वारा प्राणियोंतक पहुंचता है। सूर्य किरणोंसे वायुमें आता है। वायु श्वासके द्वारा अंदर जाता है, उस समय मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है। प्राणायामके समय इस प्रकार प्राणका महत्त्व ध्यानमें धरना चाहिए।

प्राणका प्रेरक

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरकका विचार किया है। प्राणके आधीन संपूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देनेवाला कौन है? जिस प्रकार दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसी प्रकार प्राणके आधीन सब इंद्रियादिकोंका राज्य है। परंतु राजाकी प्रेरणासे दीवान कार्य करता है, उसी प्रकार यहां प्राणका प्रेरक कौन है, यह प्रश्नका तात्पर्य है।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। (केन उ. १।१)

'किससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है?' अर्थात् प्राणकी प्रेरकशक्ति कौनसी है? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहती है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः। (केन उ. १।२)

'वह आत्मा ही प्राणका प्राण है' अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है। इसका और वर्णन देखिए—

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
(केन उ. १।८)

'जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है, वह (ब्रह्म) आत्मा है, ऐसा तू समझ। जिसकी उपासना की जाती है वह आत्मा नहीं।'

अर्थात् आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है। इसलिये प्राणकी प्रेरकशक्ति आत्मा ही है। इस विषयमें ईशोपनिषद्का मंत्र देखने योग्य है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ (ईश. १६)
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥
(वा. यजु. १७)

'जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है वह मैं हूं।' मैं आत्मा हूं, मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक हूं। मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इंद्रियोंकी शक्तियोंको उत्तेजित कर रहा है। इस प्रकार विश्वास रखना चाहिए और अपने प्रभावका गौरव देखना चाहिए। इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्का वचन देखिये—

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां
प्राणः प्राणाद्वायुः ॥ (ऐ. उ. १।१।४)
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥
(ऐ. उ. १।२।४)

'नासिका रूपी इंद्रियें खुल गई नासिकासे प्राण और प्राणसे वायु उत्पन्न हुआ।' अर्थात् प्राणसे वायु पैदा हुआ। आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद लूं। इस इच्छाशक्तिसे नासिकाके स्थानमें दो छेद बन गये ये ही नासिकाके दो छेद हैं। इस प्रकार नाकके बनते ही प्राणकी उत्पत्ति हुई और प्राणसे वायु बना है। आत्माकी इच्छाशक्ति कितनी प्रबल है उसकी कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वही आत्मा है, इसको इंद्र कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इदं-द्र) इस शरीरमें सुराख करनेकी शक्ति रखती है। इसकी प्रबल इच्छाशक्तिसे विलक्षण घटनायें यहां सिद्ध हो रहीं हैं, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है। जो ऐसा समर्थ जीवात्मा है वही प्राणका प्रेरक है। इसका सेवक प्राण है यह प्राण वायुका पुत्र है क्योंकि ऊपर दिये मंत्रमें कहा है कि 'वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है।' इसलिये वायुका यह प्राण पुत्र है। यही 'मारुती' है, मारुतीका अर्थ 'मारुत्' अर्थात् वायुका पुत्र। विश्वमें व्यापनेवाला पवन वायु है उसका एक अंश शरीरमें अवतार लेता है, इसलिये इसको 'पवनात्मज' कहते हैं। यही हनुमान्, मारुती, राम-सखा है। अवतारकी मूल कल्पना यहां व्यक्त हो सकती है। विश्वव्यापक शक्तियां अवतार रूपसे कर्मभूमिमें अर्थात् इस देहमें आकर कार्य करतीं हैं। वायुके पुत्रोंकी जो कल्पना पौराणिक साहित्यमें है वह यही है। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण इस लेखमें पूर्व स्थलमें बताया ही है। प्राणसे अमरत्वके साथ [illegible]का चिरंजीवत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार यह हनुमानजीका रूपक है। हनुमानजीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है। यह 'दशरथके राम' का सहायक है, दश इंद्रियोंके रथमें जो आनंद रूप आत्मा है उसका यह प्राण नित्य सहायक ही है, तथा 'दशमुखकी लंका' को जलानेवाला है, दश इंद्रियोंसे मुख्यतया भोगमें जो प्रवृत्तियां होती हैं उन भोगेच्छाओंका प्राणायामके अभ्याससे दहन होता है। इत्यादि विचारसे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। पूर्वोक्त उपनिषद्में 'प्राणका प्रेरक आत्मा' कहा है और उक्त इतिहासमें 'वायुपुत्रका प्रेरक दाशरथी राम' कहा है, दोनोंका तात्पर्य एक ही है।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद्के वचनमें 'असौ अहं' शब्द आये हैं, 'प्राणके अन्दर रहनेवाला मैं आत्मा' यही भाव बृहदारण्यकके निम्न वचनमें है—

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादंतरो यं प्राणो न
वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमंतरा यमयति,
एष त आत्मा अंतर्याम्यमृतः ॥ (बृ. ३।७।१६)

'जो प्राणके अन्दर रहता है, प्राणके अन्दर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अन्दरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) यह तेरा अंतर्यामी अमर आत्मा है।'

प्राणके अन्दर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है। इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ नित्य सम्बन्ध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूं, प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर है, यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सच्चा सम्राट् बनूंगा और विजयी तथा यशस्वी बनूंगा, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है। इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचनमें हुआ है—

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमंते ॥
(बृ. ५।१२।१)

प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति ॥ १ ॥
प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि
सर्वाणि भूतानि युज्यंते ॥ २ ॥
प्राणो वै साम प्राणे हीमानि
सर्वाणि भूतानि सम्यंचि ॥ ३ ॥
प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते ॥ ४ ॥
(बृ. उ. ५।१३)

'प्राण 'र' है क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण 'उक्थ' है क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण 'यजु' है क्योंकि प्राणमें सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'साम' है क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है क्योंकि प्राण ही क्षतों अर्थात् कष्टोंसे बचाता है।'

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम, यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहां सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहां योग-रूढीका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्दके दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है।

अङ्गोंका रस

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मन्त्रमें है—

आंगिरसोऽगानां हि रसः,
प्राणो वा अंगानां रसः ...
तस्माद्यस्मात्कस्माच्चांगात्
प्राण उत्क्रामति, तदेव तच्छुष्यति। (बृ. १।३।१९)

'प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।'

वृक्षोंमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंग-रसका महत्त्व है। जीवात्माकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें आरोग्य और बल बढाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राणके बल बढानेसे उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छाशक्तिका नियमन होता है, इच्छासे रुधिरमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये—

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे,
प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्।
(छां. उ. ६।८।६)

'पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।' यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है। प्राणविद्याकी परमसिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियां

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ सम्बन्ध देखनेके लिये निम्न मन्त्र देखिये—

प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति,
प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः,
प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः,
प्राणो ह्येवैतान् संवृंक्ते। (छां. ४।३।३)

'जब वह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमें ही लीन होती हैं क्योंकि प्राण ही इनका संहारक है।'

जिस प्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी किरणें फैलती हैं और अस्तके समय फिर अन्दर लीन होती हैं, इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है। उस समय उसकी किरणें इंद्रियादिकोंमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर उसीमें लीन होती हैं। इस प्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंशमें है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो,
दिशं दिशं पतित्वा, अन्यत्रायतनमलब्ध्वा,
बंधनमेवोपश्रयत; एवमेव खलु, सोम्य,
तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा,
प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबंधनं हि सोम्य मनः॥
(छां. उ. ६।८।२)

'जिस प्रकार पक्षी डोरीसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें घूम कर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूल स्थानपर ही आ जाता है; इसी प्रकार निश्चयसे, हे प्रिय शिष्य! वह मन अनेक दिशाओंमें घूमघाम कर; दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण, प्राणका ही आश्रय करता है क्योंकि हे प्रिय शिष्य! मन प्राणके साथ ही बंधा हुआ है।'

इस प्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है, यही कारण है कि प्राणायामसे प्राणके बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है, प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है। प्राणकी चंचलतासे मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन

भी स्थिर होता है। इससे प्राणायामका महत्त्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रियां भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होती हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम और मनके वशमें होनेसे अन्य इंद्रियोंका वशमें होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होती हैं। यही भाव निम्न वचनमें गुप्त रीतिसे है—

वसु, रुद्र, आदित्य

प्राणा वाव वसव, एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ २ ॥
प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥ ३ ॥
(छां. ३।१६)

'प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको बसाते हैं, प्राण रुद्र हैं क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्यों कि ये सबको ग्रहण करते हैं।'

इस स्थान पर 'प्राणा वाव रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदनं द्रावयन्ति' अर्थात् 'प्राण रुद्र है क्योंकि ये इस सब दुःखको दूर करते हैं।' ऐसा वाक्य होता तो प्राणका दुःख निवारक कार्य व्यक्त हो सकता था। परंतु उपनिषद्में 'एते हीदं सर्वं रोदयन्ति' अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब वे सबको रुलाते हैं, इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है। शतपथादिमें भी रुद्रका रोदन धर्म ही वर्णन किया है, परंतु दुःख निवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है। इस प्रकार प्राणका महत्त्व कहा है—

प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता,
प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥
(छां. उ. ७।१५।१)

'प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि है' ये शब्द प्राणका महत्त्व बता रहे हैं। (१) माता — मान्यरहित करनेवाला; (२) पिता— पालक, संरक्षक, (३) भ्राता— भरण पोषण करनेवाला; (४) स्वसा— (सु असा)— उत्तम प्रकार रखनेवाला; (५) आचार्य— आत्मिक गुरु है, क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये; (६) ब्राह्मणः— यह ब्रह्मके पास ले जानेवाला है।

ये शब्दोंके मूलभाव यहां प्राणके गुण बता रहे हैं। यह प्राणका वर्णन है, इतना प्राणका महत्त्व है इसलिये अपने प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहें। सब लोग स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं वह स्वर्ग प्राण ही है।

तीन लोक

वागेवायं लोकः मनो अन्तरिक्षलोकः
प्राणोऽसौ लोकः ॥ (बृ. १।५।४)

'यह वाणी पृथिवीलोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण स्वर्गलोक है।'

इसीलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गधामकी प्राप्ति होती है। देखिये प्राणकी कितनी श्रेष्ठता है!! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है। विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। संक्षेपसे आवश्यक बातोंका उल्लेख यहां किया है। इससे उपनिषदोंकी प्राणविद्याकी कल्पना हो सकती है। जो इसकी और अधिक गहराई देखना चाहें वे स्वयं उपनिषदोंमें इसको देख सकते हैं।

प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियां प्राप्त होती हैं ऐसा प्राणके विविध शास्त्रोंमें लिखा है। प्राणायामका अभ्यास किए बिना ही उक्त शक्तियोंकी प्राप्ति असंभव है। अभ्यासके बिना उन्नतिकी प्राप्ति सर्वथा ही असंभव है। प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राणकी शक्तिकी कल्पना प्रथम होनेकी आवश्यकता है। वह कार्य सिद्ध होनेके लिये इस लेखका उपयोग हो सकता है। इस सूक्तको अच्छी प्रकार पढनेके पश्चात् मननद्वारा अपनी प्राणशक्तिका आकलन करना चाहिये। अपने प्राणका यह स्वरूप है उसका यह महत्त्व है और इसकी उपासनासे इस प्रकार लाभ हो सकता है, इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस सूक्तके अभ्याससे होगी। इस कल्पनाके दृढ होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है।

दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय

कां. ८, सू. १

(ऋषिः- ब्रह्मा । देवता-आयुः)

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम् ।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥ १ ॥

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान् । उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ २ ॥

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः ।
उत्त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि ॥ ३ ॥

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः ॥ ४ ॥

अर्थ— (मृत्यवे अन्तकाय नमः) मृत्युरूपसे सबका अन्त करनेवाले परमेश्वरको नमस्कार है। हे मनुष्य ! (ते प्राणाः अपानाः इह रमन्ताम्) तेरे प्राण और अपान यहां इस शरीरमें आनन्दसे रहें । (अयं पुरुषः असुना सह) यह मनुष्य प्राणके साथ (इह अमृतस्य लोके सूर्यस्य भागे अस्तु) इस अमृतके स्थानरूपी सूर्यके प्रकाशके भागमें रहे ॥ १ ॥

(भगः एनं उत् अग्रभीत्) भग देवने इस मनुष्यको उच्च स्थानपर बिठाया है, (अंशुमान् सोमः एनं उत्) तेजस्वी सोमने इसको उठाया है, (मरुतः देवाः एनं उत्) मरुतदेवोंने इसको उच्च बनाया है, (इन्द्र-अग्नी स्वस्तये उत्) इन्द्र और अग्निने इसके कल्याणके लिये इसको उच्च बनाया है ॥ २ ॥

(इह ते असुः) यहां तेरा जीवन, (इह प्राणाः, इह आयुः) यहां प्राण, यहां आयु और (इह ते मनः) यहां तेरा मन स्थिर रहे । (दैव्या वाचा निर्ऋत्याः पाशेभ्यः) दिव्य वाणीके द्वारा अधोगतिके पाशोंसे हम (त्वा उत् भरामसि) तुझे ऊपर उठाते हैं ॥ ३ ॥

हे (पुरुषः) मनुष्य ! (अतः उत् क्राम) यहांसे ऊपर चढ, (मा अवपत्थाः) नीचे मत गिर । (मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः) मृत्युकी बेडीसे अपने आपको छुडाता हुआ (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे तथा (अग्नेः सूर्यस्य संदृशः) अग्नि और सूर्यके दर्शनसे अपने आपको (मा छित्थाः) दूर मत रख ॥ ४ ॥

भावार्थ— संपूर्ण जगत्का नाश करनेवाले एक ईश्वरको हम प्रणाम करते हैं। मनुष्यके प्राण इस शरीरमें दीर्घकाल तक रहें । मनुष्य दीर्घ जीवनके साथ अमृतमय सूर्यप्रकाशमें यथेच्छ विचरता रहे ॥ १ ॥

भग आदि सब देव इसकी उन्नति करनेमें इसकी सहायता करें ॥ २ ॥

हे मनुष्य ! इस शरीरमें तेरा प्राण, आयुष्य, मन और जीवन स्थिर रहे। अनारोग्यरूपी दुर्गतिके पाशोंसे हम सब तुझे ऊपर उठाते हैं ॥ ३ ॥

हे मनुष्य ! तू ऊपर चढ, गिर मत । मृत्युके पाशोंसे अपने आपको छुडा । दीर्घायु प्राप्त कर और इस मनुष्य लोकसे तथा इस सूर्यके प्रकाशसे अपने आपको दूर कर ॥ ४ ॥

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः ।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ॥ ५ ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥ ६ ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन् ।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥ ७ ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

अर्थ— (मातरिश्वा वातः तुभ्यं पवतां) अन्तरिक्षमें रहनेवाली वायु तेरे लिये शुद्धता करती रहे । (आपः तुभ्यं अमृतानि वर्षन्तु) जल तेरे लिये अमृतकी वृष्टि करे । (सूर्यः ते तन्वे शं तपाति) सूर्य तेरे शरीरके लिये सुखकर तपता रहे । (मृत्युः त्वां दयतां) मृत्यु तुझपर दया करे अर्थात् तू (मा प्रमेष्ठाः) मर मत ॥ ५ ॥

हे पुरुष! (ते उत्-यानं) तेरी उन्नतिकी ओर गति हो । (न अव-यानं) अवनतिकी ओर कभी गति न हो । इसलिये मैं (ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि) तुझे जीवन और बल देता हूं । (इमं अमृतं सुखं रथं आरोह) इस अमरत्व देनेवाले सुखकारक शरीररूपी रथपर चढ, (अथ जिर्विः) और जब तू वृद्ध होगा, तब (विदथं आवदासि) विज्ञानका उपदेश करेगा ॥ ६ ॥

(ते मनः तत्र मा गात्) तेरा मन उस निषिद्ध मार्गमें न जावे । और वहां (मा तिरः भूत्) लीन न होवे । (जीवेभ्यः मा प्रमदः) जीवोंके संबंधमें प्रमाद न कर । (पितॄन् मा अनुगाः) पितरोंके पीछे न जा अर्थात् मर मत । (इह विश्वे देवाः त्वा अभि रक्षन्तु) यहां सब देव तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

(गतानां मा आदिधीथाः) मरे हुओंके लिए विलाप न कर क्योंकि (ये परावतं नयन्ति) वे तो दूर ले जाते हैं । अतः (आ इहि) यहां आ और (तमसः ज्योतिः आरोह) अंधकारको छोड प्रकाशपर चढ, (ते हस्तौ रभामहे) तेरे हाथोंको हम पकडते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— वायु, जल और सूर्य तेरे लिये पवित्रता करें और तुझे शान्ति दें । मृत्यु तेरे ऊपर दया करे अर्थात् तू दीर्घायु प्राप्त कर और शीघ्र मत मर ॥ ५ ॥

हे मनुष्य ! तू ऊपर चढ, कभी नीचे मत गिर । इसी कार्यके लिये तुझे जीवन और बल दिया है । तेरा शरीर एक सुख देनेवाला उत्तम रथ है, इससे अमरपन भी प्राप्त किया जा सकता है । इसमें रहता हुआ जब मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त करता है और वृद्ध होता है तब उसको बहुत अनुभव प्राप्त होनेके कारण वह दूसरोंको योग्य उपदेश देनेमें समर्थ होता है ॥ ६ ॥

तेरा मन कुमार्गमें न जावे और यदि जावे भी तो वहां स्थिर न रहे । अन्य जीवोंके विषयमें जो तेरा कर्तव्य है उसमें तू प्रमाद न कर । शीघ्र मरकर अपने पितरोंके पीछे शीघ्रतासे मत जा । ये सब देवता तेरी रक्षा करें ॥ ७ ॥

गुजरे हुओंका शोक न कर, उससे तो मनुष्य दूर चला जाता है । यहां कार्यक्षेत्रमें आ, अन्धकार छोड और प्रकाशमें विचर । इस कार्यके लिये हम तेरा हाथ पकडते हैं ॥ ८ ॥

श्यामश्च॑ त्वा मा शबल॑श्च प्रेषि॑तौ य॒मस्य॒ यौ प॑थि॒रक्षी॒ श्वानौ॑ ।
अ॒र्वाङेहि॒ मा वि दी॑ध्यो॒ मात्र॑ तिष्ठः॒ परा॑ङ्मनाः ॥ ९ ॥

मैतं पन्था॒मनु॑ गा भी॒म ए॒ष येन॒ पूर्वं॒ नेय॑थ॒ तं ब्र॑वीमि ।
तम॑ ए॒तत्पु॑रुष॒ मा प्र प॑त्था भ॒यं प॒रस्ता॒दभ॑यं ते अ॒र्वाक् ॥ १० ॥

रक्ष॑न्तु त्वा॒ग्नयो॒ ये अ॒प्स्व१॒॑न्ता रक्ष॑तु त्वा मनु॒ष्या॒३॒॑ यमि॒न्धते॑ ।
वै॒श्वा॒न॒रो र॑क्षतु जा॒तवे॑दा दि॒व्यस्त्वा॒ मा प्र धा॑ग्वि॒द्युता॑ स॒ह ॥ ११ ॥

मा त्वा॑ क्र॒व्यादु॒भि मं॑स्ता॒रात्संक॑सुकाच्चर ।
रक्ष॑तु त्वा॒ द्यौ रक्ष॑तु पृथि॒वी सूर्य॑श्च त्वा॒ रक्ष॑तां च॒न्द्रमा॑श्च । अ॒न्तरि॑क्षं रक्षतु देवहे॒त्याः ॥ १२ ॥

अर्थ— (श्यामः च शबलः च) काले और श्वेत अर्थात् अंधकार और प्रकाशवाले (श्वा-नौ) कल न रहनेवाले ये दिन रात (यमस्य पथिरक्षी प्रेषितौ) नियामक देवके दो मार्गरक्षक हैं। (अर्वाङ् एहि) इधर आ। (मा विदीध्यः) विलाप मत कर। (अत्र पराङ्मनाः मा तिष्ठ) यहां विरुद्ध दिशामें मन रखकर मत रह ॥ ९॥

(एतं पन्थां अनु मा गाः) इस बुरे मार्गका अनुसरण मत कर, (भीमः एषः) यह भयंकर मार्ग है। (येन पूर्वं न ईयथ) जिससे पहिले नहीं जाते हैं (तं ब्रवीमि) उस विषयमें मैं कहता हूं। हे (पुरुष) मनुष्य ! (एतत् तमः) यह अन्धकारका मार्ग है, उस मार्गमें (मा प्र पत्थाः) मत जा। (ते परस्तात् भयं) तेरे लिये परे भय है (अर्वाक् ते अभयं) और इधर अभय है ॥ १० ॥

(ये अप्सु अन्तः अग्नयः) जो जलोंमें अग्नियां हैं वे (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें। (यं मनुष्याः इन्धते त्वा रक्षतु) जिसको मनुष्य प्रदीप्त करते हैं वह अग्नि तेरी रक्षा करे। (जातवेदाः वैश्वानरः रक्षतु) ज्ञातवेद सब मनुष्योंमें रहनेवाली अग्नि तेरी रक्षा करे। (विद्युता सह दिव्यः मा धाग्) बिजलीके साथ रहनेवाली द्युलोककी अग्नि तुझे न जलावे ॥ ११ ॥

(क्रव्यात् त्वा मा अभि मंस्त) कच्चा मांस खानेवाला तेरा वध न करे। (संकसुकात् आरात् चर) नाश करनेवालेसे तू दूर होकर चल। (द्यौः त्वा रक्षतु) द्युलोक तेरी रक्षा करे, (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी रक्षा करे। (सूर्यः च चन्द्रमाः च त्वा रक्षतां) सूर्य और चन्द्रमा तेरी रक्षा करें। (देवहेत्याः अन्तरिक्षं रक्षतु) दैवी आघातसे अन्तरिक्ष तेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

भावार्थ— सबका नियमन करनेवाले ईश्वरके दिन (प्रकाश) और रात्री (अंधकार) ये दो मार्गदर्शक हैं। ये दोनों अशाश्वत हैं, परंतु ये तेरे मार्गकी रक्षा करेंगे। अतः तू आगे बढ, विलापमें समय न गवां, तथा विरुद्ध दिशामें अपना मन कदापि न जाने दे ॥ ९ ॥

इस भयानक घोर बुरे मार्गसे न जा। जिससे जाना योग्य नहीं उस मार्गपरसे न जानेके विषयमें मैं तुझे यह आदेश दे रहा हूं। अर्थात् तू इस अन्धकारके मार्गमें कदापि न जा, इससे जानेमें आगे बडा भय है। अतः तू इस ओर रह, इस मार्गपर यदि तू रहेगा तो तेरे लिये यहां अभय होगा ॥ १० ॥

जलकी उष्णता, अग्नि, विद्युत्, सूर्य तथा मानवीसमाज इनमेंसे किसीसे तेरा अकल्याण न हो, इनसे तेरी उत्तम रक्षा होवे ॥ ११ ॥

घातपात करनेवाले दुष्टोंसे तेरी रक्षा होवे। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, चन्द्रमा, सूर्य आदि सब तेरी रक्षा करें ॥ १२ ॥

*

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम् ।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥ १३ ॥
ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
जीवेभ्यस्त्वा समुद्रे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः ।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि ॥ १५ ॥
मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः ।
उत्त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥
उत्त्वा द्यौरुत्पृथिव्युत्प्रजापतिरग्रभीत् । उत्त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

अर्थ— (बोधः च प्रतीबोधः च त्वा रक्षतां) ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें । (अस्वप्नः च अनवद्राणः च त्वा रक्षतां) चैतन्यता और निर्भयता तेरी रक्षा करें । तथा (गोपायन् च जागृविः च त्वा रक्षतां) रक्षक और जागनेवाला तेरी रक्षा करें ॥ १३ ॥

(ते त्वा रक्षन्तु) वे तेरी रक्षा करें । (ते त्वा गोपायन्तु) वे तेरा पालन करें । (तेभ्यः नमः) उनको नमस्कार है । (तेभ्यः स्वा-हा) उनके लिये आत्म-समर्पण है ॥ १४ ॥

(त्रायमाणः धाता सविता वायुः इन्द्रः) रक्षक, पोषक, प्रेरक, जीवनसाधन प्रभु (जीवेभ्यः त्वा सं+उद्रे दधातु) सब प्राणियोंके लिये तथा तेरे लिये पूर्ण उत्कृष्टता धारण करे । (त्वा प्राणः बलं मा हासीत्) तेरे लिये प्राण बल न छोडे । (ते असुं अनु ह्वयामसि) तेरे प्राणको हम अनुकूलताके साथ बुलाते हैं ॥ १५ ॥

(जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्) विनाशक और घातक तुझे कभी न प्राप्त करे । (तमः त्वा मा) अन्धकार तेरे ऊपर कभी न छाये । (जिह्वा मा) जिह्वा अर्थात् किसीके बुरे शब्द तेरे श्रवणपथमें न आवें । भला (बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः) तू यज्ञकर्ता होकर घातक कैसे होगा ? (आदित्याः वसवः इन्द्र-अग्नी) आदित्य, वसु, इन्द्र और अग्नि (स्वस्तये) कल्याणके लिये (त्वा उत् भरन्तु) तुझे उच्चताके प्रति ले जावें ॥ १६ ॥

(द्यौः उत्) द्युलोक (पृथिवी उत्) पृथिवी और (प्रजापतिः त्वा उत् अग्रभीत्) प्रजापालक देव तुझे ऊपर उठावें । (सोमराज्ञी ओषधयः) सोम जिनका राजा है ऐसी औषधियां (त्वा मृत्योः उद् अपीपरन्) तुझे मृत्युसे ऊपर उठावें अर्थात् तेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

भावार्थ— ज्ञान और विज्ञान, चैतन्यता और निर्भयता रक्षक और जागनेवाला तेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

जो तेरी रक्षा और पालन करते हैं, उनको प्रणाम करना और उनके लिये अपनी ओरसे कुछ समर्पित करना चाहिए ॥ १४ ॥

देव सब जीवोंको और तुझको उन्नतिके पथमें रखें । तेरे पास प्राण और बल पूर्ण आयुतक रहे ॥ १५ ॥

कोई नाशक और घातक तेरे पास न पहुंचे । अज्ञान और अन्धकार तेरे पास न आवे । बुरे शब्दोंका प्रयोग कोई न करे । स्मरण रख कि जो यज्ञ करता है उसके पास नाश नहीं आता और सूर्यादि सब देव तेरा कल्याण करेंगे और तेरी उन्नतिमें सहायक होंगे ॥ १६ ॥

प्रजाका पालक देव, द्युलोकसे पृथ्वीपर्यंतकी औषधियां आदि सब पदार्थ मृत्युसे तेरा बचाव करें ॥ १७ ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः । इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि ॥ १८ ॥
उत्त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः । मा त्वा व्यस्तकेश्योऽ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥
आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः । सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ २० ॥
व्यवात्ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत् । अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो! (अयं इह एव अस्तु) यह यहां इस लोकमें ही रहे, (अयं इतः अमुत्र मा गात्) यह यहांसे वहां अर्थात् परलोकमें न जावे । (सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत् पारयामसि) हजारों बलोंसे युक्त उपायसे इस मनुष्यकी मृत्युसे हम रक्षा करते हैं ॥ १८ ॥

(मृत्योः त्वा उत् अपीपरं) मृत्युसे तुझको हम पार कराते हैं । (वयोधसः सं धमन्तु) अन्न अथवा आयुको धारण करनेवाले देव तुझे पुष्ट करें । (व्यस्तकेश्यः अघः-रुदः) बालोंको खोल खोलकर बुरी तरहसे रोनेवाली स्त्रियां (मा त्वा रुदन्, मा त्वा) तेरे लिये न रोयें, अर्थात् तेरी मृत्युके कारण उनपर रोनेका प्रसंग न आवे ॥ १९ ॥

(त्वा आहार्षं) मैं तुझे लाया हूँ । (त्वा अविदं) तुझे पुनः प्राप्त किया है । (पुनः नवः पुनः आगाः) पुनः नया होकर आया है । हे (सर्वांग) संपूर्ण अंगोंवाले मनुष्य ! (ते सर्वं चक्षुः) तेरी पूर्ण दृष्टि और (ते सर्वं आयुः च) तेरी पूर्ण आयु तुझे (अविदं) प्राप्त करायी है ॥ २० ॥

अब (त्वत् तमः व्यवात्) तेरे पाससे अन्धकार चला गया है । (अप अक्रमीत्) तेरेसे दूर चला गया है । (ते ज्योतिः अभूत्) तेरा प्रकाश फैल गया है । (त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अप नि दध्मसि) तुझसे दुर्गति और मृत्युको हम दूर हटाते हैं तथा तुझसे (यक्ष्मं अप निदध्मसि) रोगको हम दूर करते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे देवो ! इस मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त होवे, इसके पाससे मृत्यु दूर होवे । सहस्र प्रकारके बलोंसे युक्त औषधियोंकी सहायतासे इसके मृत्युको हमने दूर किया है ॥ १८ ॥

अब यह मृत्युसे पार हो चुका है । आयु देनेवाले इसके लिये आयु दें । अब स्त्रियां या पुरुष इसके लिये न रोयें, क्योंकि यह जीवित हो गया है ॥ १९ ॥

मैं तुझे रुग्णस्थितिसे आरोग्यस्थितिकी ओर लाया हूं अर्थात् तुझे नवीन जैसा प्राप्त किया है । मानो, तू नया ही हो गया है । तेरे सर्व अंग पूर्ण हो गये हैं, तेरी चक्षु आदि इंद्रियें और तेरी आयु तुझे प्राप्त हो गई है, अतः तू अब दीर्घकाल जीवित रहेगा ॥ २० ॥

अन्धकार तेरे पाससे भाग गया है । और तेरा प्रकाश चारों ओर फैल गया है । दुर्गति और मृत्यु दूर हट गये हैं और रोग दूर भाग गये हैं । इस प्रकार तू नीरोग और दीर्घायु हो गया है ॥ २१ ॥

दीर्घायु प्राप्तिका मार्ग

धर्मक्षेत्र

मनुष्यके लिये यह शरीर धर्मका साधन है। यही इसका 'कुरुक्षेत्र' अथवा 'कर्मक्षेत्र' किंवा 'धर्मक्षेत्र' है। इसमें रहता हुआ और पुरुषार्थ करता हुआ यह मनुष्य अमरत्त्व प्राप्त कर सकता है, और पुरुषार्थसे हीन होता हुआ यही जीव अधोगति भी प्राप्त कर सकता है। इसलिये इस शरीर रूपी साधनको सुरक्षित रखने और इससे अधिकसे अधिक काम लेनेके लिये इसको दीर्घकाल तक जीवित रखना आवश्यक है। इसी कारण दीर्घायु प्राप्त करनेका मार्ग धर्मग्रंथोंमें बतलाया है। इस सूक्तमें इसी शरीरके विषयमें कहा है—

इमं अमृतं सुखं रथं आरोह। (मं. ६)

'न मरे हुए और सुखकारक इस (शरीररूपी) रथपर आरोहण कर।' इसमें 'सु+ख' शब्दसे 'सु' उत्तम अवस्थामें 'ख' इंद्रियोंवाले आरोग्यपूर्ण सुदृढ शरीरको प्राप्त करनेकी सूचना दी है। 'सु+ खं रथं' का अर्थ है उत्तम इंद्रियोंवाला यह शरीररूपी रथ, यह मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इसका दूसरा गुण 'अ+मृत' शब्दसे बताया है। मरे हुए या मुर्दे जैसे दुर्बल और रोगी शरीरको 'मृत' कहते हैं, और जो सतेज, तेजस्वी, बलिष्ठ, सुदृढ, नीरोग और कार्यक्षम शरीर होता है उसको 'अ-मृत' कहते हैं। जिस शरीरको देखनेसे जीवनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है, उसीको अमृत शरीर कहते हैं। शरीर कैसा होना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर इस मंत्रने दिया, कि 'शरीर अमृत और सुखकारक होना चाहिये।' बहुत लोगोंको मृत और दुःखी शरीर प्राप्त हुए होते हैं। वैसे शरीरोंसे मनुष्यके जीवनकी सफलता नहीं हो सकती।

दूसरा मार्ग

यहां शरीरको 'रथ' कहा है। इसको 'रथ' इसलिये कहा है कि, इसमें बैठकर मनुष्य ब्रह्मलोकको पहुंच सकता है। इतना लंबा मार्ग इसी शरीरसे मनुष्य उत्तम रीतिसे पार कर सकता है। दूर ग्रामको जानेके लिये जिस प्रकार उत्तम अश्वरथ, जलरथ (नौका), अग्निरथ (रेलगाडी), वायुरथ (विमान) आदि विविध रथ होते हैं, उसी प्रकार मुक्तिधामतक पहुंचनेके लिये इस शरीररूपी रथमें बैठकर, उसके अश्वस्थानीय इंद्रियोंको सुशिक्षित करके धर्मपथपरसे जाना पडता है। इस विषयमें उपनिषदोंमें कहा है—

रथी और रथ

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३॥

शरीररूपी रथ
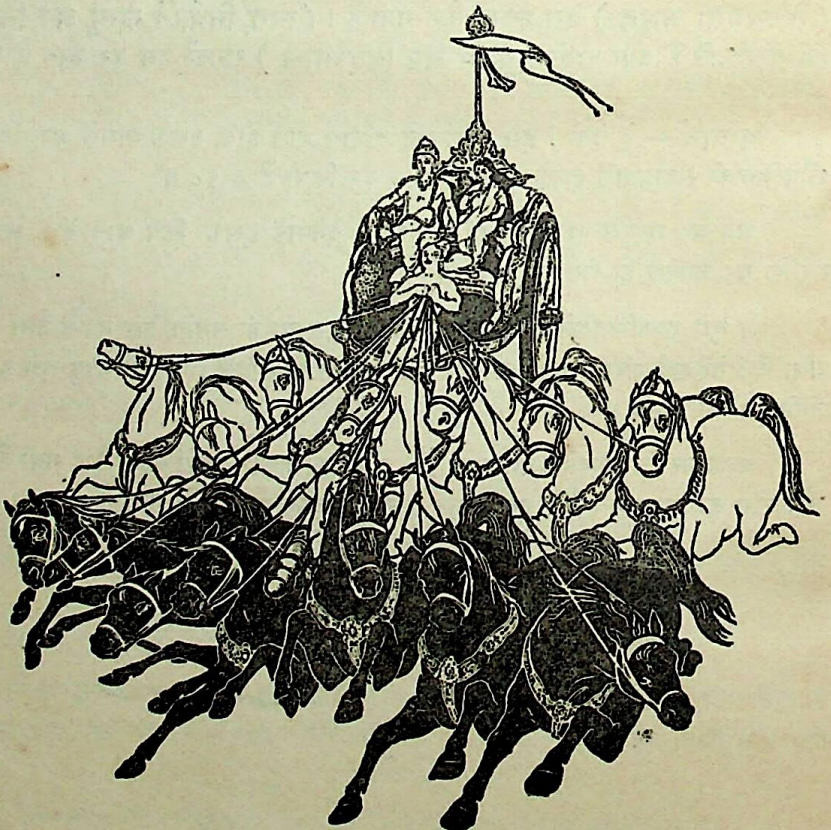
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥
यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥
(कठ उ. ३)

'आत्मा रथका स्वामी है, शरीर उसका रथ है, बुद्धि उसका सारथी और मन लगाम है। इंद्रियरूपी घोडे इस रथमें जोते गए हैं, जो विषयोंके क्षेत्रोंमें संचार करते हैं। आत्मा इंद्रियोंसे और मनसे युक्त होनेपर भोक्ता कहा जाता है। जो विज्ञानसे हीन और संयमरहित मनसे युक्त है, उसके आधीन इंद्रियरूपी घोडे नहीं रहते, अर्थात् वे रथके स्वामीको जिधर चाहे उधर फेंक देते हैं। परंतु जो विज्ञानवान् और मनका संयम करनेवाला होता है, उसके आधीन उसकी संपूर्ण इंद्रियां रहती हैं। जो विज्ञानरहित, असंयमी मनवाला और सदा अपवित्र होता है, वह उस मुक्ति स्थानको प्राप्त नहीं होता और वारंवार संसृतिमें गिरता है, परंतु जो विज्ञानी, संयमी और पवित्र होता है, वह उस स्थानको प्राप्त करता है, जहांसे वारंवार आना नहीं पडता। जिसका विज्ञान सारथी है और मनरूपी लगाम जिसके स्वाधीन है वही मार्गके परे जाता है वही व्यापक देवका परम स्थान है।'

इसमें इस रथका उत्तम वर्णन है, इसके घोडे, सारथी, उत्तम शिक्षित घोडे, अशिक्षित घोडे, इसका जानेका मार्ग, कौन वहां जाता है और कौन नहीं पहुंच सकता, यह सब वर्णन इस स्थानपर है। यह रथ अमृतकी प्राप्ति करानेवाला है, इसलिये इसको दीर्घकालतक सुरक्षित रखना चाहिये और इसको नीरोग भी रखना चाहिये। रोगी और अल्पजीवी होनेसे यह रथ निकम्मा होता है और मनुष्यका ध्येय प्राप्त नहीं होता। मनुष्य इसपर चढे, लगाम स्वाधीन रखे, और ज्ञान विज्ञान द्वारा योग्य मार्गसे चले, अर्थात् संयमसे व्यवहार करे और अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करे। यही भाव इस सूक्तद्वारा सूचित किया गया है—

(हे) पुरुष! अतः उत्क्राम। मा अवपत्थाः। (मं. ४)
(हे पुरुष) ते उत्-यानं। न अवयानम्। (मं. ६)

'हे मनुष्य! तू यहांसे ऊपर चढ, नीचे न गिर। हे मनुष्य! तेरी गति ऊपरकी ओर ही हो, नीचेकी ओर कभी न हो।' मनुष्यको यह देह इसीलिये प्राप्त हुआ है कि वह सदा ऊपर ही चढे और नीचे कभी न गिरे। गिरना या चढना इसके आधीन है। यदि यह चाहे तो उठ सकता है और यदि यह चाहे तो गिर भी सकता है। यही भाव अन्य शब्दोंमें इसी सूक्तमें कहा है—

ज्योतिकी प्राप्ति

आ इहि। तमसः ज्योतिः आरोह।
ते हस्तौ रभामहे। (मं. ८)

'हे मनुष्य! इस मार्गसे चल, अंधकारके मार्गको छोड और प्रकाशके मार्गसे ऊपर चढ, यदि तुझे सहारा चाहिये तो हम तेरा हाथ पकडकर सहायता देनेको तैयार हैं।' महापुरुष, साधु, सन्त, महात्मा, योगी, ऋषि उन्नतिके पथमें सहायता देनेके लिये सदा तैयार रहते हैं, उनकी सहायता लेनेके लिये ही अन्य मनुष्योंकी तैयारी चाहिये। जो निष्ठासे उन्नतिके पथपर चढना चाहता है, उसको सहायता मिलती जाती है। न पूछते हुए भी उच्च श्रेणीके पुरुष उन्नत होनेवालोंकी सहायता सदा करते ही रहते हैं। इसी विषयमें आगे कहा है—

अर्वाङ् एहि। अत्र पराङ्मनाः मा तिष्ठ। (मं. १)

'इस ओर आ। यहां विरुद्ध विचार मनमें धारण करके मत ठहर।' यहां धर्ममार्गपर आनेका आदेश है। इससे भी विशेष महत्त्वका उपदेश यहां कहा है वह 'पराङ्मनाः मा तिष्ठ' यह है, इसमें 'पराङ्मनाः (पर+अञ्च्+मनाः) यह शब्द हरएकको विशेष रीतिसे ध्यानमें रखने योग्य है। इसका अर्थ (पर) शत्रुकी (अञ्च) अनुकूलतामें जिसका मन लग गया है। शत्रुको ओर जिसका मन झुका हुआ है। जो मनसे शत्रुका हित चाहता है अथवा जो शत्रुके अनुकूल होकर केवल अपना व्यक्तिगत लाभ चाहता है और अपनी जातिके हित-अहित नहीं देखता। इस प्रकारका हीन विचारवाला कोई मनुष्य न होवे। यह शत्रुसे भी अधिक घातक है, अतः कहा है, कि (पराङ्मनाः अत्र मा तिष्ठ) यहां विरोधियोंके आधीन अपने मनको मत कर अर्थात् स्वकीयोंके अनुकूल होकर ही यहां रह। राष्ट्रीय और जातीय दृष्टिसे भी इसका भाव अत्यंत विचारणीय है। जो इस प्रकारके हीन वृत्तिवाले लोग होते हैं, जो अपने स्वार्थके लिये समाज और

राष्ट्रका घात करनेके कारण पाप करते हैं, वे दीर्घजीवी नहीं होते। इसलिये कोई मनुष्य ऐसी स्वार्थकी वृत्ति न धारण करे। सदा वीरवृत्तिवाले मनुष्य हों, जो अपना और समाजका हित साधें।

शोकसे आयुष्यनाश

शोक करना भी आयुका घात करता है। कई मनुष्य गुजरे हुए बुजुर्गोंका नाम स्मरण करके दिनरात शोक करते हैं, उनकी यहां अवनति तो होती ही है, परंतु साथ साथ आयु भी क्षीण होती है; अतः इस सूक्तमें कहा है—

गतानां मा आदिधीथाः, ये परावतं नयन्ति।
(मं. ८)

' गुजरे हुए मनुष्योंका स्मरण करके शोक न करो, क्योंकि ये शोक दूरतककी गहरी अवनतिको पहुंचा देते हैं। ' शोक करनेसे अपना मन ही गिरता है। जिसका शोक किया जाता है वह तो मरा हुआ होता ही है, अतः उसको किसी प्रकार लाभ नहीं पहुंच सकता, परंतु जो जीवित रहते हैं उनका समय व्यर्थ जाता है और इसके अतिरिक्त मन उदास होता है, उसकी विचार करनेकी और श्रेष्ठतम पुरुषार्थ करनेकी शक्ति खत्म हो जाती है; इस प्रकार सदा शोकमें मग्न रहनेवाला पुरुष इहलोक व परलोकके लिये निकम्मा ही सिद्ध होता है।

बूढों और बुजुर्गोंके मरनेपर शोक न करना ठीक है, परंतु जब नवजवान मर जाते हैं तब भी शोक करना योग्य है वा नहीं, इस शंकाके विषयमें वेदका कहना यह है कि—

व्यस्तकेश्यः अघरुदः त्वा मा रुदन्। (मं. १०)

' बालोंको अस्तव्यस्त करके सिर खोल खोल, छाती पीट कर बुरी प्रकार रोनेवाले लोग भी न रोयें। ' क्योंकि मरणके पश्चात् रोने पीटनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि, इस वेदके उपदेशके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यकी दीर्घायु होगी, अतः उसके पश्चात् रोनेपीटनेका कोई कारण ही नहीं रहेगा, क्योंकि निःसन्देह दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपदेश इस स्थानपर कहा है और उसके लिये एक उपाय यह है ' मन शोकाकुल न करना। ' अतः जो मनुष्य दीर्घजीवी बनना चाहते हैं, कमसे कम वे लोग तो कभी अपना मन शोकसे व्याकुल न करें। यह उपदेश सर्वसाधारण जनोंके लिये भी बडा बोधप्रद है। कई प्रांतों और जातियोंमें स्यापा (छाती पीट पीटकर रोना) करनेकी रीति है, मरणोंके बाद सम्बन्धी रोते पीटते रहते हैं, कई प्रांतोंमें तो किराये पर भी रोनेवाले रखे जाते हैं, इनका धंदा ही रोनेका होता है !! यह सब अवनतिकारक प्रथा है और उसको एकदम बन्द करना चाहिये। इस पद्धतिसे संपूर्ण जातिकी आयु घटती है।

हिंसकोंसे बचना

दुष्ट मनुष्योंकी संगतिमें रहनेसे भी आयु घटती है। दुष्ट मनुष्य और दुष्ट प्राणियोंके घातकी सदा संभावना रहती है, अतः इनसे दूर रहनेकी आज्ञा यहां दी है—

क्रव्यात् त्वा मा अभिमंस्त।
संकुसुकात् आरात् चर॥ (मं. १२)
जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्। (मं. १६)

' कच्चा मांस खानेवाला प्राणी या मनुष्य तेरी हिंसा न करे। जो घातपात करनेवाला है उससे दूर हो और जो हिंसाशील है वह तुझे न जाने। ' इसका तात्पर्य यह है कि हिंसाशील प्राणियोंके आघातसे किसीकी अपमृत्यु न होवे। वीरवृत्तिसे युद्धादिमें जो मृत्यु होती है उसका यहां निषेध नहीं है। दीर्घायु प्राप्त करनेवाले मनुष्य धर्मयुद्धमें न जाते हुए घरमें छिपकर मृत्युसे बचें, यह इसका आशय नहीं। वह मृत्यु तो अमरत्व प्राप्त करानेवाली है। यहां तो हिंसक जानवरोंके द्वारा होनेवाली मृत्यु सिंह, व्याघ्र, सांप आदिके कारण अथवा ऐसे जन्तुओंके कारण जो अपमृत्यु होती है उससे बचनेका तथा कुसंगतिसे बचनेका उपदेश है। दीर्घायु प्राप्त करनेके जो इच्छुक हैं उनको चाहिए कि वे इन आपत्तियोंसे अपने आपका बचाव करें।

अवनतिके पाश

जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे अपने आपको मृत्युके और अवनतिके पाशोंसे बचावें। दीर्घायु प्राप्त करनेके उपायका आशय ही यह है, इस विषयमें देखिये—

दैव्या वाचा निर्ऋत्याः पाशेभ्यः त्वा उद्धरामसि।
(मं. ३)
मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः। (मं. ४)

' दिव्य वाणी अर्थात् जो शुद्ध वाणी है, उसकी सहायतासे निर्ऋतिके पाशोंसे तुझे हम ऊपर उठाते हैं। मृत्युके पाशको हम खोलते हैं। ' निर्ऋति अर्थात् अधोगतिके पाश बडे कठिन होते हैं। जो उनमें अटक जाते हैं उनकी अवनति होती है। निर्ऋति क्या है ? और ऋति क्या है इसका विचार इस प्रकार है—

निर्ऋति	ऋतिः
एकाकी जीवन	सैन्यसमूह, संघ
अगति, विरुद्धगति	गति, प्रगति
युद्धसे भागना, अधर्मयुद्ध	वीरता, धर्मयुद्ध
अमार्ग	मार्ग
अवनति	उन्नति
असत्य, अयोग्यता	सत्य, योग्य
नाश, विनाश	रक्षण, अमरत्व
अपवित्रता,	पवित्रता
तम, अन्धकार	प्रकाश, स्वच्छता
सडावट, रोग	नीरोगता
आपत्ति, विपत्ति	संपत्ति
संकट	अनुकूलता
विरुद्ध परिस्थिति	अनुकूल परिस्थिति
शाप	वर
मृत्यु	मृत्यु दूर करना
असत्य, असत्यमें रमना	सत्य, सत्याग्रह

निर्ऋतिके और मृत्युके पाश कौनसे हैं और उनसे कैसे बचाव करना चाहिये, इसकी कल्पना इस कोष्टकका विचार करनेसे पाठकोंके मनमें सहज ही में आ सकती है। निर्ऋतिके इन पाशोंको तोडना चाहिये और ऋतिके साथ अपना संबंध जोडना चाहिये। इसी विषयमें और देखिये—

ते मनः तत्र मा गात्। मा तिरः भूत्। (मं. ७)
एतं पन्थानं मा गाः। एष भीमः। (मं. १०)

'तेरा मन इस अधोगतिके, निर्ऋतिके मार्गमें कभी न जावे, तथा उस मार्गमें जाकर वहीं छिप न जावे। इस अवनतिके मार्गसे मत जा, क्योंकि यह बडा भयानक मार्ग है।' यह मार्ग बडा भयानक है, इससे जो जाते हैं वे दुर्गतिको पहुंचते हैं, अतः कोई मनुष्य इस मार्गसे न जावे। अर्थात् जो दूसरा सत्यका मार्ग है उससे जाकर अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति करे। निर्ऋतिका मार्ग अंधकारका है, अतः जाते समय ठोकरें लगती हैं और गिरावट भी भयानक होती है, अतः कहते हैं—

एतत् तमः, मा प्रपत्थाः, ते परस्तात् भयं।
अर्वाक् अभयम्। (मं. १०)
तमः त्वा मा विदत्। (मं. १६)

'यह अन्धकार है, इसमें तू मत गिर, क्योंकि इस मार्गसे जानेसे तेरे लिये आगे भय उत्पन्न होगा। जबतक तू उस मार्गमें नहीं जाता और इस सत्यमार्गपर ही रहता है, तब तक तू निर्भय है। भय तो उस असत्यके मार्गपर ही है। उस गिरावटके मार्गमें जानेका मोह तुझे उत्पन्न न हो।'

ये आदेश सर्व साधारणके लिये उपयोगी हैं, अतः इनका मनन सबको करना योग्य है। जिनसे आयु क्षीण हो उन बातोंको अपने आचरणमें लाना योग्य नहीं है। मनुष्यको प्रतिक्षणमें गिरावटके मार्गमें जानेका मोह होता है, उस मोहसे अपने आपका बचाव करना हरएकका कर्तव्य है। इसीसे दीर्घ आयु प्राप्त होनेमें सहायता होती है। मनुष्य गिरावटके प्रलोभनमें न फंसे, इस बातकी सूचना देनेके लिये निम्नलिखित मंत्र कहा है—

ज्ञान और विज्ञान

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षता-
मस्वप्नश्च त्वानवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्। (मं. १३)

'ज्ञान और विज्ञान, फुर्ती और चापल्य, तथा रक्षक और जाग्रत तेरी रक्षा करे।' यहां जो ये छः नाम हैं वे विशेष मनन करने योग्य हैं। विशेष कर जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं उनको तो ये छः शब्द बडे ही बोधप्रद हो सकते हैं—

(१) बोध उसको कहते हैं कि जो इंद्रियोंसे जगत्का ज्ञान प्राप्त होता है, जो भी पहिला भास है।

(२) प्रतिबोध वह है कि जो विचार और मननके पश्चात् सत्यज्ञान होता है तथा जो अन्यान्य प्रमाणोंकी कसौटीसे भी सत्य होता है।

यह ज्ञान और विज्ञान मनुष्यको मोहमें गिरानेवाला न हो। सत्यज्ञान और सत्यविज्ञान कभी गिरानेवाला अथवा मोह उत्पन्न करनेवाला नहीं होता, तथापि शत्रुके द्वारा जो फैलाया जाता है, उसीको ज्ञान विज्ञान मानकर कई भोले लोग उसको स्वीकार करते हैं और भ्रममें पडते हैं, मोहवश होते हैं और गिरते हैं। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि 'ज्ञान विज्ञान मनुष्यकी रक्षा करनेवाले हों।' जो मनुष्य ज्ञान विज्ञान प्राप्त करते हैं, वे विचार करें कि जो ज्ञान विज्ञान हम ले रहे हैं, वह सच्चा ज्ञान विज्ञान है वा नहीं और इससे हमारी सच्ची रक्षा होगी या नहीं। शत्रुके दिये हुए भ्रमोत्पादक ज्ञानसे (वस्तुतः अज्ञानसे) आयु, आरोग्य और बल क्षीण हो जाता है और सत्य ज्ञानसे आयु, आरोग्य तथा बल वृद्धिको प्राप्त होता है। इससे पता लग

सकता है कि ज्ञान और विज्ञानका महत्त्व दीर्घायुकी प्राप्तिमें कितना है; अब आगे देखिये—

फूर्ति और स्थिरता

(३) अस्वप्न शब्दका अर्थ निद्रा न आना नहीं है, वह तो रोगी अवस्था है। निद्रा तो मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। यहां ' अ-स्वप्न ' का अर्थ है ' सुस्तीका न होना ' मनुष्यको सुस्त नहीं रहना चाहिये। मनुष्यके अन्दर फुर्ती अवश्य चाहिये। फुर्तीके विना मनुष्य विशेष पुरुषार्थ कर नहीं सकता। अतः यह गुण मनुष्यके लिये सहायक है।

(४) अनवद्राण का अर्थ है न भागना, मंदगति न होना, पीछे न हटना। जो स्थिति प्राप्तकी है, उसी पर दृढ रहना और संभव हो तो आगे बढनेकी तैयारी करना।

वस्तुतः उन्नतिके पथमें जानेके लिये ये गुण बडे उपयोगी हैं, परंतु कई मनुष्योंमें ऐसे कुछ बेढंगी फुर्ती होती है कि उससे उनकी हानि ही होती है। इसलिये यहां यह मंत्र पाठकोंको सावध कर रहा है कि ऐसी फुर्ति और गतिसे बचो और जिससे अपनी निःसंदेह उन्नति हो ऐसी फूर्ति अपनेमें बढाओ। पुरुषार्थी मनुष्यमें फूर्ति तो चाहिये परंतु ऐसी चाहिये कि जो विघातक न हो। पहिले कहे गए ज्ञान और विज्ञान गुरु आदिसे प्राप्त करने होते हैं, ये फूर्ति और गति अपने ही अन्दर होते हैं, परंतु विशेष रीतिसे उनको ढालना पडता है। इसके पश्चात् दो और गुण शेष हैं, उनका विचार अब देखिये—

रक्षा और जाग्रति

(५) गोपायन् नाम उसका है कि जो दूसरोंका संरक्षण करता है। इसका अर्थ रक्षा करनेवाला है।

(६) जागृवि जागता हुआ रक्षा कार्यमें दत्तचित्त होता है। अर्थात् ये दोनों रक्षा कार्य करनेवाले हैं।

यहां ' जागृविः गोपायन् च त्वा रक्षतां '। (मं. १३) जागनेवाला और रक्षा करनेवाला तेरी रक्षा करें ऐसा कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि कई जागनेवाले भी रक्षाका कार्य नहीं करते और कई रक्षक भी रक्षाका कार्य नहीं करते। चोर रात्रीमें जागता है, परंतु वह जनताकी रक्षा नहीं करता, इसी प्रकार कई रक्षणकार्यपर नियुक्त हुए ओहदेदार भी प्रजाकी रक्षा नहीं करते, परंतु रिश्वतें आदि खा-खाकर प्रजाको सताते हैं। इस प्रकारके अनंत लोग हैं जो जागते हैं और रक्षाके कार्यमें अपने आपको रखते भी हैं, परंतु लोगोंको इनसे अपने आपका बचाव करना चाहिये। क्योंकि ये स्वार्थसाधक हैं। अतः लोग विचार करें कि सच्चे रक्षक कौन हैं और जनहित करनेके लिये कौन जागते रहते हैं। जो सच्चे रक्षक हैं उनको ही रक्षक मानना और जो स्वार्थसाधक हैं उनको दूर करना चाहिये। तभी सच्ची रक्षा होगी, कल्याण होगा, जनतामें शान्ति रहेगी और अन्तमें ऐसी सुस्थितिमें आयु भी दीर्घ होगी और नीरोग अवस्था रहनेसे जनता सुखी होगी। दीर्घायु प्राप्त करनेमें ये सब बातें सहायक हैं, इनके विना अकेलेके वैयक्तिक प्रयत्नसे पर्याप्त दीर्घायु नहीं प्राप्त हो सकती। अर्थात् सामाजिक और राजकीय परिस्थितिके अनुकूल रहनेसे मनुष्यकी आयु दीर्घ होती है और प्रतिकूल होनेसे आयु घटती है। इसीलिये स्वतंत्र देशके लोग दीर्घजीवी होते हैं और परतंत्र देशमें अल्पायु प्रजा होती है।

सामाजिक पाप

दीर्घजीवी मनुष्यके सामाजिक और राजकीय कर्तव्य भी है यह दर्शानेके उद्देश्यसे इस सूक्तमें स्वतंत्र आदेश विशेष रीतिसे कहा है—

जीवेभ्यः मा प्रमदः। (मं० ७)

' संपूर्ण जीवोंके लिये अपना कर्तव्य करनेके समय तू प्रमाद न कर। ' इससे स्पष्ट होता है कि हरएक मनुष्यका अन्य प्राणियोंके संबंधमें कुछ विशेष कर्तव्य है, अर्थात् अन्य मनुष्य और पशुपक्षी जीवजन्तु आदिके संबंधमें कुछ कर्तव्य हैं और उसमें प्रमाद नहीं होना चाहिये। प्रमाद होनेसे इस व्यक्तिका और समाजका भी नुकसान होगा अतः प्रमाद न करते हुए यह कर्तव्य करना चाहिये। इन कर्तव्यों के ठीक प्रकार होनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। अर्थात् इस सामाजिक कर्तव्यको निर्दोष रीतिसे करनेवाले लोग समाजमें जितने अधिक होंगे, उतने ही उस समाजमें दोष कम होंगे और उस प्रमाणसे उस देशके मनुष्योंकी आयु दीर्घ होगी। सामाजिक कार्यके विषयमें उदासीन और सामाजिक कार्यको प्रमादयुक्त करनेवाले लोग जिस समाजमें अधिक होंगे उस समाजमें अल्पायु लोगोंकी संख्या अधिक होगी। जबतक संपूर्ण समाज निर्दोष नहीं होता तबतक मनुष्योंकी दीर्घायु नहीं होगी। दूषित समाजमें एक व्यक्ति चाहे कितना भी निर्दोष हो तथापि सब समाजके दोषोंका परिणाम उस व्यक्ति पर होगा ही। इसलिये सांघिक जीवनको निर्दोष बनाना आवश्यक है।

पितॄन् मा अनुगाः। (मं० ७)

'हे मनुष्य ! तू पितरोंके पीछे न जा।' अर्थात् शीघ्र मत मर। यह आदेश मनुष्यको दीर्घायु प्राप्त करनेकी प्रेरणा करनेके उद्देश्यसे कहा गया है। यदि मनुष्य प्रयत्न करेगा, तो उसको दीर्घ जीवन प्राप्त होगा, अन्यथा उसकी आयु अल्प ही होती जायेगी।

सूर्यप्रकाशसे दीर्घायु

दीर्घ जीवन प्राप्त करनेके लिये सूर्यप्रकाश बडा सहायक है। जो लोग अपनी आयु बढानां चाहते हैं वे इस अमृतपूर्ण सूर्यप्रकाशसे अवश्य लाभ उठावें--

सूर्यः ते तन्वे शं तपाति। (मं. ५)
अस्माल्लोकात् अग्नेः सूर्यस्य संदृशः मा छित्थाः। (मं. ४)
इह अमृतस्य लोके सूर्यस्य भागे अस्तु। (मं. १)

'सूर्य तेरे शरीरको सुख देनेके लिये ही तपता है। अतः सूर्यके प्रकाशसे अपना संबंध न छोड। यहां अमृतपूर्ण स्थान अर्थात् सूर्यके प्रकाशित भागमें रह।' इसीसे आयु दीर्घ होगी। जो लोग तंग मकानके अंधेरे तंग कमरेमें रहते हैं, जहां सूर्यप्रकाश उनको नहीं मिलता वे अल्पजीवी होते हैं। शरीरके चमडीपर सूर्य प्रकाश लगना चाहिये। थोडेसे भी सूर्यप्रकाशके चमडीपर लगनेपर जिनको कष्ट होता है वे दीर्घ जीवनके अधिकारी नहीं है। मनुष्य सदा कपडोंसे वेष्टित रहते हैं अतः वे सूर्यके जीवनसे वंचित रहते हैं। यदि मनुष्य सूर्यातपस्नान करेंगे तो उनके रक्तमें सूर्यकिरणोंसे जीवनविद्युत् प्रविष्ट होगी और उनको अधिक लाभ होगा। सूर्यके विषयमें प्रश्नोपनिषद्‌में कहा है—

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५॥
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ (प्रश्न उ. १)

'सूर्य ही प्राण है और जो सब अन्य मूर्त अथवा अमूर्त हैं वह रयि है। यह सूर्य प्रजाओंका प्राण है जो उदयको प्राप्त होता है।' इतनी सूर्यकी महिमा है, अतः इस सूक्तमें कहा है कि, 'सूर्यके प्रकाशसे अपना संबंध न छोड।' क्यों कि यह सूर्यप्रकाश ऐसा है कि, जिससे मनुष्यकी आयुष्य-मर्यादा वृद्धिंगत हो जाती है। जो जो प्राणी सूर्य प्रकाशसे अपना संबंध छोडते हैं वे अल्पायु होते हैं। सूर्य ही जीवनका समुद्र है, इसलिये इससे दूर होना अयोग्य है। सूर्यके समान अन्य देव भी मनुष्यका जीवन दीर्घ करते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र भाग देखिये—

भगः अंशुमान्सोमः मरुतः देवाः इन्द्राग्नी स्वस्तये उत्। (मं. २)
मातरिश्वा वातः तुभ्यं पवताम्। (मं. ५)
आपः अमृतानि तुभ्यं वर्षन्ताम्। (मं. ५)
इह विश्वे देवाः तुभ्यं रक्षन्तु। (मं. ७)
अग्नयः जातवेदाः वैश्वानराः दिव्यः विद्युतः ते रक्षन्तु। (मं. ११)
द्यौः पृथिवी सूर्यः चन्द्रमाः अन्तरिक्षं त्वा रक्षताम्। (मं. १२)
त्रायमाण इन्द्रः जीवेभ्यः त्वा सं-उद्रे दधातु। (मं. १५)
आदित्या वसव इन्द्राग्नी स्वस्तये त्वा उद्धरन्तु। (मं. १६)
द्यौः पृथिवी प्रजापतिः सोमराज्ञी ओषधयः त्वा मृत्योः उदपीपरन्। (मं. १७)

'पृथिवी, जल (आप्), अग्नि, वायु, वसु, (सोम-राज्ञी ओषधयः) सोमादि औषधियां, (प्रजापतिः) प्रजापालक राजा, वैश्वानर, जातवेदा आदि पृथ्वीस्थानीय देवता हैं, अन्तरिक्षस्थानमें रहनेवाले अन्तरिक्ष (आपः) मेघ-स्थानीय जल, मातरिश्वा वातः, (मरुतः) वायु, चन्द्रमा, इन्द्र, विद्युत्, (प्रजापतिः) मेघ आदि देवता हैं और द्युलोकमें रहनेवाले द्यौ, सूर्य, आदित्य, भग, प्रजापति (परम आत्मा) आदि देवता हैं, ये सब देवता मनुष्यको दीर्घ आयुष्य देवें।' पाठक जान सकते हैं कि इनमेंसे प्रत्येक देव-ताका संबंध प्राणीकी दीर्घायुके साथ कैसे है। प्राणी तृषित होनेपर जलसे प्राण लेता है, भूख लगनेपर औषधिवनस्पतियां, फूलोंफलों और कन्दोंसे प्राणीको जीवन देती हैं, सूर्यप्रकाश तो सभी पदार्थोंमें जीवन रखता ही है इसी प्रकार अन्यान्य देवतासे जीवन लेकर मनुष्यादि प्राणी प्राण धारण करते हैं, इस विषयमें विस्तारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

ये सब देव (वयो-धसः) आयुको धारण करनेवाले हैं, ये (संधमन्तु) मनुष्यमें दीर्घजीवनकी स्थापना करें। इन देवोंसे जीवनशक्ति प्राप्त करनेका ही नाम यज्ञ है, इसी-लिये कहा है कि—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(भ. गी. ३।११)

'यज्ञसे देवोंको संतुष्ट करो और देव तुम सबको संतुष्ट करेंगे, इस प्रकार परस्परको आनन्द प्रसन्न करते हुए तुम सब परम श्रेय प्राप्त करो।' इस प्रकार यह यज्ञका संबंध है, अतः इस सूक्तमें कहा है कि—

वर्हिः प्रमयुः कथा स्यात् ? (मं. १६)

'भला यज्ञ विघातक कैसे हो सकता है ?' सच्चा यज्ञ विधिपूर्वक किया जाय तो कभी घातक नहीं होगा, प्रत्युत पोषक ही होगा। इस रीतिसे सूर्यादि देवोंसे शक्ति प्राप्त करके मनुष्य अपनी शक्तिका विकास कर सकता है और यहां आनन्दसे रहकर दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है। इसी प्राणधारणके विषयमें इस सूक्तमें कहा है—

ते प्राणा अपाना इह रमन्तां।
अयं पुरुषः असुना सह। (मं. १)
इह ते असुः, इह प्राणः, इह आयुः, इह ते मनः। (मं. २)
त्वा प्राणः बलं मा हासीत्।
ते असुं अनु ह्वयामसि। (मं. १५)

इस रीतिसे यज्ञ द्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके 'तेरे अन्दर प्राण, अपान, आयु, मन, बल आदि स्थिर रहे।' अर्थात् मनुष्यको दीर्घजीवन प्राप्त हो।

ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि। (मं. ६)

'मनुष्यमें जो जीवन और बल है' वह सब शुभकर्म करनेके लिये ही है, यज्ञके लिये ही है। मनुष्यको जो दीर्घायु प्राप्त करनी है, बहुत बल प्राप्त करना है वह इसी कार्यके लिये है, वह सब श्रेष्ठतम यज्ञरूप कर्मके लिये ही है—

अयं इह अस्तु, अयं इतः अमुत्र मा गात्। (मं. १८)
मृत्योः त्वा उदपीपरम्। (मं. १९)
त्वा आहार्षं, त्वा अविदं, पुनः नवः आगाः। (मं. २०)
हे सर्वांग ! ते सर्वं चक्षुः ते सर्वं आयुः च अविदम्। (मं. २०)
त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अपनिदध्मसि।
यक्ष्मं अपनिदध्मसि। (मं. २१)
सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत्पारयामसि। (मं. १८)

'यह मनुष्य इसी लोकमें रहे, परलोकमें न जावे, अर्थात् न मरे। मृत्युसे तुझे बचाया है। मृत्युसे तुझे लाया हूँ, मानों तू नया बन कर आगया है, तेरा नया ही जीवन बन गया है। हे सर्वांगसंपूर्ण मनुष्य। चक्षु, आयु आदि सब तुझे प्राप्त हुए हैं। तुझसे दुर्गति, मृत्यु और रोग दूर हुए हैं। हजारों बलवीर्यवाली औषधियोंके प्रयोग द्वारा तुझे मृत्युसे बचाया है।'

इस प्रकार दीर्घ जीवन प्राप्त करनेमें मणिमंत्र औषधिके विविध प्रयोग करके यह सिद्धि प्राप्त करनी होती है। इसके दीर्घजीवनीय उपाय आयुर्वेद, योगसाधन आदिमें विस्तारपूर्वक देखने योग्य हैं। अतः इनका विस्तार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं।

तम और ज्योति

त्वत् तमः व्यवात्, अप अक्रमीत्।
ते ज्योतिः अभूत्। (मं. २१)

'तुझसे अन्धकार दूर हो चुका है और तेरा प्रकाश हुआ है।' इस मंत्र द्वारा जीवनके एक महासिद्धान्तका वर्णन किया है। मनुष्यका जीवन सचमुच प्रकाशका जीवन है। बहुत थोडे लोग इसका अनुभव करते हैं। प्रत्येक मनुष्यका एक एक प्रकाशका वर्तुळ स्वतंत्र है, जैसा जिसका सामर्थ्य अधिक उतना उसका वर्तुळ बडा प्रभावशाली होता है। जिसका आत्मिक बल कम होगा उसका प्रकाशवर्तुळ भी छोटा होता है। यह छोटा या कमजोर भी हुआ तभी आकाशतक, नक्षत्रोंतक फैलने योग्य विस्तृत होता है। मनुष्य जब मरने लगता है, तब यह प्रकाशवर्तुळ छोटा छोटा होता जाता है, जो मरनेतक अपने अन्तिम अनुभव बोल सकता है, वह इस बातको प्रत्यक्ष रूपसे कह सकता है। अन्तिम समय क्षणक्षणमें जिसका प्रकाशवर्तुळ छोटा होता है वह वैसा कहता भी है। मनुष्यकी आत्मापर (तमः) अन्धकार या अविद्याका आवरण पडना ही मृत्यु है। अन्तःसमयमें जब यह वर्तुळप्रकाश केवल अंगुष्ठमात्र रह जाता है तब मृत्यु होती है। यह अनुभव इस मंत्र द्वारा व्यक्त किया है। 'हे मनुष्य! तेरे ऊपर अन्धेरेका आवरण आ रहा था, वह अब दूर हो गया है और पूर्ववत् तेरी ज्योति जगत्में फैल गयी है।' यह २१ वें मंत्रभागका आशय है। यह आत्मप्रकाशका अनुभव है। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है। जितने जगत्का मनुष्यको ज्ञान होता है, वहांतक इसका यह प्रकाशवर्तुळ फैला हुआ है, बेहोश मनुष्य इस प्रकाशका अनुभव नहीं कर सकता अतः यह बिचारा कुछ कह नहीं सकता। बेहोशीका अर्थ ही प्रकाशवर्तुळका संकोच होना है। बेहोश होनेवाला मनुष्य कहता ही है कि मेरे आंखके सामने अंधेरा छा गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इसका जो प्रकाश फैला था वह संकुचित हो गया, इसलिये इसकी जीवनशक्ति कम हुई और वह मूर्छित हो गया।

दो मार्गरक्षक

श्यामश्च शबलश्च यमस्य पथिरक्षी श्वानौ ।

(मं. ९)

' काला और श्वेत ऐसे दो यमके मार्गरक्षक श्वान हैं । ' यहां ' श्वान ' शब्दका अर्थ कई लोगोंने ' कुत्ता ' किया है और इसका अर्थ ऐसा माना है कि ' यमके दो कुत्ते यम-लोकके मार्गमें रहते हैं । ' परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। ' श्वान ' शब्दका अर्थ यहां ' (श्वा-न; श्वः+न) जो कल नहीं रहता ' यह है। यम नाम सूर्य अर्थात् कालका है, इसके श्वेत दिन और कृष्णवर्ण रात्रीका समय ये दो भाग ' कलतक न रहनेवाले ' केवल आज ही रहनेवाले हैं। इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा भी है—

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः।

(ऋ० ६।९।१)

' एक (अहः) दिन काला होता है और दूसरा श्वेत होता है । ' येही दिन और रात हैं। येही यमके दो-श्वेत और काले मार्गरक्षक हैं। हरएक मनुष्यके मार्गकी रक्षा ये दोनों करते हैं। इनमेंसे प्रत्येक आज है परंतु कल तो निःसन्देह नहीं रहेगा। ये दोनों यमके रक्षक हैं ऐसा जानकर और हरएकके पीछे ये लगे हैं, कोई इनसे छूटा नहीं है, यह जान-कर इन रक्षकोंके सामने कोई पापकर्म न करे और सदा अच्छा सत्कर्म ही किया करे। पाप कर्म करनेसे ये यमके मार्गरक्षक किसीको छोडते नहीं। अर्थात् पापीको अवश्य दण्ड मिलेगा। यह दण्ड आयुकी क्षीणता ही है। अन्य रोगादि भी हैं ! यह यम बडा प्रवल है किसीको छोडता नहीं, अतः उसको नम्र होकर रहना चाहिये —

मृत्यवे अन्तकाय नमः। (मं० १)

मृत्युः दयताम्। (मं० ५)

' मृत्युको नमस्कार हो, मृत्यु दया करे ' इत्यादि प्रकार मृत्युके सामर्थ्यकी जाग्रति मनमें रखना चाहिये और उसका डर मनमें रखना चाहिये। उससे दयाकी याचना करना चाहिये। इतनी नम्रता मनमें हो तो मनुष्य सहसा पाप नहीं कर सकता। कमसे कम इससे पापप्रवृत्ति न्यून तो अवश्य होगी। इसी प्रकार—

गोपायन्ति रक्षन्ति, तेभ्यः नमः स्वाहा च ।

(मं० १४)

' जो पालन और रक्षा करते हैं, उनको नमस्कार और समर्पण हो । ' इससे पूर्व पालकों और रक्षकोंकी गिनती की है, उन सबके लिये अपनी ओरसे यथायोग्य समर्पण अवश्य होना चाहिये। यही यज्ञ है। जो यज्ञके विषयमें इससे पूर्व लिखा है वह पाठक यहां देखें। यज्ञ और (स्वाहा=स्वा-हा) समर्पण एक ही बात है और नमन भी उसीमें संमिलित है।

इस प्रकार विचारवान् सुविज्ञ मनुष्य वृद्ध अवस्थामें सत्य ज्ञानका उपदेश देनेमें समर्थ होता है—

उपदेशक

जिर्विः विदथं आवदासि। (मं० ६)

' इस प्रकारका वृद्ध मनुष्य अपने ज्ञानका उपदेश कर सकता है । ' तबतक किसीको उपदेश देनेका वह अधिकारी नहीं है। इससे पूर्व कहे हुए उपदेशोंके अनुसार आचरण करके जो मनुष्य सदाचाररत होकर वृद्ध होता है, वही योग्य उपदेश देनेमें समर्थ होता है।

इस सूक्तके स्मरण करने योग्य उपदेश

(१) इहायमस्तु पुरुषः सहासुना
सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके। (अ० ८।१।१)

' जो मनुष्य दीर्घायु प्राप्त करना चाहता है, वह सूर्यके प्रकाशके प्रदेशमें रहे क्योंकि वहां अमृत रहता है। '

(२) उत्क्रामातः पुरुष, माव पत्थाः
मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ॥ (अ० ८।१।४)

' हे मनुष्य ऊपर चढ, नीचे मत गिर और मृत्युके पाश तोड दे। '

(३) सूर्यस्ते शं तपाति। (अ० ८।१।५)

' सूर्य तेरा कल्याण करनेके लिये तपता है। '

(४) उद्यानं ते पुरुष नावयानम् (अ० ८।१।६)

' हे मनुष्य ! तेरी उन्नति हो, अवनति न हो। ' यह वाक्य भगवद्गीता (६।५) के ' उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ' (अपना उद्धार करना चाहिये, कभी अपनी अवनति नहीं करनी चाहिये) इस वाक्यके समान है।

(५) मा जीवेभ्यः प्रमदः। (अ० ८।१।७)

' प्राणियोंके संबंधमें जो कर्तव्य है उसमें प्रमाद न कर। '

(६) मा गतानामादीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
(अ० ८।१।८)

' गत बातोंका शोक न कर, वे अधोगतिमें दूरतक ले जाते हैं।'

(७) मात्र तिष्ठ पराङ्मनाः। (अ० ८।१।९)

' यहां विरुद्ध दिशामें मन करके खडा न रह। '

दीर्घायु

कां. ८, सू. २

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– आयुः ।)

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते ।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥
जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय ।
अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥ २ ॥
वाताचे प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव ।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन् ॥ ३ ॥
प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि ।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (इमां अमृतस्य श्नुष्टिं आरभस्व) इस अमृत रसके पानको प्रारंभ कर। (ते जरत्–अष्टिः अच्छिद्यमाना अस्तु) वृद्धावस्थातक तेरा जीवन भोग अविच्छिन्न रीतिसे होवे । (ते असुं आयुः पुनः आभरामि) तेरे प्राण और जीवनको मैं तेरे अन्दर पुनः भरता हूं । (रजः तमः मा उपगाः) भोग और अज्ञानके पास न जा। (मा प्र मेष्ठाः) मत मर ॥ १ ॥

(जीवतां ज्योतिः अर्वाङ् अभि–एहि) जीवित मनुष्योंकी ज्योतिको इस ओरसे प्राप्त हो । (त्वा शत-शारदाय आ हरामि) तुझे सौ वर्षकी आयुके लिये लाता हूं । (मृत्युपाशान् अशस्तिं अवमुञ्चन्) मृत्युके पाशों और अकीर्तिको हटाता हुआ (ते प्रतरं द्राघीयः आयुः दधामि) मैं तेरे लिये उत्कृष्ट दीर्घ आयु देता हूं ॥ २ ॥

(वातात् ते प्राणं अविदं) वायुसे तेरे प्राणको प्राप्त करता हूं । (अहं सूर्यात् तव चक्षुः) मैंने सूर्यसे तेरे नेत्रको प्राप्त किया है । (यत् ते मनः त्वयि धारयामि) जो तेरा मन है उसको मैं तेरे अन्दर स्थापित करता हूं । (अंगैः संवित्स्व) अपने सब अवयवोंको प्राप्त हो । (जिह्वया लपन् वद) जिह्वासे शब्दोचार करता हुआ तू बोल ॥३॥

(जातं अग्निं इव) अभी उत्पन्न हुए अग्निके समान (त्वा द्विपदां चतुष्पदां प्राणेन संधमामि) तुझे द्विपाद और चतुष्पादोंके प्राणसे संयुक्त करता हूं । हे मृत्यो ! (ते चक्षुषे नमः) तेरी नेत्र इंद्रियके लिये नमन और (ते प्राणाय नमः अकरं) तेरे प्राणके लिये मैं नमन करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे रोगी मनुष्य ! तू इस अमृतरसरूपी औषधिरसका पान कर और दीर्घायुसे युक्त बन । तेरे अन्दर प्राण पुनः स्थिर रखता हूं । तू भोगमय जीवन और अज्ञानके पास न जा । और शीघ्र न मर ॥ १ ॥

जीवित मनुष्योंमें जो एक विलक्षण तेज होता है उसे प्राप्त कर और सौ वर्ष जीवित रह । मृत्युके पाशको तोड । तेरी आयु बढाता हूं ॥ २ ॥

वायुसे प्राण, सूर्यसे नेत्र तुझे देता हूं । तेरे अन्दर मन स्थिर रहे । तेरे सब अवयवोंकी पुष्टि होवे और तेरी जिह्वासे उत्तम शब्द निकले ॥ ३ ॥

जिस प्रकार अग्निकी छोटी ज्वालाको धमनीसे थोडी थोडी वायु देकर प्रदीप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार तेरे अन्दर स्थित थोडेसे प्राणको हम अनेक उपायोंसे प्रदीप्त करते हैं । मृत्युको हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि । कृणोम्यस्मै भेषजं मा पुरुषं वधीः ॥५॥
जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥६॥
अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु ।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥७॥
अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितोऽयमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८॥
देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत्त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥९॥

अर्थ— (अयं जीवतु) यह पुरुष जीवित रहे, (मा मृत) न मरे। (इमं सं ईरयामसि) इसको हम सचेत करते हैं। (अस्मै भेषजं कृणोमि) इसके लिये मैं औषध बनाता हूं। हे मृत्यो ! (पुरुषं मा वधीः) इस पुरुषका वध न कर ॥ ५॥

(अहं अस्मै अरिष्ट-तातये) मैं इसको सुखका विस्तार करनेके लिये (जीवलां) जीवन देनेवाली (नघारिषां) हानि न करनेवाली (त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीं) रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली और बल बढाने-वाली, (जीवन्तीं हुवे) जीवनीय औषधिको देता हूं ॥ ६ ॥

(अधि ब्रूहि) तू उपदेश कर, (मा आरभथाः) बुरा वर्ताव न कर, (इमं सृज) इस पुरुषको जगत्में चला, (तव एव सन्) तेरा ही होकर यह (सर्वहायाः इह अस्तु) पूर्ण आयुतक यहां रहे । (भवा-शर्वौ) हे भव और शर्व ! तुम दोनों (मृडतं) सुखी करो, (शर्म यच्छतं) सुख दो। (दुरितं अपसिध्य) पापको दूर करके (आयुः धत्तं) दीर्घ आयु प्रदान करो ॥ ७ ॥

हे मृत्यो ! (अस्मै अधि ब्रूहि) इसको उपदेश कर, (इमं दयस्व) इसपर दया कर । (अयं इतः उत् एतु) यह इस विपत्तिसे ऊपर उठे और (अ-रिष्टः सर्वाङ्गः) पीडारहित सर्व अंगोंसे पूर्ण एवं (सु-श्रुत्) उत्तम ज्ञान या श्रवण शक्तिसे युक्त होकर (जरसा शतहायनः) वृद्धावस्थामें सौ वर्षसे युक्त होकर (आत्मना भुजं अश्नुतां) अपनी शक्तिसे भोगोंको प्राप्त करे ॥ ८ ॥

(देवानां हेतिः त्वा परिवृणक्तु) देवोंका शस्त्र तुझे दूर रखे । मैं (त्वा रजसः पारयामि) तुझे रजससे पार करता हूं । (त्वा मृत्योः उत् अपीपरं) तुझे मृत्युसे ऊपर उठाया है, तू मृत्युसे दूर होचुका है। (क्रव्यादं अग्निं आरात् निरूहं) मांसभक्षक अग्निको दूर रखता हूं और (ते जीवातवे परिधिं दधामि) तेरे जीवनके लिये यह मर्यादा निश्चित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ— यह मनुष्य दीर्घजीवी होवे, शीघ्र न मरे । ऐसी शक्ति इसमें संचालित करते हैं। इस रोगीको हम औषध देते हैं । इसकी मृत्यु न हो ॥५॥

इसके दीर्घजीवनके लिये जीवन्ती औषधिके रसको देता हूं । यह आयुष्य बढानेवाली, बल देनेवाली, दोष हटाने-वाली और रोग दूर करनेवाली है ॥ ६ ॥

इस दीर्घजीवनके उपायका जनताको उपदेश कर, कोई बुरा आचरण न करे, यह पुरुष इससे निर्दोष होकर जगत्में संचार करे । इसको दीर्घजीवन प्राप्त हो । इसको सुखमय शरीर मिले, रोग और दोष दूर हों और पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ ७ ॥

इसको आरोग्य प्राप्तिका उपदेश कर, मृत्यु इसपर इस समय दया करे, यह सब प्रकार अभ्युदयको प्राप्त होवे, इसके सब अवयव पूर्ण रीतिसे बढें, निर्दोष हों । यह ज्ञानवान् होकर पूर्णायु होवे और अन्ततक अपने प्रयत्नसे अपने लिये आव-श्यक भोग प्राप्त करे ॥ ८ ॥

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् । पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥
कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् । ॥ १३ ॥
शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ । शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

अर्थ— हे मृत्यो ! (यत् ते अनवधर्ष्यं रजसं नियानं) जो तेरा न जीतने योग्य रजोमय मार्ग है (तस्मात् पथः इमं रक्षन्तः) उस मार्गसे इस पुरुषकी रक्षा करते हुए हम (अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि) इसके लिये ज्ञानका कवच प्रदान करते हैं ॥ १० ॥

(ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घं आयुः स्वस्ति कृणोमि) तेरे लिये प्राण अपान, बुढापा, दीर्घ आयु और अन्तमें मृत्यु भी कल्याणमय करता हूं । (वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान्) विवस्वान् सूर्यसे उत्पन्न कालके भेजे हुए सर्वत्र संचार करनेवाले सब यमदूतोंको (अपसेधामि) मैं दूर करता हूं ॥ ११ ॥

(अरातिं) शत्रु, (निर्ऋतिं) दुर्गति, (ग्राहिं) रोग, (क्रव्यादः) मांसभक्षक जन्तु, (पिशाचान्) मांस खानेवाले (रक्षः) विनाशक और (यत् सर्वं दुर्भूतं) जो सब अहितकारी है, (तत् तमः इव) उसको अन्धकारके समान अपने पाससे (परः आरात् अपहन्मसि) दूर हटाते हैं ॥ १२ ॥

(अमृतात् आयुष्मतः जातवेदसः अग्नेः) अमर आयुवाली जातवेद अग्निसे मैं (ते प्राणं वन्वे) तेरे प्राणको प्राप्त करता हूं । (यथा अमृतः न रिष्याः) जिससे अमर होकर तू विनष्ट न हो । (सजूः असः) उसके साथ रह, (तत् ते समृध्यतां) वह तेरा कार्य समृद्धियुक्त होवे ॥ १३ ॥

(द्यावापृथिवी ते असन्तापे) द्यौ और पृथ्वी लोक तेरे लिये सन्ताप न देनेवाले, (शिवे अभिश्रियौ) शुभ और श्रीसे युक्त (स्तां) हों । (सूर्यः ते शं आतपतु) सूर्य तेरे लिये सुख देता हुआ प्रकाशित होवे । (ते हृदे वातः शं वातु) तेरे हृदयके लिये वायु सुखदायी होकर बहे । (दिव्याः पयस्वतीः आपः) आकाशके मेघमंडलसे प्राप्त होनेवाले और पृथ्वीपर बहनेवाले जलप्रवाह (त्वा शिवाः अभिक्षरन्तु) तेरे लिये शान्ति देते हुए बहते रहें ॥ १४ ॥

भावार्थ— देवोंके शस्त्र तुझपर न गिरें । तुझे भोगवृत्तिसे परे ले जाता हूं । मृत्युको हटाता हूं । मुर्दोंको जलानेवाली अग्नि तेरे पाससे दूर होवे और तू पूर्णायुकी अन्तिम मर्यादातक जीवित रह ॥ ९ ॥

मृत्युका मार्ग जीता नहीं जा सकता, तथापि उससे हम इसकी रक्षा करते हैं और इसको ज्ञानका कवच देते हैं जिससे इसकी रक्षा हो ॥ १० ॥

प्राण अपान, वृद्धावस्था, दीर्घ आयु आदिके कारण तुझे सुख प्राप्त हो । तुझे कष्ट देनेवालोंको मैं दूर करता हूं ॥ ११ ॥
शत्रु, विपत्ति, रोग, विनाशक, घातक और क्षीणता करनेवालोंको दूर हटाता हूं ॥ १२ ॥

अमर और आयु देनेवाले अग्नि देवसे मैं तेरे लिये प्राण लाता हूं । इससे तेरी मृत्यु नहीं होगी । तू यहां जीवित रहेगा और समृद्धिसे युक्त होगा ॥ १३ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, भूलोकमें रहनेवाले सब पदार्थ अर्थात् सूर्य, वायु, जल आदि सब तेरे लिये सुख देनेवाले हों ॥ १४ ॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि ।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥
यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम् । शिवं ते तन्वे३ तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ १६ ॥
यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु । शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥
शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ । एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥
यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः । यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥
अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि । अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

अर्थ— (ते ओषधयः शिवाः सन्तु) तेरे लिये औषधियां शुभ गुण युक्त हों। (अधरस्याः उत्तरां पृथिवीं) नीचली भूमिसे ऊपरकी ऊंची भूमिपर (त्वा अभि उत् आहार्षं) मैं तुझे लाया हूँ। (तत्र सूर्याचन्द्रमसौ उभौ आदित्यौ त्वा रक्षतां) वहां सूर्य और चन्द्र ये दोनों आदित्य तेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

(यत् ते परिधानं वासः) जो तेरा ओढनेका वस्त्र है, (यां त्वं नीविं कृणुषे) जिस वस्त्रको तू कमरपर बांधता है, (तत् ते तन्वे शिवं कृण्मः) उसे तेरे शरीरके लिये हम सुखदायक बनाते हैं। वह वस्त्र (ते संस्पर्शे अद्रूक्ष्णं अस्तु) तेरे स्पर्शके लिये खुरदरा न होवे अर्थात् मुलायम होवे ॥ १६ ॥

(वप्ता मर्चयता सुतेजसा क्षुरेण) तू नाई स्वच्छता करनेवाले तेज धारवाले उस्तरेसे (यत् केशश्मश्रु वपसि) जो बालों और मूंछोंका मुंडन करता है उससे (शुभं मुखं) सुंदर मुख बना और (नः आयुः मा प्रमोषीः) हमारी आयुका नाश न कर ॥ १७ ॥

(व्रीहियवौ ते शिवौ) चावल और जौ तेरे लिये कल्याणकारी (अ-बलासौ अदो-मधौ स्तां) कफ न करने-वाले और खानेपर सुखदायक हों। (एतौ यक्ष्मं वि बाधेते) ये दोनों रोगका नाश करते हैं और (एतौ अंहसः मुञ्चतः) ये दोनों पापसे मुक्त करते हैं ॥ १८ ॥

(यत् कृष्याः धान्यं अश्नासि) जो कृषिसे उत्पन्न होनेवाला धान्य तू खाता है और (यत् पयः पिबसि) जो दूध तू पीता है, तथा तेरे लिए (यत् आद्यं यद् अनाद्यं) जो खाने योग्य और जो न खाने योग्य है (तत् सर्वं ते अविषं कृणोमि) वह सब मैं तेरे लिये विषरहित करता हूं ॥ १९ ॥

(त्वा अह्ने च रात्रये च उभाभ्यां परिदद्मसि) तुझे मैं दिन और रात्री इन दोनों समयोंके लिये सौंप देता हूं। (मे इमं) मेरे इस मनुष्यकी (अरायेभ्यः जिघत्सुभ्यः परि रक्षत) दान न देनेवाले भूखोंसे रक्षा कर ॥ २० ॥

भावार्थ— औषधियां तुझे अपने शुभगुणोंसे सुख दें। इसको मृत्युकी हीन अवस्थासे आरोग्यकी उच्च अवस्थामें मैं लाया हूँ। यहां सूर्यचन्द्रादि तेरी रक्षा करें। जो तेरा ओढने और पहननेका वस्त्र है वह तेरे लिये मृदु और सुखकारक हो ॥१५-१६॥

उत्तम तेज छुरेसे जो नाई हजामत बनाता है उससे मुखकी सुंदरता बढती है। यह नाई किसीकी आयुका नाश न करे ॥ १७ ॥

चावल, जौ आदि धान्य तेरे लिये सुखदायी, खानेके लिये स्वादु, कफ आदि दोष न उत्पन्न करनेवाला, नीरोगता बढानेवाला और पापवृत्ति हटानेवाला हो ॥ १८ ॥

जो कृषिका धान्य और गौका दूध खाया पीया जाता है वह सब विषरहित हो ॥ १९ ॥

दिन और रात्रीके समय शत्रुओंसे तेरी रक्षा हो ॥ २० ॥

शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥
शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥
मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् । तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः । न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः । यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

अर्थ— (द्वे युगे) दिन रात्रीरूपी दो संधिवाली (त्रीणि) सर्दी गर्मी और वृष्टि इन तीन कालोंवाली और (चत्वारि) बाल्य, तारुण्य, मध्यम और वृद्ध इन चार अवस्थाओंवाली (ते शतं हायनान्) तेरी सौ वर्षकी आयुको हम (अ-युतं कृण्मः) अटूट अथवा अखंडित करते हैं। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः अहृणीयमानाः) इन्द्र, अग्नि और सब देव संकोच न करते हुए (ते अनुमन्यन्तां) तेरी आयुका अनुमोदन करें ॥ २१ ॥

(शरदे हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय) शरत्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म इन ऋतुओंके लिये (त्वा परि दद्मसि) तुझे हम सौंप देते हैं। (येषु औषधीः वर्धन्ते) जिस ऋतुमें औषधियां बढती हैं, वह (वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि) वृष्टिका ऋतु भी तेरे लिये सुखकारी हो ॥ २२ ॥

(मृत्युः द्विपदां ईशे) मृत्यु द्विपादोंपर प्रभुत्व करती है, (मृत्युः चतुष्पदां ईशे) मृत्यु चार पांववालोंपर अधिकार चलाती है। (तस्मात् गोपतेः मृत्योः) उस जगत्के स्वामी मृत्युसे (त्वां उद्भरामि) तुझे ऊपर उठाता हूं। (सः मा बिभेः) वह तू अब मृत्युसे मत डर ॥ २३ ॥

हे (अ-रिष्ट) अहिंसित मनुष्य ! (सः न मरिष्यसि) वह तू नहीं मरेगा। (न मरिष्यसि, मा बिभेः) निश्चयसे नहीं मरेगा, अतः डर मत। (तत्र न वै म्रियन्ते) वहां नहीं मरते हैं तथा (अधमं तमः नयन्ति) हीन अन्धकारके प्रति भी नहीं जाते हैं ॥ २४ ॥

(यत्र जीवनाय इदं ब्रह्म) जहां जीवनके लिये यह ज्ञान और (कं परिधिः क्रियते) सुखमयी मर्यादाकी स्थापना की जाती है (तत्र) वहां (गौः अश्वः पशुः पुरुषः) गाय, घोडा, पशु और मनुष्य (सर्वः वै जीवति) सब कोई जीवित रहता है ॥ २५ ॥

भावार्थ— सौ वर्षकी दीर्घ आयु तुझे प्राप्त हो और इस आयुमें दोनों संधिकाल, सर्दी, गर्मी और वृष्टिके तीनों समय सुखकारक हों। तेरी आयुकी बाल्यादि चारों अवस्थाएं एकके पीछे यथाक्रम तुझे प्राप्त हों ॥ २१ ॥

शरत्, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म ये सब ऋतु तुझे सुखदायी हों और वृष्टिसे वनस्पतियोंका उत्पन्न करनेवाला वर्षाकाल भी तेरे लिये सुखदायी हो ॥ २२ ॥

सभी द्विपाद, चतुष्पाद प्राणियोंपर मृत्यु अधिकार चलाती है, उस मृत्युके बंधनसे तुझे छुडा लिया है, अतः अब तू डर मत ॥ २३ ॥

अब तू नहीं मरेगा। अतः अब डरनेका कोई कारण नहीं है। जहां कोई मरते नहीं और जहां अंधेरा नहीं, ऐसे स्थानमें तुझे लाया हूँ ॥ २४ ॥

जहां यह ज्ञान और दीर्घजीवनकी विद्या है वहां गाय, घोडा, मनुष्य आदि सब दीर्घायु होते हैं ॥ २५ ॥

परि॑ त्वा पातु समा॒नेभ्यो॑ऽभिचा॒रात्सव॑न्धुभ्यः। अम॑म्रिर्भ॑वा॒मृतो॑ऽतिजी॒वो॑ मा ते॑ हासिषु॒रस॑वः शरी॑रम्॥ २६॥
ये मृ॒त्यव॒ एक॑शतं॒ या ना॒ष्ट्रा अ॑तिता॒र्याः। मु॒ञ्चन्तु॒ तस्मा॒त्त्वां दे॒वा अ॒ग्नेर्वै॑श्वान॒राद॑धि॑ ॥ २७॥
अ॒ग्नेः शरी॑रमसि पारयि॒ष्णु र॑क्षो॒हासि॑ सपत्न॒हा। अथो॑ अमीव॒चात॑नः पू॒तुद्रु॒र्नाम॑ भेष॒जम्॥ २८॥

अर्थ— (समानेभ्यः सवन्धुभ्यः) समान बान्धवोंसे होनेवाले (अभिचारात् त्वा परिपातु) हमलेसे तेरी रक्षा होवे। तू (अ-मम्रिः अमृतः वा अतिजीवः) अक्षीण, अमर और दीर्घजीवी हो। (असवः ते शरीरं मा हासिषुः) प्राण तेरे शरीरको न छोडें॥ २६॥

(ये एकशतं मृतवः) जो एक सौ एक मृत्यु हैं, (या अतितार्याः नाष्ट्राः) जो पार करने योग्य तथा नाश करनेवाली हैं (तस्मात्) उससे (देवाः वैश्वानरात् अग्नेः) सब देव वैश्वानर अग्निकी शक्तिसे (त्वां) तुझे (अधिमुञ्चन्तु) मुक्त करें॥ २७॥

(अग्नेः पारयिष्णु शरीरं असि) अग्निके लिए पार करने योग्य शरीरवाला तू है (रक्षोहा सपत्नहा असि) घातकों और शत्रुओंका तू नाशक है। (अथो अमीवचातनः) और रोग दूर करनेवाला है। (पू-तु-द्रुः नाम भेषजं) पवित्रता, वृद्धि और गति देनेवाली यह औषध है॥ २८॥

भावार्थ— अपने बन्धुबान्धवोंके आक्रमणसे तेरी रक्षा करते हैं। तू नीरोग होकर दीर्घायु हुआ है। तेरे प्राण तुझे अब नहीं छोडेंगे॥ २६॥

जो सैंकडों प्रकारसे आनेवाली मृत्युएं हैं और नाशके जो अन्य साधन हैं वे परमेश्वरकी कृपासे दूर हों॥ २७॥

तैजस तत्त्वका शरीर ही तेरा है। अतः तू स्वयं घातकोंका नाश करनेवाला है। तू स्वयं रोगोंको दूर करनेवाला है। तेरे ही अन्दर पवित्रता, वृद्धि और गति करनेकी शक्ति है। अतः उससे तू दीर्घायु हो॥ २८॥

दीर्घायु बननेका उपाय।

मृत्युका सर्वाधिकार

दीर्घायु बननेकी इच्छा हरएक प्राणीके अन्तःकरणमें रहती है। परंतु मृत्युका अधिकार सबके ऊपर एकसा है, इस विषयमें इस सूक्तमें कहा है—

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्।
(मं० २३)

'द्विपाद और चतुष्पाद इन सब प्राणियोंपर मृत्युका अधिकार है।' द्विपाद प्राणी दो पांववाले होते हैं जैसे मनुष्य, पक्षी आदि। चतुष्पाद प्राणी चार पांववाले पशु आदि होते हैं। इनसे अन्य भी जो प्राणी हैं जिनको बहुपाद और अपाद भी कहा जासकता है, इन सब प्राणियोंपर मृत्युका प्रभुत्व है। अर्थात् मृत्युके आधीन ये सब प्राणी हैं। मृत्युके अधिकारके बाहर इनमेंसे कोई नहीं है। सबकी अन्तिमगति मृत्युके आधीन है। मृत्यु जबतक इस लोकमें इन प्राणियोंको रहने देगी तबतक ही वे रहेंगे और जिस दिन मृत्यु प्राणीको ले जाना चाहेगी, उसी दिन प्राणी यहांसे चल बसेंगे। इसलिये मृत्युसे दयाकी याचना करते हैं—

मृत्यो! इमं दयस्व। (मं० ८)

'हे मृत्यु! इसपर दया कर।' सर्वाधिकारी ही यदि दया करेगा तभी अपना कुछ कार्य बनेगा। और यदि उसने प्राणियोंपर क्रोध किया, तो फिर उनकी रक्षा कौन करेगा। परंतु वैसे देखा जाय तो मृत्युके हाथमें सर्वाधिकार रहते हुए भी वह नियमोंके आधीन है। वह भी विशेष नियमसे चलता है। उन नियमोंके अनुसार चलनेवालोंको ही लाभ हो सकता है अतः इन नियमोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये,

इसी ज्ञानका उपदेश करना चाहिये। यही उपदेश करने योग्य विषय है। इस कारण कहा है—

जीवनीय विद्याका उपदेश

अधि ब्रूहि। (मं. ७)
अस्मै अधि ब्रूहि। (मं. ८)
अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि। (मं. १०)
सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ (मं. २५)

' मनुष्योंको इस जीवनीय विद्याका उपदेश कर। मनुष्योंको दीर्घायु प्राप्त करनेके नियमोंका उपदेश दे। जिसमें जीवनकी अवधितक सुखपूर्वक रहनेका और दीर्घजीवनके नियमोंका ज्ञान सबको उपदेश द्वारा दिया जाता है, वहां मनुष्य तो दीर्घजीवी होते ही हैं, उस देशके गाय, घोडे आदि पशु भी दीर्घजीवी हो जाते हैं। '

दीर्घजीवनकी विद्या है, उसमें दीर्घजीवन प्राप्त करनेके कुछ विशेष नियम हैं। उन जीवनीय नियमोंका ज्ञान जनताको देनेके लिये उपदेशक नियुक्त करना चाहिये। इनका यही कार्य हो कि ग्रामग्राममें जांय, वहांकी जनताका जीवन-क्रम देखें, उनका व्यवहार देखें और उनके रहने सहनेके अनुसार उनको दीर्घजीवनके लिये योग्य उपदेश दें। इस प्रकार हरएक ग्रामके लोगोंको उपदेश दिया जाय। उनसे जो भूलें होती हों, उनके विषयमें उनको समझाया जाय और उनके जीवनमें ऐसा परिवर्तन लाया जाय कि, जिससे दीर्घायु प्राप्त होने योग्य दैनिक व्यवहार वे कर सकें।

ज्ञानका कवच

इस सूक्तके दसवें मंत्रमें ' ब्रह्म वर्म ' अर्थात् ' ज्ञानरूपी कवच ' बनानेके विषयमें कहा है। ज्ञान एक बडा भारी कवच है। अन्य कवच तो क्षुद्र कवच हैं। इस कारण जिसने ज्ञानका कवच पहन लिया वह सबसे अधिक सुरक्षित हो जाता है। यहां तो यहांतक लिखा है कि जिसने ज्ञानका कवच पहन लिया उसको तो मृत्युका भी डर नहीं रहता। इतना ज्ञानके इस कवचका सामर्थ्य है। मृत्युका सामर्थ्य सबसे अधिक है, परंतु जो मनुष्य ज्ञानका कवच पहनता है उसपर मृत्युके शस्त्र भी कार्य नहीं कर सकते। ज्ञानका कवच जिसने पहन लिया है वह मृत्युके पाशोंको तोड सकता है देखिये—

अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं। (मं. २)
देवानां हेतिः त्वा परि वृणक्तु। (मं. ९)

' मृत्युके पाशोंको और अवनतिके बन्धनोंको तोड दो। देवोंके शस्त्र तुझे बन्धनसे रहित करें। ' अर्थात् देवोंके शस्त्र तेरे ऊपर न गिरें। यह अवस्था तब बनती है जब मनुष्य ज्ञानका कवच पहनता है। ज्ञानका कवच पहिने हुए मनुष्यको मृत्युके पाश बांध नहीं सकते, दुर्गति उसके पास आ नहीं सकती और देवोंके शस्त्र उसको काट नहीं सकते। इतना सामर्थ्य इसमें है, अतः इस जीवनीय विद्याका ज्ञान मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इसी ज्ञानके बलसे ज्ञानी मनुष्य मृत्युको भी आदेश देनेमें समर्थ होता है, देखिये—

मृत्यो! मा पुरुषं वधीः। (मं. ५)
देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु।
पारयामि त्वा मृत्योरपीपरम्।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहम्॥ (मं. ९)
यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्।
पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि। (मं. १०)
वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽपसेधामि सर्वान्। (मं. ११)
तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥ (मं. २३)

' हे मृत्यो! अब तू इस पुरुषका वध न कर। देवोंके शस्त्रोंसे इसका वध न हो। मैं इस ज्ञानसे इसको रज तमरूपी मृत्युसे पार करता हूं। प्रेतदाहक अग्निसे भी इसको दूर रखता हूं। हे मृत्यो! जो तेरा रज और तमयुक्त मार्ग है और जो अजेय है, उस मार्गसे हम इसका बचाव करते हैं। क्योंकि हमने ज्ञानरूपी कवच इसके लिये बनाया है। इसी ज्ञानसे हम सब यमदूतोंको भी दूर हटा सकते हैं। मृत्युसे हम इसको ऊपर उठाते हैं, अब डरनेका कोई कारण नहीं है। '

यह ज्ञानरूपी कवचकी महिमा है। ज्ञानी मनुष्य मृत्युसे भी कहता है कि ' इस समय मरनेके लिये फुरसत नहीं है, जब समय मिलेगा, तब देखा जायगा। ' ज्ञानीको मृत्युके पाश बांध नहीं सकते। देवोंके शस्त्र उसपर कार्य नहीं करते। मार्गमें मृत्युके भयसे रक्षा करनेवाला एकमात्र ज्ञान ही है। यमदूतोंका भय दूर करनेवाला शुद्ध ज्ञान ही है। इस प्रकार यह ज्ञानका ही चमत्कार है।

जहां जहां वेदमंत्रोंमें मृत्युका भय हटानेकी बात कही है, वहां इस ज्ञानसे ही मृत्युभय दूर होता है ऐसा समझना चाहिये। मृत्युका भय दूर करनेवाला ज्ञान बहुत विस्तृत

है। आयुर्वेद इसी जीवनीय ज्ञानको प्रकाशित करता है। इसका सारांशरूपसे वर्णन वेदमंत्रोंमें स्थानस्थानपर है। इस सूक्तमें भी थोडा थोडा वह ज्ञान दिया है देखिये—

रजस्तमः मा उपगाः। मा प्रमेष्ठाः॥ (मं० १)

'रज अर्थात् भोगजीवन और तम अर्थात् ज्ञानहीन जीवन इन दो हीन जीवनोंको प्राप्त न हो। इनसे दूर रहने पर तू नहीं मरेगा।' यह मंत्र जीवनीय विद्याका एक प्रधान मंत्र है। रजोगुणी जीवन और तमोगुणी जीवन आयुष्यका नाश करता है। रजो और तमोगुणी जीवनका लक्षण और फल भगवद्गीतामें कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥
(भ. गी. अ. १७)

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ १७॥
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ १८॥
(भ० गी० १४)

'कडवे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, तीखे, रूखे और जलन पैदा करनेवाले आहार राजस लोगोंको भाते हैं और वे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं॥ प्रहरतक पडा हुआ, रसरहित, बदबूवाला, रातभरका बासी, जूठा और अपवित्र भोजन तामस लोगोंको प्रिय होता है॥'

'रजोगुण रागरूप होनेसे तृष्णा और आसक्तिका मूल है। वह देहधारीको कर्मपाशमें बांधता है। तमोगुण अज्ञान-मूलक है। वह सब देहधारियोंको मोहमें डालता है और देहीको असावधानी, आलस्य और निद्राके पाशमें बांधता है। तम ज्ञानको ढक कर मनुष्य प्रमाद उत्पन्न करता है। जब तमोगुणकी वृद्धि होती है, तब अज्ञान, मन्दता, असावधानी और मोह पैदा होते हैं। रजोगुणमें मृत्यु होनेसे देह-धारी कर्मसंगियोंमें जन्म लेता है और तमोगुणमें मरनेसे मूढयोनिमें पैदा होता है। रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान है। सत्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे असावधानी, मोह और अज्ञान उत्पन्न होता है। सात्विक मनुष्य ऊंचे चढते हैं, राजसिक बीचमें रहते हैं और हीनगुणके कारण तमोगुणी अधोगतिको पाते हैं।'

इस प्रकार रजोगुण और तमोगुणसे अवनति होती है, इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि (रजः तमः मा उपगाः) रजोगुण और तमोगुणके पास न जा। क्योंकि उनसे गिरावट निःसन्देह होगी। रजोगुण और तमोगुणसे रोग भी बढते हैं और अकालमें मृत्यु भी होती है, इसलिये रजोगुण और तमोगुणके पास न जानेके लिये जो इस सूक्तमें कहा है, वह अत्यंत महत्त्वका उपदेश है। दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक इस उपदेशकी ओर विशेष ध्यान दें। इसी उपदेशको दुहराते हुए कहा है—

न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः।
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि, मा बिभेः॥
(मं० २४)

'जो हीन तमोगुणको नहीं अपनाते वे मरते नहीं। वह हिंसित नहीं होता, निश्चयसे नहीं मरता, अतः तू मत डर।' यहां कितना जोर देकर कहा है कि जो तमोगुणके पास नहीं जाता वह मरता नहीं; क्योंकि मरनेका अर्थ ही यह है कि तमरूप अंधकारसे घेरा जाना। जो तमोगुणको अपने अंदर नहीं बढने देगा वह अंधकारसे कैसे घेरा जायगा?

अन्धकारका प्रकाशवर्तुलको घेरना, प्रकाशवर्तुलका छोटा होना मृत्यु है, इस विषयमें प्रथम सूक्तमें जो लिखा है वह पाठक इस स्थानपर पुनः पढें। उसको इस मंत्रके साथ पढनेसे ही इस मंत्रका आशय ठीक प्रकार ध्यानमें आ सकता है। तमोगुणके बढनेसे मृत्युकी संभावना भी बढती है, इसी लिये शास्त्रकारोंने कहा है कि तमोगुणसे दूर रहना चाहिये। जो बाह्य कारणोंसे मृत्यु होती है उसको भी हटाना चाहिये। वे कारण निम्न लिखित मंत्रोंमें गिनाये गए हैं—

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि (मं० १२)

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात्सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥ (मं० २६)

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥
(मं० २७)

इन श्लोकोंमें मृत्युके विविध कारण बताये हैं, उनका क्रमपूर्वक विवरण देखिये—

१ **अराति**— जो (राति) परोपकार नहीं करता, स्वार्थी जीवन व्यतीत करता है, उसको अराति कहते हैं । कंजूस ही अराति है । जो सब भोग अपने लिये भोगता है वह अराति है; इस वृत्तिसे आयु क्षीण होती है ।

२ **निर्ऋति**— [निर्ऋतिके विषयमें प्रथम सूक्तके विवरण में विस्तारसे लिखा है] इस दुर्गतिसे आयुष्यका क्षय होता है ।

३ **ग्राहि**— ग्राही उन रोगोंका नाम है जो दीर्घकाल-तक रोगीको पकडे रखते हैं । जो शीघ्र दूर नहीं होते । इन रोगोंसे बचना चाहिये, क्योंकि इससे आयु क्षीण होती है ।

४ **क्रव्याद्**— मांस खानेवाले । ये भी रोगकृमि होते हैं जो शरीरका मांस खा जाते हैं और मनुष्यको कृश करते हैं । सिंह व्याघ्रादि पशु भी क्रव्याद कहे जाते हैं । नरमांस-भक्षक मनुष्य भी क्रव्याद कहे जाते हैं । इस प्रकार क्रव्याद बहुत प्रकारके हैं । इन सबसे बचना चाहिये । दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाले इनके काबूमें न जायें ।

५ **पिशाच**— शरीरके रुधिर और मांसको खानेवाले रोग-क्रिमी और पूर्वोक्त हिंसक प्राणी पिशाच हैं । इनसे भी बचना चाहिये ।

६ **रक्षः**— रक्षा करनेके बहानेसे पास आते हैं और कपटसे सर्वस्व अपहरण करते हैं । ये रोगकृमि भी हैं और सामाजिक और राजकीय क्षेत्रमें अत्याचारी शत्रु भी इनमें संमिलित हैं । राक्षस शब्दसे इन सबका बोध होता है ।

७ **दुर्भूत**— जो भी बुरा है वह सब दूर करना चाहिये; हरएक प्रकारकी बुराईको हटाना चाहिये ।

८ **तमः**— अज्ञान, हीनता आदि सब तमोगुणके प्रकार दूर करने चाहिये । इससे हरएक प्रकारकी अवनति होती है और अल्पायु भी होती है ।

९ **अभिचार**— (**समानेभ्यः सबन्धुभ्यः अभिचारः**) अपने समान जो अपनी सभ्यतावाले अपने भाई हैं, उनसे हमले होते हैं । ये हमले भी विघातक होते हैं और इनके कारण विपत्ति और मृत्यु भी होती है । अतः अपने बन्धुबांधवोंमें एक विचार होना चाहिये जिससे आयु बढनेमें सहायता होगी । । ये एक प्रकारके हमले हैं, इनसे भिन्न दूसरे प्रकारके भी हमले होते हैं वे (**विषमेभ्यः अबन्धुभ्यः अभिचारः**) अपनी सभ्यतासे विपरीत सभ्य-तावाले शत्रुओंसे जो हमले होते हैं वे भी अकाल मृत्यु लाने-वाले होते हैं, अतः इस प्रकारके शत्रु सदाके लिये दूर करने चाहिये । कोई किसीके ऊपर हमला न करे और सब आनन्द प्रसन्न रहते हुए सुखसे रहें ।

१० **शरीरं असवः मा हासिषुः**— किसी अन्य प्रकारसे होनेवाली अकाल मृत्यु भी न हो । कोई भी (**अ-मम्रिः**) मरियल न हो, (**अ-मृतः**) अकालमें न मरे, और सब (**अतिजीवः**) अतिदीर्घ कालतक जीवित रहें । मनुष्यको मरियल न रहना, अकालमें न मरना और अति-दीर्घ आयु प्राप्त करना ये तीन बातें साध्य करनी होती हैं । इसके विरुद्ध तीन विघ्न हैं जो ये हैं, एक मरियल होना, रोगादिकोंसे क्षीण होना; दूसरा अकालसे तथा व्रणादिसे पीडित होना और तीसरा अल्प आयु होना । मनुष्यका प्रयत्न इन विपत्तियोंको हटानेके लिये होना चाहिये ।

११ **एकशतं मृत्यवः**— एक सौ एक मृत्यु हैं । मृत्यु इतने अनेक प्रकारके हैं । इन सबको हटाना मनुष्यका कर्तव्य है । जीवनविद्याके नियमोंके अनुकूल व्यवहार न करनेसे ये सब अपमृत्युएं होती हैं । जो महामृत्यु है वह दूर होगी परंतु हटेगी नहीं, अपमृत्युएं सौ हों, या अधिक हों, वे सब दूर की जा सकती हैं ।

१२ **नाष्ट्राः**— जो अन्य नाशक साधन हैं वे भी (**अति-तार्याः**) दूर करने योग्य हैं । जिस जिस कारणसे मनु-ष्यादि प्राणीका नाश होता है, घात होता है, क्षीणता होती है, अवनति होती है, उन्नति रुक जाती है वे सब कारण हटाने अत्यंत आवश्यक हैं ।

१३ **तस्मात् मुञ्चतु**— पूर्वोक्त विपत्तियोंसे बचाव करनेका नाम मुक्ति है । यह मुक्ति मनुष्य इसी लोकमें प्राप्त कर सकता है और यह प्राप्त करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है । ' वैश्वानर ' की कृपासे यह मुक्ति प्राप्त हो सकती है । वैश्वानर उसको कहते हैं कि, जो (**विश्व**) सब (**नर**) मनुष्योंका एक अभेद्य संघ होता है । मानव संघको अपना ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि जिससे सबका सुख बढे, सबकी उन्नति हो और कोई पीछे न रहे । संघटित प्रयत्नसे

सबका भला हो सकता है। संघटना मानवी उन्नतिका मूल मंत्र है।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें मानवी विपत्तिके कारण बताये हैं और उनको दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। पाठक इनका विशेष विचार करें।

इससे पूर्व बता ही दिया है कि वेदको तीन बातें अभीष्ट हैं- (१) एक (अ-म्रियः) लोग मरियल न हों, हृष्टपुष्ट नीरोग और सुदृढ बनें, (२) दूसरे लोग (अ-मृतः) अमर जीवनसे युक्त, अर्थात् अमृतरूपी सुखमय जीवनवाले बनें और (३) तीसरे मनुष्य (अतिजीवः) दीर्घजीवी बनें। वेदको अभीष्ट है कि मनुष्य समाज ऐसा बने, यही बात अन्य शब्दोंसे निम्नलिखित मन्त्र भागोंमें कही है—

तें अच्छिद्यमाना जरदष्टिः अस्तु। (मं. १)
द्राघीयः आयुः प्रतरं ते दधामि। (मं. २)
अयं जीवतु, मा मृत, इमं समीरयामि,
सर्वहाया इहास्तु। (मं. ७)

'तेरी अविच्छिन्न वृद्धावस्था होवे। दीर्घ आयु उत्कृष्टरूपसे तेरे लिये धारण करता हूं। यह मनुष्य जीवित रहे, न मरे, इसको सचेत करता हूं, यह पूर्ण आयुवाला होकर यहां रहे।'

ये सब मंत्र भाग मनुष्यकी दीर्घ आयुके लिये सुयोग्य समाजकी रचना करनेके सूचक हैं। दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये व्यक्तिके अंदरका तथा समाजके अन्दरका पाप कम होना चाहिये, इसकी सूचना देनेके लिये कहा है—

अपसेध्य दुरितं धत्तमायुः। (मं. ७)

'पापको दूर करके दीर्घ आयुको धारण करो।' यही दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय है। जबतक अंदर पाप होगा, तबतक आयु क्षीण ही होती जायगी। व्यक्तिका पाप व्यक्तिमें होता है और संघका पाप संघमें होता है, इस पापसे जैसे व्यक्तिकी वैसे संघकी आयु क्षीण होती है। अतः पापको दूर करना दीर्घायु प्राप्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है। जब पाप दूर होगा, तब मनुष्य सौ वर्षकी आयुके लिये योग्य होगा—

जीवतां ज्योतिः अर्वाङ् अभ्येहि त्वा
शतशारदाय आहरामि। (मं. २)
ते जीवातवे परिधिं दधामि। (मं. ९)

'जीवित लोगोंकी ज्योतिके पास आ, तुझे सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये मैं धारण करता हूं। तेरे लिये सौ वर्षकी आयुष्यकी अवधि निश्चित करता हूं।' यह सौ वर्षकी आयुष्य मर्यादाका निश्चय उन लोगोंके लिये हो सकता है कि जिन्होंने अपना जीवन पवित्र किया है, पापरहित किया है और पुण्य संचयसे युक्त किया है। इस प्रकार दीर्घजीवनके साथ मनुष्यके पापपुण्यका संबंध है।

प्राणधारण

दीर्घायु प्राप्त करनेके लिये शरीरमें प्राण स्थिर रहने चाहिये। प्राण जबतक अशक्त अवस्थामें शरीरमें रहेंगे तबतक दीर्घायुकी प्राप्ति असंभव ही है, यह बात स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

ते असुं आयुः पुनः आभरामि। (मं. १)

'तेरी आयु और प्राणोंको तेरे अन्दर मैं पुनः भर देता हूं।' यह इसलिये कहा है कि पाठकोंके अन्दर यह विश्वास जमा रहे कि यदि किसीके प्राण अत्यन्त निर्बल हो गए हों, तो भी उनमें पुनः बल भरा जा सकता है। इस कारण निर्बल बना हुआ मनुष्य हताश न होवे, निरुत्साहित न हो, अपितु उत्साह धारण करे कि मैं वेदकी आज्ञाके अनुसार चलकर फिर नवीन बल प्राप्त कर सकता हूं और अपने अन्दर प्राण का जीवन पुनः संचारित कर सकता हूं। यह किस प्रकार साध्य किया जा सकता है, इसकी विधि यह है—

वातात्ते प्राणमाविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि
संवित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्। (मं. ३)

'वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षु तेरे लिये प्राप्त करता हूं, इस प्रकार तू सब अंगोंसे युक्त हो, मन भी तेरे अंदर स्थापित करता हूं। तू जिह्वासे भाषण कर।' यहां जीवनका साधन बताया है। वायुसे प्राण प्राप्त होता है, सूर्यसे आंख प्राप्त होती है। सूर्यदर्शन करनेसे नेत्रके बहुत दोष दूर होते हैं, सुबह-शाम प्रतिदिन टकटकी लगाकर सूर्यदर्शन करनेसे कईयोंके आंख सुधर गये हैं, और जिनके लिए ऐनकके विना पढना असंभव था वे उक्त उपायसे विना ऐनक पढने लगे हैं। इसी प्रकार जिनमें प्राण स्थानके रोग होते हैं, क्षय राजयक्ष्मा आदि तथा रक्त स्थानके पाण्डुरोग आदि रोग हैं, उनको भी शुद्ध वायुके सेवनसे और योग्य प्राणायामादि यौगिक उपायोंसे पुनः आरोग्य प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्यप्रकाश, वनस्पति, औषधि, चन्द्रप्रकाश, विद्युत् आदिके योग्य सेवनसे और उत्तम प्रयोगसे पुनः उत्तम जीवनकी और दीर्घआयुकी प्राप्ति हो सकती है। दीर्घजीवन और आरोग्य प्राप्तिका अति संक्षेपसे यह साधन है। मनुष्यके सब अंग, अवयव इंद्रियां आदि सबका

सुधार इससे हो सकता है। यह उपाय विना मूल्य बहुत अंशोंमें हो सकता है और युक्तिपूर्वक करनेसे लाभ भी निश्चयसे हो सकता है। यह ‘ निसर्गचिकित्सा ’ का मूलमंत्र है। यह उपाय किस रीतिसे करना चाहिये, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र विशेष मननपूर्वक देखने योग्य है—

अग्निं जातमिव प्राणेन त्वा संधमामि। (मं. ४)

‘ नवीन उत्पन्न हुए अग्निके समान प्राणसे तुझे बल देता हूं। ’ हवन कुण्डमें, चूल्हेमें या किसी अन्य स्थानपर अग्नि प्रदीप्त करनेके समय प्रारंभमें बहुत सावधानीसे अग्निको बहुत धीरे हवा करनी पडती है और सहज जलने योग्य सूखी लकडी अग्निके साथ लगानी पडती है। अन्यथा अग्निके बुझ जानेका भय रहता है। इसी प्रकार बीमार मनुष्यको भी सहज हजम होने योग्य अन्न देना चाहिये, प्राणायामादि योगसाधन भी थोडा थोडा करना चाहिये, औषध और पथ्यका सेवन भी योग्य प्रमाणसे करना चाहिये। ऐसा न किया तो लाभके स्थानपर हानि होगी। इसलिये कहा है कि अग्नि सुलगानेके समान प्राणकी शक्ति शनैः शनैः बढानी चाहिये। योगसाधन, औषधिसेवन तथा अन्य उपायोंसे आरोग्यवर्धन या दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है, परंतु सुयोग्य प्रमाणसे यह सब करना चाहिये। शरीरमें भी यह जीवनाग्नि ही है। हवनकी अग्निके समान ही इसको शनैः शनैः बढाना पडता है। क्योंकि अन्य संपूर्ण साधनोंके उपस्थित होनेपर भी इस नियमके पालन न करनेपर लाभकी आशा करना व्यर्थ है। परंतु इस रीतिसे जो लोग अपना लाभ सिद्ध करनेके लिये साधन करेंगे, उनका निःसन्देह भला हो सकता है, अतः कहा है—

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। (मं. ११)

‘ मैं तेरे प्राण और अपान सुदृढ करता हूं, तेरा बुढापा, तेरी मृत्यु और तेरी दीर्घ आयुके विषयमें तेरा कल्याण हो ऐसा प्रबंध करता हूं। ’ यदि कोई मनुष्य अपनी दीर्घ आयु और उत्तम आरोग्यके लिये पूर्वोक्त प्रकार यत्न करेगा, तो नियमपूर्वक चलनेपर उसका अवश्य ही लाभ होगा। इस मंत्रसे यह विश्वास. हरएकके मनमें उत्पन्न हो सकता है। नियमपूर्वक चलनेवालेकी कभी अधोगति नहीं होगी। जातवेदस् अग्निसे दीर्घजीवन प्राप्त करनेके विषयमें निम्नलिखित मन्त्रमें कहा है—

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥ (मं. १३)

‘ तेरे प्राण आयुष्य बढानेवाले जातवेद अग्निसे प्राप्त करता हूं, जिससे तू अमर हो कर नहीं मरेगा, यह तेरा अमरत्व प्राप्तिका कार्य सफल होवे। ’ जातवेद अग्निसे दीर्घायुकी प्राप्तिका संभव इस मंत्रमें बताया है। अग्नि आयु देनेवाली है, ज्ञान और धन देनेवाली है, जीवन देनेवाली है, अमरत्व देनेवाली है। वेदमें अग्निदेवके ये कार्य हैं। अग्निसे ये गुण किस रीतिसे प्राप्त करने होते हैं, इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। हमारे विचारसे आग्नेयधर्म विशिष्ट सुवर्ण पारद आदि पदार्थोंके प्रयोगोंसे तथा भल्लातक, केशर, चित्रक आदि वनस्पति भागोंसे मनुष्य नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त ‘ अग्नि ’ शब्दका अर्थ जाठर अग्नि भी है और जिसके देहमें यह अग्नि उत्तम अवस्थामें रहती है उसको नीरोगता और दीर्घायुके प्राप्त होनेमें शंका ही नहीं है। तथा जिन औषधिप्रयोगोंसे जाठर अग्नि उत्तम कार्य करनेवाली होती है वे सब चिकित्साके प्रयोग इसमें संमिलित होते हैं।

जाठर अग्नि

जाठर अग्नि चार प्रकारकी होती है। मन्द, तीक्ष्ण, विषम और सम ये इस जाठर अग्निके चार भेद हैं। इसका वैद्यक ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन आता है—

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥
विषमो वातजान्रोगान्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तकान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान्कफसंभवान्।
समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः॥
कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिच्च न पच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते॥

(मा० नि०)

‘ विषम जाठर अग्नि वातरोगोंकी निर्माण करती है, तीक्ष्ण अग्नि पित्त रोग बढाती है, मन्दाग्नि कफविकार उत्पन्न करती है। समाग्नि उत्तम प्रमाणमें भक्षण किया हुआ अन्न योग्य रीतिसे पचन करती है। मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि अथवा विषमाग्नि ये जाठर अग्नियां ठीक नहीं। इनके कारण कभी पचन होता है कभी नहीं अतः जो समाग्नि है वह सबसे श्रेष्ठ है। ’ अर्थात् आरोग्य और दीर्घायु प्राप्त करनेके इच्छुक लोगोंको यह समाग्नि अपनेमें स्थिर करनी चाहिये। इस अग्निका स्थान अपने देहमें देखिये—

वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित्सोमस्य मण्डलम् ।
तन्मध्ये मण्डलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः ॥
जरायुमात्रप्रच्छन्नः काचकोशस्थदीपवत् ॥ (भा०)

तथा—

सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन् तेजोयुक्तैर्गभस्तिभिः ।
विशोषयति सर्वाणि पल्वलानि सरांसि च ॥
तद्वच्छरीरिणां भुक्तं ज्वलनेनाभिमाश्रितः ।
मयूखैः पच्यते क्षिप्रं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् ॥
स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रः प्रमाणतः ।
कृमिकीटपतङ्गेषु वालमात्रोऽवतिष्ठते ॥ (रस० प्र०)

' नाभिके वाम भागमें सोमका मण्डल है, मध्यमें सूर्य मण्डल है, उसके अन्दर अग्नि व्यवस्थासे रह रही है। जैसे शीशेमें दीप होता है ' इस अग्निको सम रखना मनुष्यका कार्य है, सब वैद्योंको भी यही कार्य करना चाहिये। इसी प्रकार– ' जैसे सूर्य आकाशमें रहता हुआ अपनी किरणोंसे सब स्थानोंके जलको सुखाता है, उसीप्रकार यह जाठर अग्नि प्राणियोंका भक्षण किया अन्न अपनी किरणोंसे पकाती है, स्थूल देहवाले प्राणियोंमें यह जौके समान होती है और छोटे कृमियोंमें यह बालके समान सूक्ष्म प्रमाणमें रहती है। ' इसीसे सब अन्न पचता है, आरोग्य स्थिर रहता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। जैसे सूर्यके सामने घने बादल आनेसे और मेघाच्छादित दिनोंमें सौर शक्तिके न प्राप्त होनेके कारण प्राणियोंकी पाचनशक्ति कम होती है, बरसातमें इसी कारण पाचनशक्ति क्षीण होती है, इसी प्रकार प्राणियोंके अन्दरकी जाठर अग्निके प्रदीप्त स्थितिमें न रहनेपर पाचन-शक्ति कम होती है, अपचन होता है, रोग बढते हैं और जीवनकी मर्यादा क्षीण होजाती है। इस प्रकार जाठर अग्निके सम होने और विषम होनेसे प्राणियोंकी जीवन मर्यादा संबंधित है। इसी कारण (मंत्र १३ वेंमें) अग्निके लिए अर्थात् जाठर अग्निके लिए (आयुष्मत्) आयुवाला अर्थात् वायु बढानेवाला, (अमृतः) अमर, रोगादि कम करनेवाला, (प्राणं) प्राणशक्ति–जीवनशक्ति बढानेवाला इत्यादि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। इसके निम्नलिखित संस्कृत नाम भी शरीरस्थ जाठराग्निके विषयमें कैसे संगत होते हैं यह देखिये—

१ तनू–न–पात्— शरीरको न गिरानेवाला, शरीरका पतन न होने देनेवाला।
२ पावकः— पवित्रता करनेवाला।
३ हुतभुक्, हव्यभुक्— अन्न खानेवाला।
४ पाचनः— पचन करनेवाला।
५ आश्रयाशः, आशयाशः— पेटमें गये हुए अन्नको खानेवाला।

ये जाठर अग्निके नाम कितने सार्थक हैं यह भी पाठक यहां देख सकते हैं। यहां तक जाठर अग्निके गुणोंका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें है। अब अग्निके गुण वैद्यशास्त्रमें क्या लिखे हैं सो देखते हैं—

(अग्नितापः) वातकफस्तम्भताशीतकम्पघ्नः ।
आमाशयकरः रक्तपित्तकोपनश्च ॥ (राज० भा०)

' अग्निका ताप वात, कफ, स्तब्धता, शीत और कम्पको दूर करता है, रक्त और पित्तका प्रकोप करता है। आमाशय अर्थात् पेटको ठीक करता है। ' यदि अग्नितापसे भी वात, कफ और शीत संबंधके रोगोंमें लाभ होते हैं तो प्रतिदिन हवन करनेवाले लोग और हवनकी अग्निसे शरीरको तपानेवाले लोग कमसे कम इन रोगोंसे तो बच सकते हैं। हवनसे यह एक लाभ वैद्यक ग्रंथोंके प्रतिपादन द्वारा सिद्ध हुआ है। अब औषधि उपायका विचार करते हैं—

औषधिप्रयोग

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके अनेक उपाय हैं, उनमें औषधिका सेवन भी एक उपाय है। योग्य औषधिका सेवन योग्य रीतिसे करनेसे रोग दूर होते हैं, नीरोगता बढती है और दीर्घ आयु भी प्राप्त हो जाती है। इसलिये इस सूक्तमें कहा है—

इमां अमृतस्य श्नुष्टिं आरभस्व । (मं० १)

' हे मनुष्य ! तू इस अमृत रसका पान कर। ' अर्थात् जो जीवनवर्धक हो उस औषधीका रस योग्य रीतिसे सेवन कर। ' अमृत–श्नुष्टि ' का अर्थ अमरत्व देनेवाला रसपान है। ऐसे रसपानका सेवन करना चाहिये कि जो अमरपनको बढानेवाला हो। अमरपनका अर्थ दीर्घ आरोग्य और रोगोंसे पूर्णतया दूर रहना है। जो औषधिरस इन गुणोंकी वृद्धि करते हैं उनका सेवन करना योग्य है। अतः कहा है—

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः ॥ (मं. ५)

' इस मनुष्यके लिये रोगनिवृत्तिके उद्देश्यसे मैं औषध बनाता हूं, हे मृत्यु ! अब इस पुरुषका वध न कर। ' इस मंत्रसे स्पष्ट है कि पूर्वोक्त प्रकार विविध चिकित्साएं करनेसे मनुष्य पूर्ण रोगमुक्त हो सकता है और उसका मृत्युभय दूर हो जाता है। इसी विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह
हुवे स्मा अरिष्टतातये ॥ (मं. ६)

'मैं इस रोगीको सुखका विस्तार करनेके लिये जीवन देनेवाली और कभी हानि न करनेवाली, रक्षा करनेवाली, रोग हटानेवाली और बल बढानेवाली जीवन्ती नामक औषधिको देता हूं।' इस मंत्रमें जीवन्ती औषधिका उपयोग करनेका विधान है। इस औषधिका नाम जीवन्ती इसलिये है कि यह औषधि मनुष्यको दीर्घजीवन देती है। (त्रायमाणा) रोगोंसे बचाती है, आरोग्य देती है, (सहस्वती) बल देनेवाली है, मनुष्यको बलशाली करती है इतना ही नहीं, अपितु (सहमाना) विविध रोगोंको परास्त करती है, अपने बलसे क्षीणता आदिको हटाती है, इस प्रकार अनेक रीतियोंसे (त्रायमाणा) मनुष्यकी रक्षा करती है। यह औषधि कभी किसीकी हानि नहीं (न घारिषा) करती, सदा किसी न किसी रूपसे लाभ ही पहुंचाती है। इस प्रकार इस जीवन्ती औषधिका वर्णन इस वेदमंत्रमें है। इस जीवन्ती औषधिके विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित बातें मिलती हैं—

इसके फूल अत्यंत मीठे होते हैं अतः इसको 'जीवशाक' कहते हैं। इसके मधुर और अमधुर ये दो भेद हैं। मधुर जीवन्तीसे त्रिदोष हटता है और अमधुर जीवन्तीसे पित्त दूर होता है। मधुर जीवन्तीका रस मीठा, शीत वीर्य और परिपाक भी मधुर होता है। इससे दृष्टिदोष दूर होते हैं और प्रायः सभी रोग दूर होते हैं। वा. सू. अ. १५ में (वरा शाकेषु जीवन्ती) शाकमें जीवन्ती श्रेष्ठ शाक है ऐसा कहा है। वैद्य शास्त्रमें 'जीवन्ती' के अर्थ गुळवेल (गुडूची) हरीतकी, मेदा, काकोली, हरिणी, मधुवृक्ष, शमी, इतने हैं। इसके नाम 'जीवनी, जीवनीया, जीवा, जीवना, मंगल्य नामधेया, जीव्या, जीवदा, जीवदात्री, जीवभद्रा, भद्रा, मंगल्या, यशस्या, जीवदृष्टा, पुत्रभद्रा, जीववृषा, सुखंकरी, जीवपत्री, जीवपुष्पी,' संस्कृतमें और वैद्यक ग्रंथोंमें है। इन नामोंसे स्पष्ट हो जाता है कि यह वनस्पति जीवन देनेवाली है। अतः इस विषयमें कहा है—

जीवन्ती स्वर्णवर्णाभा सुराष्ट्रजा च।
जीवनोद्योगाज्जीवन्ती नाम ॥ (मद. व. १)

'इस जीवन्ती औषधीका सुवर्णके समान वर्ण है, यह (सौराष्ट्र) काठियावाडमें होती है। इससे दीर्घजीवन प्राप्त होता है, इस कारण इसका नाम जीवन्ती है।'

इसके गुण ये हैं— 'मधुर, शीत, रक्त, पित्त, वात, क्षय, दाह, ज्वरका नाश करनेवाली, कफ बढानेवाली, वीर्य बढानेवाली, रसायनधर्मवाली और भूतरोग दूर करनेवाली है।

जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा।
रसायना बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः। (भा.)
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा ॥
(अत्रि. अ. १६)

इस प्रकार इस जीवन्ती औषधिके गुण हैं। वैद्यकग्रंथोंमें इसके विविध प्रयोग लिखे हैं और सुयोग्य वैद्यके द्वारा इसके सेवनविधिका ज्ञान हो सकता है। यह उत्तम औषधि है और आरोग्य, बल और दीर्घायु देनेवाली है। इसी प्रकार निम्नलिखित मंत्र यहां देखने योग्य हैं—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आतपतु शं वातो वातु ते हृदे ॥
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥
(मं. १४)

शिवास्ते सन्त्वोषधय उ त्वाहार्षमधरस्या
उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥
(मं. १५)

'द्युलोक और पृथ्वीलोकके सब पदार्थ तेरा संताप न बढावें, इतना ही नहीं, वे तेरे लिये शोभा और ऐश्वर्य भी देवें। सूर्य तेरे लिये सुख देवे, वायु तुझे सुख देवे, जलसे तुझे आनन्द प्राप्त होवे, औषधियां तेरा सुख बढावें। ये औषधियां भूमिसे लायीं गई हैं। सूर्य और चन्द्र तेरी रक्षा करें।' इन मंत्रोंमें कहा है कि जगत्‌के सब पदार्थ अर्थात् सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, भूमि, औषधि, तेज आदि अनन्त पदार्थ मनुष्यका सुख बढावें। मनुष्यको शान्ति दें। मनुष्यका सन्ताप बढानेवाले न हों। इसका तात्पर्य यह है कि ये सब पदार्थ योग्य रीतिसे बर्ते जानेपर मनुष्यका सुख बढानेवाले होते हैं। पदार्थोंका उपयोग करनेकी विधि वैद्यग्रंथोंमें अर्थात् आयुर्वेदमें लिखी है। इसी संबंधमें निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य है—

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पुतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥
(मं. २८)

'अग्निका शरीर रोगोंसे पार करनेवाला है, वह अग्निका शरीर राक्षसों (रोगजन्तुओं) का नाश करता है तथा अन्यान्य

शत्रुओंको दूर करनेवाला है। इसी प्रकार यह आमाशयके सब दोषोंको हटाता है। यह पुतुद्रु नामक औषध है।' अग्निका यह वर्णन हरएकको ध्यानमें धारण करने योग्य है। अग्नि रोगोंसे पार करानेवाली है; जहां विविध रोग बढते हैं वहां अग्नि प्रदीप्त करनेसे रोगकी हवा वहांसे हट जाती है और वहां नीरोगता हो जाती है। इसलिये जिस ग्राममें सांसर्गिक रोग बहुत फैलते हैं उस ग्राममें नाके नाके पर और गलीगलीमें बृहत् हवन किये जांय तो लाभकारी होगा। आजकल दूषित ग्रामों और स्थानोंमें इसीलिये आग जलाते हैं।

अग्निको 'रक्षो-हा' अर्थात् राक्षस संहारक कहा है, यहां राक्षस, रक्षस् तथा रक्षः शब्दका अर्थ रोगबीज है। रोगबीजोंका नाश अग्नि करती है। आरोग्यके जो अन्यान्य शत्रु हैं उनका भी नाश अग्निसे होता है। रोगकृमि आदि सब रोगबीजोंका नाम राक्षस है। ये राक्षस—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
(वा. यजु. १६।६२)

'जो अन्नों और पानपात्रों अर्थात् खानपानके पदार्थोंमेंसे पेटमें जाकर विविध रोग उत्पन्न करते हैं।' यह वर्णन रोग-बीजोंका है। रोगबीज अन्न और जल द्वारा पेटमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। इनके नाम रुद्र और रक्षस् आदि अनेक हैं। यहां अग्नि इन रोगबीजरूपी राक्षसोंका नाश करनेवाला कहा है। इसी प्रकार अग्नि आमाशयके रोगोंको दूर करनेवाला (अमीवचातनः) है। इसका वर्णन इसी सूक्तकी व्याख्यामें इससे पूर्व बताया है।

अग्नि यह एक 'पु-तु-द्रु' नामक औषध है। यह पुतुद्रु क्या है इसका विचार करना चाहिये। 'पु' का अर्थ (पवने) 'पवित्र करना, मल दूर करना, शुद्ध करना' है। 'तु' का अर्थ '(वृद्धौ) वृद्धि, बढाना, संवर्धन होना' है और 'द्रु' का अर्थ (गतौ) 'गति, प्रगति' आदि है। जिससे 'पवित्रता, वृद्धि और प्रगति होती है' उसको पुतुद्रु औषधि कहते हैं। चिकित्सामें क्या करना चाहिये इसका विधान इस शब्दमें हुआ है। वैद्य रोगीके शरीरसे रोगको दूर करनेके लिये तीन बातें करें– (१) पु= रोगीका शरीर पवित्र, शुद्ध और दोषरहित करे, (२) तु= शरीरकी वृद्धि करे, शरीरको पुष्ट करे, शरीर बलवान् करे और (३) द्रु= शरीरकी नीरोग अवस्थामें प्रगति करे। ये तीन बातें प्रत्येक चिकित्सकको करनी चाहिये तभी रोगोंका प्रतिकार होगा। चिकित्साके ये तीन मुख्य कार्य हैं। जो इन कार्योंको करता है, वही उत्तम यश प्राप्त करता है। शरीरशुद्धि, शरीरबलवर्धन और व्याधिप्रतिकार ये तीन भाग हैं जिन भागोंका विचार करनेसे पूर्ण चिकित्सा हो जाती है। 'पु-तु-द्रु' इस एक ही शब्दने वेदकी चिकित्साशैलीको उत्तम रीतिसे दर्शाया है। यह सर्वांगपूर्ण चिकित्साकी पद्धति है।

वेदने इस एक शब्दमें चिकित्साकी रीति कैसी उत्तम शैलीसे बतायी है यह देखिये। इस रीतिका अवलंबन करने-वाले वैद्य सुखका विस्तार करते हैं—

मृडतं शर्म यच्छतम्। (मं. ७)

'सुखी करो और शान्ति प्रदान करो' पूर्वोक्त प्रकार 'पवित्रता, वृद्धि और प्रगति' करनेसे सब लोग सुखी होंगे और सबको शान्ति प्राप्त होगी इसमें संशय नहीं है। सुख, शान्ति और दीर्घ आयुष्य यही मनुष्यका प्राप्तव्य इस जगतमें है। इसीका स्पष्टीकरण करनेके लिये निम्नलिखित मंत्र है—

अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायनः।
आत्मना भुजमश्नुताम्। (मं. ८)

'इस रीतिसे सब अंगों और अवयवोंसे पूर्ण, अक्षीण अवयववाला, उत्तम ज्ञानी, वृद्धावस्थामें सौ वर्षतक जीवित रहनेवाला होकर अपनी शक्तिसे सब भोग प्राप्त करनेवाला बने।' अर्थात् यह मनुष्य अतिवृद्ध अवस्थातक जीवित रहे और उस वृद्ध अवस्थामें भी अपनी शक्तिसे और अपने प्रय-त्नसे अपने लिये भोग प्राप्त करे। परावलम्बी न बने, अन्त-तक स्वावलम्बनशील रहे। इस स्थानपर वेदका आदर्श बताया है। केवल अतिवृद्ध होना वेदको अभीष्ट नहीं है, परन्तु अतिवृद्ध होते हुए भी नीरोग और बलवान् बनना वेदका साध्य है। प्रत्येक अवयव सुदृढ बने, सब अवयव और इन्द्रिय ठीक अवस्थामें रहे, बल स्थिर रहे और यह सब होते हुए मनुष्य वृद्ध बने यह वेदका आदर्श है। वेद कहता है कि अन्यान्य उपभोग भी मनुष्य लेते रहें; उत्तम कपडे पहनें और सुखसे रहें, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते॥
(मं० १६)

'जो तेरा ओढनेका वस्त्र तू कमरपर बांधता है वह कपडा तेरे शरीरको सुखदायक हो और वह स्पर्शके लिये मृदु हो।' खुरदरा न हो। इस मन्त्रका आशय स्पष्ट तो यह दीखता है कि सुखस्पर्शवाले, सुंदर और उत्तम कपडे मनुष्य

पहनें और शरीरका सुख लें। इसी प्रकार हजामत बनवाकर मुखकी सुंदरता बढानेके विषयमें निम्नलिखित मन्त्र मनन करने योग्य है—

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु। शुभं मुखं मा न आयुः प्रमोषीः ॥ (मं० १७)

'तू नापित स्वच्छता करनेवाले तेजधारवाले छुरेसे जो बालों और मूछोंका मुण्डन करता है, उससे मुख सुन्दर दीखता है, परन्तु यह सुन्दरता किसीकी आयुका नाश न करे।' उत्तम उस्तरेसे हजामत बनाकर मुखकी सुन्दरता बढानेका उपदेश वेदमें इस प्रकार दिया है। हजामत बढनेसे मुख शोभाहीन होता है और हजामत बनानेसे वही मुख सुन्दर होता है, यह कहनेका उद्देश यह है कि मनुष्य हजामत बनावें और अपने मुखकी सुन्दरता बढावें। कोई मनुष्य अपना शोभाहीन मुख न रखे। सब लोग सुन्दर, नीरोग, बलवान्, पूर्णायु और कर्तव्यतत्पर बनें, यह वेदका उपदेश है। इसी प्रकार उत्तम भोजनके विषयमें भी वेदका उपदेश देखने योग्य है—

शिवौ ते व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥
(मं० १८)

'चावल और जौ कल्याणकारी हैं, कफ दोषको दूर करनेवाले और स्वादमें मधुर हैं। ये यक्ष्म रोगको दूर करें और दोषोंसे मुक्त करें।' भोजनके विषयमें अनेक मंत्र वेदमें हैं, उनका इस समय विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। यहां केवल यही बताना है कि, भोजनके विविध पदार्थ भी वेदने दिये हैं अर्थात् जिस प्रकार वेद बल, आरोग्य और दीर्घ आयु देना चाहता है, उसी प्रकार सुंदर वस्त्र और उत्तम भोजन देकर भी मनुष्यकी सुखसमृद्धि बढाना चाहता है। यह भोजन निर्विष होनेकी सूचना भी समय पर वेद देता है, पाठक इसको यहां देखें—

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥
(मं. १९)

'जो कृषिसे उत्पन्न होनेवाला धान्य तू खाता है जो दुग्धादि पेय पदार्थ पीता है, खाने योग्य और जो न खानेकी चीज है सबको मैं निर्विष बनाता हूं' अर्थात् वह सब खानपान विष रहित हो। यहां विषसे बचनेकी सावधानी धारण करनेका उपदेश दिया है। मनुष्यके खानपानमें मद्य, गांजा, भांग, अफीम, तमाखू, चा, काफी आदि अनेकानेक पदार्थ विषमय हैं, इनका परिपाक भी विषरूप है। ऐसे पदार्थ खानेसे मनुष्यका स्वास्थ्य बिगड जाता है और मनुष्य अल्पायु हो जाता है। अतः मनुष्य विचार करे कि जो पदार्थ मैं खाता और पीता हूं, वे कैसे हैं, वे निर्विष हैं वा नहीं? वे आरोग्यवर्धक और दीर्घायुकारक हैं वा नहीं? ऐसा विचार करके मनुष्य अपने खानपानका प्रबन्ध करे। सुयोग्य पदार्थ ही खानेपीनेमें आने चाहियें परंतु मनुष्यको कभी उचित नहीं कि वह विषमय पदार्थोंकी लालचमें फंसे और अपनी हानि करे। अतः मनुष्यको सदा उत्तम उपदेश श्रवण करना चाहिये, अतः कहा है—

उपदेशकका कार्य

अधि ब्रूहि, मा रभथाः, सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु। (मं. ७)

'उत्तम उपदेश कर, बुरा काम न कर, इस मनुष्यको जगत्में भेज, तेरे नियमानुकूल चलता हुआ यह मनुष्य पूर्णायु होकर यहां रहे।' उपदेशक इस प्रकारका उपदेश जनताको दे और जनताको ऐसे मार्गसे चलावे कि सारे लोग उपदेश सुनकर बुरे कार्यसे हटें, जगत्में जाते हुए धर्मनियमानुकूल चलें और नीरोग बलवान् और पूर्णायु बनें। तथा सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करें—

अस्मै अधिब्रूहि, इमं दयस्व, अयं इतः उत् एतु।
(मं. ८)

'इस मनुष्यको उत्तम उपदेश कर, इस पर दया कर और इसको ऐसा मार्ग बता कि यह यहांसे उन्नति करे, उच्च अवस्था प्राप्त करे।' यह उपदेशकोंकी जिम्मेवारी है कि वेही राष्ट्रके लोगोंपर उत्तम शुभ संस्कार डालें, उनको शुभ मार्ग बतावें और उन्हें सीधे उन्नतिके पथपर ले आवें। जिस देशके और राष्ट्रके उपदेशक इस रीतिसे अपना ज्ञान प्रचारका कर्तव्य उत्तम रीतिसे करते हैं, वहांके लोग नीरोग, सुदृढ, दीर्घायु तथा परम पुरुषार्थी होते हैं। परमपुरुषार्थी मनुष्य अपनी आयुका योग्य उपयोग करे। मनुष्यकी आयुका उत्तरदातृत्व उसीके उपर है यह बात कोई न भूले।

समयविभाग

शतं ते युतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ॥
(मं. २१)

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥
(मं. २२)

अहे त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ॥ (मं. २०)

'मैं तेरी सौ वर्षकी आयु अखण्डित करता हूं, उसमें दो संधिकालके जोडे, सर्दी, गर्मी, वर्षा ये तीन काल और बाल्य, तरुण, मध्यम और वार्धक्य ये चार अवस्थाएं हैं। वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा, शरत्, हेमन्त आदि ऋतु तेरे लिये शुभ कारक हों। दिन और रात्रीके समयके लिये मैं तुझे समर्पित करता हूं।'

दीर्घ जीवनकी आयुष्यमर्यादा सौ वर्षकी है, उसमें सौ वर्ष, वर्षमें दो अयन, छः ऋतु और तीन काल अर्थात् सर्दी, गर्मी और वर्षा ये तीन समय होते हैं। प्रत्येक दिनमें दो संधिकाल और दिन तथा रात्रीका समय इतने समयविभाग होते हैं। इन समयविभागोंके लिये मनुष्य सोंपा हुआ होना चाहिये। समयविभागके लिये मनुष्यका सोंपा हुआ होना अर्थात् समयविभागके अनुसार मनुष्यको अपना व्यवहार करना चाहिये। जो समयविभाग बनाया हो उसके अनुसार ही मनुष्यको अपना कामकाज करना चाहिये। इसीसे बहुत कार्य होता है और उन्नतिका निश्चय भी हो जाता है। अतः इन मंत्रोंके उपदेशसे मनुष्य यह बोध लेवे कि मनुष्यको समयविभागके अनुसार कार्य करना चाहिये, व्यर्थ बेकारमें समय गंवाना उचित नहीं। अपने पास जो समय हो उसका योग्य उपयोग करना चाहिये। समयका व्यय व्यर्थ नहीं होना चाहिये।

दीर्घायु

कां. ७, सू. ५३

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च)

अमुत्रभूयादधि यद्यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

अर्थ— हे बृहस्पते! हे अग्ने! तू (यत् अमुत्र-भूयात्) परलोकमें होनेवाले (यमस्य अभिशस्तेः अमुञ्चः) यमकी यातनाओंसे मुक्त करता है। हे (देवानां भिषजौ अश्विनौ) देवोंके वैद्य अश्विनी देवो! (शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रति औहतां) शक्तियोंसे मृत्युको यमसे दूर करो ॥ १ ॥

हे प्राण और अपानो! (सं क्रामतां) शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करो। (शरीरं मा जहीतं) शरीरको मत छोडो। वे दोनों (इह ते सयुजौ स्ताम्) यहां तेरे सहचारी होकर रहें (वर्धमानः शरदः शतं जीव) बढता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रह। (ते अधिपाः वसिष्ठः गोपाः अग्निः) तेरे अधिपति निवासक और रक्षक तेजस्वी देव हैं ॥२॥

भावार्थ— परलोकमें देहपातके पश्चात् जो दुःख होते हैं उनसे मनुष्यका बचाव होवे और मनुष्यकी शक्तियोंकी उन्नति होकर उसका मृत्युसे बचाव होवे ॥ १ ॥

मनुष्यके शरीरमें प्राण और अपान ठीक प्रकार संचार करते रहें। वे शरीरको शीघ्र न छोड दें। ये ही जीवके सहचारी दो मित्र हैं। मनुष्य बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रहे, मनुष्यका रक्षक, पालक, संवर्धक और यहांका जीवन सुखमय करनेवाला एकमात्र परमेश्वर है ॥ २ ॥

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम् ।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात्तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ ४ ॥
प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् । अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥
आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते । आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥
उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(ते यत् आयुः पराचैः अतिहितं) तेरी जो आयु विरुद्ध गतियोंसे घट गयी है, उस स्थानपर (तौ प्राणः अपानः पुनः आ इतां) वे प्राण और अपान पुनः आवें । (अग्निः निर्ऋतेः उपस्थात् तत् पुनः आहाः) वह तेजस्वी देव दुर्गतिके समीपसे पुनः वापस लाता है (ते आत्मनि तत् पुनः आवेशयामि) तेरे अन्दर प्राणको पुनः स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

(इमं प्राणः मा हासीत्) इसको प्राण न छोडे और (अपानः अवहाय परा मा गात् उ) अपान भी इसको छोड कर दूर न जावे । (सप्तर्षिभ्यः एनं परिददामि) सात ऋषियोंके हाथमें इसको देता हूं, (ते एनं जरसे स्वस्ति वहन्तु) वे इसको वृद्धावस्थातक सुखपूर्वक ले जावें ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! (व्रजं अनड्वाहौ इव प्रविशतं) जैसे गोशालामें बैल घुसते हैं, उस प्रकार तुम दोनों शरीरमें प्रविष्ट होवो ! (अयं जरिम्णः शेवधिः) यह वार्धक्यतककी पूर्ण आयुका खजाना है, यह (इह अरिष्टः वर्धतां) यहां न घटता हुआ बढे ॥ ५ ॥

(ते प्राणं आ सुवामसि) तेरे प्राणको मैं प्रेरित करता हूं । (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे क्षयरोगको मैं दूर करता हूं । (अयं वरेण्यः अग्निः) यह श्रेष्ठ अग्नि (नः आयुः विश्वतः दधत्) हमारे अन्दर आयु सब प्रकारसे धारण करे ॥ ६ ॥

(वयं तमसः परि उत्) हम अन्धकारके ऊपर चढें, वहांसे (उत्तरं नाकं रोहन्तः) श्रेष्ठ स्वर्गमें आरोहण करते हुए (देवत्रा उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म) सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्य—सबके उत्पादक—देवको प्राप्त हों ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो आयु विरुद्ध आचरणोंके कारण घट जाती है, उसको प्राण और अपान पुनः ले आवें और यहां स्थापित करें । वही तेजस्वी देव दुर्गतिसे आयुको वापस ले आवे और इस मनुष्यके अन्दर सुरक्षित रखे ॥ ३ ॥

इस मनुष्यको प्राण और अपान न छोडें । सप्तर्षिसे बने जो सप्त ज्ञानेन्द्रियें हैं, उनके हाथोंमें इस जीवको सौंप देते हैं । वे इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्रदान करें ॥ ४ ॥

शरीरमें प्राण और अपान वेगसे संचार करें और इस शरीरमें रखा हुआ दीर्घायुका खजाना बढावें ॥ ५ ॥

तेरे प्राणोंको प्रेरित करनेसे तेरे रोग दूर होंगे और तेरी आयु वृद्धिंगत होगी ॥ ६ ॥

हम अन्धकारको छोडकर प्रकाशकी प्राप्तिके लिये ऊपर चढते हैं, ऊपर स्वर्गमें आरोहण करते हुए सबके रक्षक तेजस्वी देवताको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

दीर्घायु

दीर्घ आयु कैसे प्राप्त हो ?

इस सूक्तमें दीर्घ आयु प्राप्त करनेका उपाय बताया है। दीर्घ आयु करानेवाले दो देव हैं, वे अपनी शक्तियोंसे मनुष्य-की मृत्युसे रक्षा करते हैं, ये दो देव अश्विनी देव हैं। अश्विनी देव कौन हैं और कहां रहते हैं, इसका विचार करके निश्चय करना चाहिये।

देवोंके वैद्य

अश्विनी कुमार ये देवोंके दो वैद्य हैं, इस मंत्रमें भी इनको—

देवानां भिषजौ। (मं. १)

' देवोंके दो वैद्य ये हैं ' ऐसा कहा है। यहां देव कौनसे हैं और उनकी चिकित्सा करनेवाले ये वैद्य कौनसे हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इनके नामोंका मनन करनेसे एक नाम हमारे सन्मुख विशेष प्रामुख्यसे आता है, जो ' नासत्यौ ' है। (नास-त्यौ=नासा-स्थौ) नासिकामें रहनेवाले। नासिका यह प्राणका स्थान है। प्राणके स्थानपर रहनेवाले ये दो ' श्वास उच्छ्वास ' अथवा ' प्राण अपान ' ही हैं। प्राण और अपान ये दो देव इस शरीरमें रहकर इस शरीरमें जो इंद्रियस्थानोंमें अनेक देवगण हैं उनकी चिकित्सा करते हैं। प्राणसे पुष्टि प्राप्त होती है और अपानसे दोष दूर होते हैं। इस प्रकार दोष दूर करके पुष्टि देकर ये दो देव इन सब इंद्रियोंकी चिकित्सा करते हैं। यहां यह अर्थ देखनेसे इनका ' नास-त्य ' नाम बिलकुल सार्थक प्रतीत होता है। प्राण और अपानके अशक्त होनेपर अथवा इनमेंसे किसीके भी अपने कार्य करनेमें असमर्थ होनेपर इंद्रियगण भी अपना अपना कार्य करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इतना इंद्रियोंके आरोग्यके साथ प्राणोंके स्वास्थ्यका संबंध है। अर्थात् वेदोंमें और पुराणोंमें ' देवोंके वैद्य अश्विनी कुमार ' के नामसे जो प्रसिद्ध वैद्य हैं, वे अध्यात्मपक्षमें अपने देहमें प्राण और अपान हैं और येही इंद्रियरूपी देवोंकी चिकित्सा करते हुए इस मनुष्यको दीर्घायु देते हैं। यदि प्राणोंकी कृपा न हुई तो कोई दूसरा उपाय ही नहीं है कि जिससे मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सके। यह विचार ध्यानमें रखकर यदि पाठक निम्नलिखित मंत्र देखेंगे तो उनको उसका ठीक अर्थ ध्यानमें आ सकता है, देखिये—

(हे) देवानां भिषजौ आश्विनौ !
शचीभिः मृत्युं अस्मत् प्रत्यौहताम्। (मं. १)

' हे देवोंके वैद्य प्राण और अपानो ! अपनी विविध शक्तियोंसे मृत्युको हमसे दूर करो। ' अर्थात् प्राण और अपान ही इस देहस्थानीय सब अवयवों और अंगोंकी चिकित्सा करते हैं और उनको पूर्ण निर्दोष बनाते हुए मनुष्यको मृत्युसे बचाते हैं। अतः मृत्युको दूर करनेके लिये उनकी प्रार्थना यहां की गई है। जो देव जिस वस्तुको देनेवाले हैं उनकी प्रार्थना उस वस्तुकी प्राप्तिके लिये करना योग्य ही है। इसी अर्थको मनमें धारण करके निम्नलिखित मंत्र देखिये—

(हे) प्राणापानौ ! सं क्रामतं, शरीरं मा जहीतम्। (मं. २)

' हे प्राण और अपानो ! शरीरमें उत्तम रीतिसे संचार करो और शरीरको मत छोडो। ' यहां अश्विनौ देवताके बदले ' प्राणापानौ ' शब्द ही है, और यह बताता है कि हमने जो अश्विनौका अर्थ ' प्राण और अपान ' किया है वह ठीक ही है। ये प्राण और अपान शरीरमें उत्तम प्रकार संचार करें। शरीरको इनके उत्तम संचारके लिये योग्य बनाना नीरोग रहनेके लिये अत्यंत आवश्यक है। शरीरको प्राणसंचारके योग्य बनानेके लिये योगशास्त्रमें कहे धौती, बस्ति, नेति आदि क्रियाएं हैं। इनसे शरीर शुद्ध होता है, दोषरहित बनता है और प्राणसंचार द्वारा सर्वत्र आरोग्य स्थिर होता है। शरीरमें प्राणापानका यह महत्त्व है। इसीलिये कहा है कि—

इह प्राणापानौ ते सयुजौ स्ताम्। (मं. २)

' यहां प्राण और अपान ये दोनों तेरे सहचारी मित्र बनकर रहें। ' तेरे विरोध करनेवाले न बनें। सहचारी मित्र सदा साथ रहते हैं और सदा हित करनेवाले होते हैं इस प्रकार ये प्राणापान मनुष्यके सहचारी मित्र हैं। मनुष्य इनको ऐसा समझे और उनकी मित्रता न छोडे। ऐसा करनेसे क्या होगा सो इसी मंत्रमें लिखा है—

वर्धमानः शतं शरदः जीव। (मं. २)

' वृद्धि और पुष्टिको प्राप्त होता हुआ तू सौ वर्ष जीवित रहेगा ' अर्थात् प्राण और अपानको अपने अन्दर उत्तम अवस्थामें रखेगा तो तू पुष्ट और बलिष्ठ होकर सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा। दीर्घायु प्राप्त करनेका यह उपाय है, कि मनुष्य योगशास्त्रमें कहे गए उपायोंका अवलंबन करके तथा प्राणायामका अभ्यास करके अपने शरीरमें प्राणापानोंको बलवान् करके कार्यक्षम बनावे, जिससे मनुष्य दीर्घायु पा सकता है। प्राण अपान ये ऐसे सहायक हैं कि वे दोषोंसे घटी हुई आयुको भी पुनः प्राप्त करा देते हैं, देखिये—

यत् ते आयुः पराचैः अतिहितं ।
प्राणः अपानः तौ पुनः आ इताम् ॥ (मं. ३)

'जो तेरी आयु हीन दोषोंके कारण घट गई है, वे प्राण और अपान, पुनः उस स्थानपर आवें और वे उस आयुको वहां पुनः स्थापित करें।' यह है प्राणापानका अधिकार, कुमार अथवा तरुण अवस्थामें कुछ अनियमके कारण यदि कोई ऐसे कुव्यवहार हो गये हों और उस कारण यदि आयु क्षीण हो गई हो तो युक्तिसे प्राण और अपान उस दोषोंको हटा देते हैं और दीर्घ आयु प्राणोपासना करनेवाले मनुष्यको अर्पण करते हैं। इसलिये कहा है—

इमं प्राणः मा हासीत्,
अपानः अवहाय मा परा गात् ॥ (मं. ४)

'इसको प्राण न छोडे और अपान भी इसको छोडकर दूर न जावे।' क्योंकि यदि प्राण और अपान इस मनुष्यके देहको छोडने लग जाएं तो कोई भी दूसरी शक्ति मनुष्यको आयु देनेमें समर्थ नहीं हो सकती। इनके रहनेपर ही अन्य शक्तियां सहायक होती हैं। अन्य शक्तियां इस मंत्रमें सप्तर्षि नामसे कही गई हैं, जो इस देहमें रहकर मनुष्यकी सहायता करती हैं—

सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि
त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥ (मं. ४)

'मैं इस मनुष्यको सप्त ऋषियोंको सौंपता हूं, वे इसको बुढापेतक उत्तम कल्याणके मार्गसे ले चलें।' ये सप्त ऋषि सप्त ज्ञानेंद्रियां, पंच ज्ञानेंद्रियां और मन तथा बुद्धि हैं, इनके विषयमें पूर्व स्थलमें कई बार लिखा जा चुका है। जब प्राण और अपान उत्तम अवस्थामें रहते हैं, तब ये सातों इंद्रियां उत्तम अवस्थामें रहती हैं और मनुष्य दीर्घजीवन प्राप्त करता है। ये प्राणापान शरीरमें बलवान् रहने चाहिये। इनके बलके विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

अनड्वाहौ व्रजं इव प्राणापानौ प्रविशतम्। (मं. ५)

'जैसे बैल गोशालामें वेगसे प्रवेश करते हैं, वैसे प्राण और अपान वेगसे शरीरमें प्रवेश करें।' प्राणका अन्दर प्रवेश बलसे होवे और अपानका बाहर निःसरण भी वेगके साथ हो। इनमें निर्बलता न रहे यही तात्पर्य यहां है। अवास्तविक वेग उत्पन्न हो यह इसका मतलब नहीं है। इस प्रकार मनका वेग योग्य प्रमाणमें हो, तो यह वार्धक्यतक आयुका खजाना ठीक अवस्थामें रहेगा। इस विषयमें मंत्र देखिये—

अयं जरिम्णः शेवधिः इह अरिष्टः वर्धताम्। (मं. ५)

'यह दीर्घ आयुका खजाना, न्यून न होता हुआ यहां बढे।' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार प्राणापान अपने अपने कार्य करनेमें समर्थ हो तो दीर्घायुका खजाना बढता जाता है। दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय प्राणापानको बलवान् बनाना ही है। इसी विषयमें और देखिये—

ते प्राणं आसुवामि, ते यक्ष्मं परा सुवामि। (मं. ६)

'प्राणसे तेरा जीवन बढाता हूं और अपानसे तेरा क्षय दूर करता हूं।' प्राण अपने साथ जीवनकी शक्ति लाता है तथा शरीर जीवनमय करता है और अपान अपने साथ शरीरके क्षयको बाहर निकालता है, जिससे शरीर निर्दोष होता है। इस प्रकार ये दोनों शरीरको जीवनपूर्ण और निर्दोष बनाते हुए इसको दीर्घजीवन देते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्रभागमें कही है—

वरेण्यः अग्निः नः आयुः विश्वतः दधत्। (मं. ६)

'प्राणसे उत्पन्न होनेवाली श्रेष्ठ अग्नि हमारी आयुको सब प्रकारसे धारण करे।' यहां प्राणके साथ रहनेवाली जीवनाग्नि अपेक्षित है। इस प्राणायामके करनेसे विशेष कर भस्त्रा करनेसे शरीरमें अग्नि बढनेका अनुभव तत्काल आता है। इस सूक्तमें कही गई अग्नि इसी शरीरस्थानकी उष्णता है। यहां बाह्य अग्नि अपेक्षित नहीं है—

अगले सप्तम मंत्रसें कहा है कि हम अंधकारसे दूर होकर उत्तम प्रकाशमें आवें और सूर्यकी ज्योतिको प्राप्त हों। इस मंत्रमें जो यह बात कही है, आयुष्य बढानेकी दृष्टिसे इसकी बडी आवश्यकता है। इससे निम्नलिखित बोध मिलता है—

१ वयं तमसः परि उत् रोहन्तः— हम अंधकारके ऊपर चढें। अर्थात् अन्धकारके स्थानमें निवास करना आयुको घटानेवाला है, अतः हम अंधकारके स्थानको छोडकर प्रकाशमें रहे और—

२ उत्तमं नाकं रोहन्तः— उत्तम सुखदायक प्रकाशपूर्ण स्थानको प्राप्त करें क्योंकि प्रकाश ही जीवन देनेवाला और रोगादि दोषोंको दूर करनेवाला है इसलिये—

३ देवत्रा देवं उत्तमं ज्योतिः सूर्यं अगन्म— सब देवोंके रक्षक उत्तम तेजस्वी सूर्यदेवको प्राप्त करें। सूर्यही सब स्थावर जंगमका प्राप्य है अतः प्राणरूपी सूर्यको प्राप्त करनेके कारण अवश्य दीर्घजीवी बनें।

दीर्घायु प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग सूर्य प्रकाशवाले घरमें रहें और कभी अंधेरे कमरेमें न रहें। इस प्रकार दीर्घायु बननेके दो उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। एक प्राण और अपानको बलवान् बनाना और सूर्य प्रकाशको प्राप्त करना और अन्धेरे कमरोंमें न रहना।

प्रजा, धन और दीर्घायु

कां. ७, सू. ३३

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवताः– मरुतः, पूषा, बृहस्पतिः, अग्निः ।)

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ— (मरुतः मा सं सिञ्चन्तु) मरुत् मेरे ऊपर प्रजा और धनका सिंचन करें । (पूषा बृहस्पतिः सं सं) पूषा और ब्रह्मणस्पति मेरे ऊपर उसीका उत्तम रीतिसे सिंचन करें । (अयं अग्निः प्रजया च धनेन च मा सं सिञ्चतु) यह अग्नि मेरे ऊपर प्रजा और धनका उत्तम सिंचन करे और (मे आयुः दीर्घं कृणोतु) मेरी आयु दीर्घ करे ॥ १ ॥

देवताओंकी सहायतासे मुझे उत्तम संतान, विपुल धन और दीर्घ आयु प्राप्त होवे । जिस प्रकार मेघसे पानी बरसता है, उस प्रकार मेरे ऊपर इनकी वृष्टि हो अर्थात् पर्याप्त प्रमाणमें ये मुझे प्राप्त हों । ' मरुत् ' वायु किंवा प्राण है । शुद्ध वायुसे प्राण बलवान् होता है और उससे नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त हो सकती है । ' ब्रह्मणस्पति ' की सहायतासे ज्ञान और ' पूषा ' की सहायतासे पुष्टि प्राप्त होगी । इसी प्रकार अग्नि शुद्धता करती है इसलिये इससे पवित्रता प्राप्त होगी और इन सबसे प्रजा, धन और दीर्घ आयुकी वृद्धि होगी ।

दीर्घायुकी प्रार्थना

कां. ७, सू. ३२

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– आयुः ।)

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् । अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १ ॥

अर्थ— (प्रियं पनिप्नतं) प्रिय, स्तुतिके योग्य, (युवानं आहुतीवृधं) तरुण और आहुतियोंसे बढनेवाले अग्निके समीप (नमः बिभ्रतः उप अगन्म) अन्न धारण करते हुए हम पहुचते हैं । वह (मे आयुः दीर्घं कृणोतु) मेरी आयु दीर्घ करे ॥ १ ॥

प्रतिदिन घर घरमें प्रज्वलित अग्निमें हवन करनेसे और उसमें हवनीय पदार्थोंको डालनेसे घरवालोंकी आयु लम्बी होती है ।

दीर्घायुकी प्राप्ति

कां. ५, सू. ३०

(ऋषिः- उन्मोचनः (आयुष्कामः) । देवता- आयुष्यम् ।)

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितॄनसुं बध्नामि ते दृढम् ॥ १ ॥
यत्त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ २ ॥
यद्दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ३ ॥
यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥
यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः । प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥
इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह । दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

अर्थ— (ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावतः आवतः) तेरे दूरसे दूर गए हुए (ते असुं दृढं बध्नामि) तेरे प्राणको मैं तेरे अन्दर दृढ बांधता हूं। (इह एव भव) यहीं रह। (पूर्वान् मा नु गाः) पूर्वजोंके पीछे न जा, (मा पितॄन् अनु गाः) पितरोंके पीछे न जा अर्थात् शीघ्र न मर ॥ १ ॥

(यत् स्वः पुरुषः) यदि तेरा अपना संबंधी पुरुष अथवा (यत् अरणः जनः) यदि कोई हीन मनुष्य (त्वा अभिचेरुः) तेरे ऊपर कुछ घातक प्रयोग करता है, तो उससे मैं (वाचा ते) अपनी वाणीसे तुझे (उन्मोचन- प्रमोचने उभे वदामि) छूटने और दूर रहनेकी विद्या कहता हूं ॥ २ ॥

(यत् स्त्रियै पुंसे अचित्त्या दुद्रोहिथ) यदि स्त्रीसे अथवा पुरुषसे विना जाने द्रोह किया है किंवा (शेपिषे) शाप दिया है, तो (वाचा०) वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों विद्याएं मैं तुझे कहता हूं ॥ ३ ॥

(यत् मातृकृतात् एनसः) यदि माताके किये हुए पापसे अथवा (यत् पितृकृतात् च) यदि पिताके किये पापसे (शेषे) तू सोया है (वाचा०) तो वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनों तरहकी विद्याएं तुझे कहता हूं ॥ ४ ॥

(यत् ते माता) जो तेरी माता व (यत् ते पिता) जो तेरे पिताने तथा (जामिः भ्राता च सर्जतः) जो तेरी बहिन और भाईने तैयार किया है; (भेषजं प्रत्यक् सेवस्व) उस औषधको ठीक प्रकार सेवन कर; (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध मैं तुझको अवस्थातक रहनेवाला करता हूं ॥ ५ ॥

हे (पुरुष) मनुष्य ! (सर्वेण मनसा सह इह एधि) संपूर्ण मनके साथ यहां रह। (यमस्य दूतौ मा अनु गाः) यमके दूतोंके पीछे मत जा। (जीवपुराः अधि इहि) जीवकी पुरीमें निवास कर ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे रोगी ! तेरे प्राणको मैं दूरके अथवा समीपके उपायसे तेरे अन्दर स्थिर करता हूं। तू इस मनुष्य लोकमें दीर्घकाल तक रह। मरे हुए पूर्वजोंके पीछे शीघ्र न जा ॥ १ ॥

तेरा अपना संबंधी अथवा कोई पराया मनुष्य जो कुछ भी घातक प्रयोग करता है; उससे बचनेके दो उपाय हैं एक उन्मोचन और दूसरा प्रमोचन ॥ २ ॥

स्त्रीका अथवा पुरुषका द्रोह, माताका पाप और पिताका पाप आदिके कारण जो घात होता है उससे बचनेके लिये भी वे ही दो उपाय हैं ॥ ३-४ ॥

माता, पिता, भाई, बहिन आदिकों द्वारा तैयार किया हुआ औषध रोगी सेवन करे और दीर्घजीवी बने ॥ ५ ॥

अपने मनकी संपूर्णशक्ति रोगनिवृत्तिमें ही विश्वाससे लगाई जावे। कोई मनुष्य यमदूतोंके वशमें न जावे और इस शरीरमें- अर्थात् जीवात्माकी नगरीमें-दीर्घकाल तक रहे ॥ ६ ॥

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥ ७ ॥
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥
अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः। यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम् ॥ ९ ॥
ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥
अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि ॥ ११ ॥
नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति।
उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

अर्थ—(उदयनं पथः विद्वान्) ऊपर चढनेके मार्गको जानता हुआ (अनुहूतः पुनः आ इहि) बुलाया हुआ फिर यहां आ। (जीवतः जीवतः आरोहणं आक्रमणं अयनं) प्रत्येक जीवित मनुष्यकी चढना और आक्रमण करना ये दो गतियां हैं ॥ ७ ॥

(मा बिभेः न मरिष्यसि) मत डर, तू कभी नहीं मरेगा (जरदष्टिं त्वा कृणोमि) वृद्धावस्थातक रहनेवाला तुझे मैं बनाता हूं। (तव अङ्गेभ्यः अङ्गज्वरं यक्ष्मं अहं निरवोचं) तेरे अङ्गोंसे शरीरके ज्वरको और क्षयरोगको मैं बाहर निकाल देता हूं ॥ ८ ॥

(अङ्गभेदः अङ्गज्वरः) अवयवोंकी पीडा, अंगोंका ज्वर (यः च ते हृदयामयः) और जो तेरा हृदयरोग है (वाचा साढः यक्ष्मः) वचासे पराजित हुआ यक्ष्मरोग (श्येन इव परस्तरां प्रापप्तत्) श्येनपक्षीकी तरह परे भाग जावे ॥ ९ ॥

(बोधप्रतिबोधौ ऋषी) बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं। (अस्वप्नः य च जागृविः) एक निद्रारहित है और दूसरा जागता है। (तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ) वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं, वे तेरे अन्दर (दिवा नक्तं च जागृतां) दिन रात जागते रहें ॥ १० ॥

(अयं अग्निः उपसद्यः) यह अग्नि उपासनाके योग्य है। (इह ते सूर्यः उदेतु) यहां तेरे लिये सूर्य उदय होवे। (गंभीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः चित्) गहरे काले अन्धकाररूपी मृत्युसे भी (परि उदेहि) परे उदयको प्राप्त हो ॥ ११ ॥

(यमाय नमः) यमके लिये नमस्कार है। (मृत्यवे नमः अस्तु) मृत्युके लिये नमस्कार होवे। (उत ये नयन्ति, पितृभ्यः नमः) जो हमें ले जाते हैं, उन पितरोंके लिये नमस्कार है। (यः उत्पारणस्य वेद) जो पार कराना जानता है (तं अग्निं अस्मै अरिष्ट-तातये पुरः दधे) उस अग्निको इस कल्याणवृद्धिके लिये आगे धर देते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ— उन्नतिका मार्ग जानना चाहिये। अर्थात् मनुष्य आरोग्यकी उन्नति करनेके उपाय जाने और रोगोंपर आक्रमण करके उनको परास्त करे ॥ ७ ॥

हे रोगी ! तू मत डर, तू मरेगा नहीं। तेरी पूर्ण आयु करता हूं। तेरे संपूर्ण अवयवोंसे ज्वर और क्षय दूर करता हूं ॥ ८ ॥

शरीरका दुखना, अंगोंका ज्वर, हृदयरोग और क्षयरोग ये सब तेरे शरीरसे दूर हों ॥ ९ ॥

तेरे अन्दर बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं। एक सुस्ती आने नहीं देता और दूसरा हमेशा जागता रहता है। ये तेरे प्राणके रक्षक हैं, ये दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

यहां प्राणाग्निकी तुझे उपासना करनी चाहिये। इससे तेरे अन्दर आत्मारूपी सूर्य प्रकाशित होगा। ऐसा करनेसे गूढ अन्धकाररूपी मृत्युसे तू दूर होगा और अपने प्रकाशसे प्रकाशित होगा ॥ ११ ॥

यम और मृत्युके लिये नमस्कार है, तथा जो मृत्युके पश्चात् ले जाते हैं उन पितरोंके लिये भी नमस्कार है। मृत्युसे पार होनेकी विद्या जो जानता है उस अग्निसे कल्याण प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

❀

ऐतु प्राण ऐतु मन ऐतु चक्षुरथो बलम् । शरीरमस्य सं विदां तत्पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥
प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन ।
वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत् ॥ १४ ॥
मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते । सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १५ ॥
इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा । त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६ ॥
अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः । यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

अर्थ— (प्राणः आ एतु) प्राण आवे, (मनः आ एतु) मन आवे, (चक्षुः अथो बलं) आंख और बल आवे। (अस्य शरीरं विदां सं एतु) इसका शरीर बुद्धिके अनुसार चले । (तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु) वह पांवोंसे प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! (प्राणेन चक्षुषा संसृज) प्राण और चक्षुसे संयुक्त कर । (तन्वा बलेन इमं सं सं ईरय) शरीर और बलसे इसको प्रेरित कर । (अमृतस्य वेत्थ) तू अमृतको जानता है । (मा नु गात्) तेरा प्राण न जावे । (भूमिगृहः मा नु भुवत्) भूमिको घर करनेवाला न हो अर्थात् मरकर मिट्टीमें न मिल ॥ १४ ॥

(ते प्राणः मा उपदसत्) तेरा प्राण नष्ट न होवे। (ते अपानः मो अपि धायि) तेरा अपान आच्छादित न हो। (अधिपतिः सूर्यः रश्मिभिः त्वा उदायच्छतु) अधिपति सूर्य किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे ॥ १५ ॥

(पनिष्पदा इयं अन्तः बद्धा जिह्वा) शब्द बोलनेवाली यह अंदर बंधी हुई जिह्वा (वदति) बोलती है। (त्वया यक्ष्मं) तेरे साथ रहनेवाला क्षयरोग और (तक्मनः च शतं रोपीः) ज्वरकी सौ प्रकारकी पीडा (निः अवोचं) दूर करता हूं ॥ १६ ॥

(अयं अपराजितः लोकः देवानां प्रियतमः) यह पराजित न हुआ हुआ लोक देवोंका प्यारा है। (यस्मै मृत्यवे दिष्टः पुरुषः त्वं इह जज्ञिषे) जिस लोककी मृत्युको निश्चित प्राप्त होनेवाला तू पुरुष यहां उत्पन्न होता है। (सः च त्वा अनुह्वयामसि) उसे और तुझे हम बुलाते हैं और कहते हैं कि (जरसः पुरा मा मृथाः) बुढापेसे पूर्व मत मर ॥ १७ ॥

भावार्थ— प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियां शरीरमें फिरसे निवास करें और यह शरीर अपने पांवसे खडा रह सके ॥ १३ ॥

यह प्राण और चक्षुकी शक्तियोंसे युक्त हो। शरीरके बलसे यह प्रेरित होवे । अमृत प्राप्तिका उपाय जान और उससे तेरा प्राण शीघ्र न चला जावे ॥ १४ ॥

तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरमें दृढतासे रहे । सूर्य अपनी किरणोंसे तुझे ऊपर उठावे अर्थात् जीवन देवे ॥ १५ ॥

अपनी वाक्शक्तिसे मैं कहता हूं कि क्षय, ज्वर तथा अन्य पीडाएं इस प्रकार दूर की जाती हैं ॥ १६ ॥

तू देवोंका प्रिय है, यद्यपि तू इस मृत्युलोकमें जन्म लेनेके कारण मरनेवाला है, तथापि हम यह ही कहते हैं कि, तू वृद्धावस्थाके पूर्व न मर ॥ १७ ॥

दीर्घायुकी प्राप्ति

आरोग्य युक्त दीर्घ आयु

इस सूक्तमें आरोग्यपूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करनेके बहुतसे निर्देश हैं। यहां दीर्घायुके विषयमें आत्मविश्वासका विशेष महत्त्व है, इस विषयमें प्रथम मंत्रका निर्देश देखने योग्य है—

आत्मविश्वाससे दीर्घायु

इह एव भव, पूर्वान् पितॄन् मा अनुगाः।
ते असुं दृढं बध्नामि। (मं. १)

'यहां अर्थात् इस शरीरमें रह, प्राचीन पूर्वजोंके पीछे मत जा अर्थात् शीघ्र न मर। तेरे शरीरमें प्राणोंको दृढतासे बांधता हूं।' ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा बता रहे हैं कि आत्मविश्वाससे दीर्घायु प्राप्त करनेमें सहायता होती है। 'तू मत मर' यह उसीको कहा जा सकता है, कि शीघ्र या देरीसे मरना जिसके आधीन हो। यदि मनुष्यके आधीन यह बात न हो, तो 'इस समय न मर, वृद्धावस्थाके पश्चात् मर' इत्यादि आज्ञायें व्यर्थ होंगी। ये आज्ञाएं कंठरवसे कह रहीं हैं, कि मृत्युका शीघ्र या देरीसे प्राप्त होना मनुष्यकी इच्छा शक्तिपर अवलंबित है। 'मैं शीघ्र नहीं मरूंगा, मैं दीर्घायु होऊंगा, मैं अपनी आयु धर्म कार्यमें समर्पित करूंगा' इस प्रकारकी मनकी सुदृढ भावनाके रहनेपर सहसा अल्प आयुमें मृत्यु न होगी, परंतु यदि कोई विश्वकी क्षणभंगुरताका ही ध्यान करेगा, तो वह स्वयं क्षणभंगुर बनेगा। आत्मविश्वास यह अन्य दीर्घायुप्राप्तिके अनुष्ठानकी बुनियाद है। अन्य अनुष्ठान तब सिद्ध हो सकते हैं, जब कि यह बुनियाद ठीक सुदृढ हुई हो।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि 'उन्मोचन और प्रमोचन' ये दो उपाय हैं जिनसे नीरोगता और दीर्घायु सिद्ध हो सकती है। ये विधि क्या हैं, खोज करनी चाहिये। इनमेंसे एक विधि आरोग्य बढानेवाला और दूसरा अकालमृत्यु हरण करनेवाला है।

कुविचारसे अनारोग्य

तृतीय मंत्रमें स्त्री पुरुषोंको शाप देना, गालियां देना, अथवा बुरे शब्द प्रयुक्त करना बुरा है ऐसा कहा है। किसीके साथ द्रोह करना भी घातक है। बुरे शब्द बोलनेसे प्रथम अपना मन बुरे विचारोंसे भर जाता है और जो वैसे हीन विचारके शब्द सुनते हैं उनमें वैसे ही हीन भाव जम जाते हैं। इस प्रकार मनका स्वास्थ्य बिगडनेके लिये ये बुरे शब्द कारण होते हैं। मनका स्वास्थ्य बिगडनेसे ही शरीरमें रोग बीज प्रविष्ट होते हैं और वे रोगबीज उसी कारण वहां स्थिर होते हैं।

मातापिताका पाप

माता पिताके पापाचरणसे भी रोग होते हैं यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है—

मातृकृतात् पितृकृतात् च एनसः शेषे॥ (मं. ४)

'माता और पिताके किये पापाचरणसे तू बीमार होकर पडा है।' इस मन्त्र भागमें स्पष्ट कहा है कि बीमारीका एक हेतु मातापिताके पापाचरण भी हैं। मातापिताके पापी आचारव्यवहारके कारण जन्मतः ही लडकेका शरीर निर्बल होता है और बालक जन्मसे ही बीमारियोंका घर बन जाता है। गृहस्थधर्ममें रहनेवाले लोग इस मंत्रका अवश्य विचार करें, क्योंकि यदि वे कुछ भी पाप करेंगे, तो वे अपने वंशको दुःखमें डालनेके दोषी हो सकते हैं। इससे पता चलता है कि, व्यभिचार, मद्यपान आदि दुष्ट व्यसनोंमें फंसे हुए लोग न केवल स्वयं दुःख भोगते हैं, प्रत्युत अपने वंशजोंको भी बीमारियोंके महासागरमें डाल देते हैं। वेदने यह मंत्र कह कर जनताके स्वास्थ्यके विषयमें बडा उत्तम उपदेश दिया है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि—

भेषजं सेवस्व। त्वा जरदष्टिं कृणोमि। (मं. ७)

'योग्य औषधिका सेवन कर, इतना पथ्य करेगा तो मैं तुझे दीर्घायुवाला बनाऊंगा।' संदेह मत कर, तू पथ्य पालन करनेसे अवश्य दीर्घायुवाला हो जायगा।

मानसशक्ति

षष्ठ मंत्रमें मनकी शक्तिका वर्णन किया है जो विशेष महत्त्वका है—

पुरुष! सर्वेण मनसा सह इह एधि।
यमस्य दूतो मा अनुगाः। जीवपुरा अधि इहि॥
(मं. ६)

'हे मनुष्य! अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ तू यहां रह। यमके दूतोंके पीछे न जा। जीवोंकी पुरियोंमें अर्थात् शरीरमें यहां स्थिर रह।'

इस मंत्रका संबंध पहिले मंत्रके कथनके साथ बहुत ही घनिष्ट है। अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ इच्छापूर्वक 'मैं दीर्घायु बनूंगा' ऐसा मनमें निश्चय करना चाहिये। मनकी शक्ति विलक्षण है, मनकी शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी निश्चयसे सिद्धि हो सकती है। मनकी कल्पनासे रोगी मनुष्य नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बनता है। बलवान्

निर्बल होता है और निर्बल भी सबलके समान कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। मनकी यह विलक्षण शक्ति होनेके कारण हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें सुविचारोंको धारण करता हुआ नीरोगता पूर्वक दीर्घायु प्राप्त करे। हीन विचार मनमें न आने दे। क्योंकि हीन विचारोंसे मनुष्य क्षीणायु हो जाता है। मरनेके विचार कभी मनमें न आने दे। पूर्ण स्वास्थ्यके विचार ही मनमें स्थिर किये जावें।

उन्नतिका मार्ग

अपनी उन्नतिका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान श्रेष्ठ मनुष्योंसे प्राप्त करें और तदनुसार आचरण करें। आरोग्य प्राप्तिके मार्गका नाम ' उदयनं पथः ' है, अर्थात् उच्चतर अवस्था प्राप्त करनेका यह राजमार्ग है। इस परसे ' आरोहणं आक्रमणं ' अर्थात् इस आरोग्यके मार्ग पर आना और उसपरसे चलना मनुष्यके लिये लाभदायक है—

उदयनं पथः विद्वान् एेहि।
आरोहणं आक्रमणं जीवतः अयनम्॥ (मं. ७)

' उन्नतिके मार्गको जान कर ही इस संसारमें रह। इस मार्गपर आना और इसी मार्गपरसे चलना जीवित मनुष्यके लिये हितकारक है। ' इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने आरोग्यके बढानेके उपायोंको जानें और उनका आचरण करके अपनी आयु और आरोग्य बढावे। इस प्रकार करनेसे कितने लाभ हो सकते हैं, इसका वर्णन अष्टम मंत्रमें किया है।

मा बिभेः। न मरिष्यसि। त्वा जरदष्टिं कृणोमि॥
(मं. ८)

यदि तू पूर्वोक्त मंत्रोंमें कहे मार्गके अनुसार आचरण करेगा, तो ' तू शीघ्र नहीं मरेगा, तू मत डर, मैं तुझे दीर्घायुवाला करता हूं। ' जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार आचरण करेगा, उसके लिये यह आशीर्वाद अवश्य मिलेगा। मनुष्य प्रलोभनमें पडता है और फंसता है।

मार्गदर्शक दो ऋषि

अपने ही अंदर मार्ग बतानेवाले दो ऋषि बैठे हैं ये ऋषि दशम मंत्रमें देखिये—

बोधप्रतिबोधौ ऋषी। अस्वप्नः जागृविः।
तौ प्राणस्य गोप्तारौ दिवानक्तं च जागृताम्॥
(मं. १०)

' मनुष्यके अन्दर बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान ये दो ऋषि हैं। इनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। इनमेंसे एक (अ-स्वप्नः) सुप्त नहीं है और दूसरा सदा जागता रहता है। ये ही दो ऋषि मनुष्यके प्राणोंके रक्षक हैं। अतः ये दिन रात यहां जागते रहें। ' इन दो ऋषियोंके यहां जागते रहनेसे ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु हो सकता है। ज्ञान विज्ञानसे उसको यहांका व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है। ठीक व्यवहार करके यह मनुष्य अपना स्वास्थ्य उत्तम रख कर दीर्घायु हो सकता है। व्यक्ति और समाजमें ये बोध और प्रतिबोध अथवा ज्ञान और विज्ञान जागते रहें। जब तक ये दोनों जागते रहेंगे तभीतक राष्ट्रकी उन्नति होगी। इसलिये कहा है—

गम्भीरात् कृष्णात् तमसः परि उदेहि॥ (मं. ११)

' गहरे काले अन्धकाररूपी मृत्युसे ऊपर उठ ' अर्थात् मृत्युके अंधकारमें न फंस, सदा जीवनके प्रकाशमें ही रह। यहां पूर्वोक्त दो ऋषियोंकी सहायतासे मृत्युसे बचनेका उपदेश है, क्योंकि वे ही मृत्युको दूर करके दीर्घ जीवन देनेवाले हैं।

मृत्युको दूर करना

यहां एक बात लक्ष्यमें रखने योग्य कही है वह यह है कि ' मृत्यु अन्धकार है ' और ' जीवन प्रकाशमय है। ' यह अनुभव सत्य है। जीवित मनुष्यका प्रकाशवर्तुल आकाशभरमें व्यापक होता है, यह प्रकाशवर्तुल मरनेके समय शनैःशनैः छोटा छोटा होता जाता है। जब यह प्रकाश वर्तुल अंगुष्ठ मात्र रह जाता है उस समय मनुष्य मर जाता है। मरनेवाले मनुष्यको मरनेके कुछ घण्टे पूर्व ऐसा अनुभव होता है कि जगत्के अंदर व्यापनेवाला प्रकाश अब घरमें ही रह गया है और बाहर अन्धकार है। मृत्युका छाया रूपमें वर्णन किया है इसका कारण यह है। यह कविकल्पना नहीं है अपितु सत्य बात है। अपने आपको अन्धेरेसे वेष्टित होने न देना आवश्यक है, यही मृत्युको दूर करनेका तात्पर्य है। प्रकाशका महत्त्व इतना है, यह प्रकाश अपनी आत्माका ही है, बाहरका नहीं।

जीवनका लक्षण

बारहवें मंत्रमें उन पितरोंको नमन किया है कि जो जीवको इस लोकसे यमलोकमें ले जाते हैं। वे कृपा करें और हमारे (उत्पारण) मृत्युसे पार होनेके अनुष्ठानमें सहायता करें। इसके पश्चात् तेरहवें मंत्रमें जीवनोंका लक्षण बताया है। ' मनुष्यके शरीरमें प्राण, मन, चक्षु और बल स्थिर रहें और यह अपने पांवके बलसे खडा रहे। ' (मं. १३) यह जीवनका लक्षण है, मृत्युका लक्षण भी इसीसे ज्ञात हो सकता है, वह इस प्रकार है— ' शरीरमें प्राण, मन, आंख और बलोंका न रहना और शरीरका अपने पांवपर खडा न रह सकना। ' इन शक्तियोंका यहां होना और न होना ही जीवन और मृत्यु है। पूर्वोक्त प्रकार इस मृत्युको दूर और जीवनको पास किया जा सकता है।

घातक प्रयोगको दूर करना

कां. ५, सू. ३१

(ऋषिः– शुक्रः । देवता– कृत्यादूषणम् ।)

यां ते॑ च॒क्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्मि॒श्रधा॑न्ये । आ॒मे मा॒ंसे कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥१॥

यां ते॑ च॒क्रुः कृ॑क॒वाका॑व॒जे वा॒ यां कु॑री॒रिणि॑ । अव्यां॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥२॥

यां ते॑ च॒क्रुरेक॑शफे पशू॒नामु॑भ॒याद॑ति । ग॒र्द॒भे कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥३॥

यां ते॑ च॒क्रुर॑मू॒लायां॑ वल॒गं वा॑ नरा॒च्याम् । क्षेत्रे॑ ते कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥४॥

यां ते॑ च॒क्रुर्गार्ह॑पत्ये पूर्वा॒ग्नावु॒त दु॒श्चित॑ः । शाला॑यां कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥५॥

यां ते॑ च॒क्रुः स॒भायां॒ यां च॒क्रुर॑धि॒देव॑ने । अ॒क्षेषु॑ कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥६॥

यां ते॑ च॒क्रुः सेना॑यां॒ यां च॒क्रुरि॑ष्वायु॒धे । दु॒न्दु॒भौ कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒ः प्रति॑ हरा॒मि ताम् ॥७॥

अर्थ— (यां कृत्यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिस हिंसाको वे कच्चे बर्तनमें करते हैं, (यां मिश्रधान्ये चक्रुः) जिसको मिश्रधान्यमें करते हैं और (आमे मांसे यां चक्रुः) कच्चे मांसमें जिस हिंसा प्रयोगको करते हैं (तां पुनः प्रति हरामि) उसको मैं हटा देता हूं ॥ १ ॥

(यां कृत्यां ते कृकवाकौ चक्रुः) जिस हिंसाका प्रयोग वे पक्षीविशेषमें करते हैं, (यां ते कुरीरिणि अजे) अथवा जिसको सींगवाले मेंढेमें अथवा बकरोंमें करते हैं (यां ते अव्यां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे भेड़ीमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ २ ॥

(यां कृत्यां ते एकशफे चक्रुः) जिस कृत्याको वे एक खुरवाले पशुमें प्रयुक्त करते हैं, (पशूनां उभयादति) दोनों ओरके दांतवाले पशुओंमें जो प्रयोग करते हैं, (यां गर्दभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको गधेमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ३ ॥

(यां कृत्यां ते अमूलायां चक्रुः) जिस कृत्याको वे अमूला औषधिमें करते हैं और (नराच्यां वा वलगं) नराची औषधिमें बल घटानेका जो प्रयोग करते है (यां ते क्षेत्रे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे खेतमें करते हैं (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ४ ॥

(यां कृत्यां गार्हपत्ये चक्रुः) जिस कृत्याको गार्हपत्य अग्निमें करते हैं, (उत दुश्चितः पूर्वाग्नौ) और जिसको बुरी तरहसे प्रज्वलित पूर्वकी अग्निमें करते हैं तथा (यां शालायां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको शालामें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

(यां कृत्यां ते सभायां चक्रुः) जिस कृत्याको वे सभामें करते हैं, (यां अधि देवने चक्रुः) जिसको खेलमें करते हैं, (यां अक्षेषु चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको पांसोंमें करते हैं, (तां०) उसको मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

(यां कृत्यां ते सेनायां चक्रुः) जिस कृत्याको वे सेनामें करते हैं (यां इषु-आयुधे चक्रुः) जिसको बाण और धनुष्यमें करते हैं (यां दुन्दुभौ चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको दुन्दुभि पर करते हैं (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ७ ॥

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः । सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥८॥
यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम् । म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम् ॥९॥
अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि । अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या ॥१०॥
यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥११॥
कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् । इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥१२॥

अर्थ— (यां कृत्यां ते कूपे अवदधुः) जिस घातक प्रयोगको वे कुंएमें करते हैं, (श्मशाने वा निचख्नुः) अथवा जिसको श्मशानमें गाड देते हैं, (यां सद्मनि चक्रुः) अथवा जिस घातक प्रयोगको घरमें ही करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हूं ॥ ८ ॥

(यां ते पुरुषास्थे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे मनुष्यकी हड्डीमें करते हैं, (संकसुके अग्नौ चक्रुः) प्रज्ज्वलित अग्निमें जो करते हैं, (म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं प्रति) चोरीसे प्रज्ज्वलित किये गए मांस खानेवाले अग्निके प्रति किए गए (पुनः तां प्रति हरामि) उस घातक प्रयोगको मैं हटा देता हूं ॥ ९ ॥

(अपथेन एनां आजभार) कुमार्गसे इस हिंसाको लाया गया है (तां पथा इतः प्रहिण्मसि) उसको सुमार्गसे यहांसे हटाते हैं। (अधीरः मर्या धीरेभ्यः) मूढ मनुष्य मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषोंसे (अचित्या संजभार) विना सोचे उपाय प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥

(यः कर्तुं चकार) जिसने हिंसा करनेका यत्न किया, वह (न शशाक) वह समर्थ नहीं हुआ। इसके विपरीत (पादं अंगुरिं शश्रे) उसने अपने ही पांव और अंगुलियोंको तोड दिया है। (अभगः) उस अभागेने तो (अस्मभ्यं भगवद्भ्यः भद्रं चकार) हम सौभाग्यवानोंके लिये कल्याण ही किया है ॥ ११ ॥

(इन्द्रः वलगिनं) इन्द्र इस नीच (मूलिनं शपथेय्यं) जडमें दुःख देनेवाले और गालियां देनेवालेको (महता वधेन हन्तु) बडे शस्त्रसे मारे और (अग्निः अस्तया विध्यतु) अग्नि अस्त्रसे वेध डाले ॥ १२ ॥

भावार्थ— कच्चा बर्तन, मिश्रधान्य, कच्चा मांस, कृकवाक पक्षी, मेंढे बकरी, भेड, एक खुरवाले पशु, दोनों ओर दांतवाले पशु, गधा, अमूला औषधि, नराची वनस्पति, खेत, गार्हपत्य अग्नि, पूर्वाग्नि, घर या कमरा, सभा, खेलका स्थान पांसे, सेना, बाण और धनुष्य, दुन्दुभि, कुंवा, स्मशान, घर, पुरुषकी हड्डी, प्रज्ज्वलित अग्नि, मांस जलानेवाली अग्नि आदि स्थानोंमें दुष्ट लोक घातक प्रयोग करते हैं। उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ॥ १-९ ॥

कुमार्गसे ही यह हिंसक और घातक प्रयोग हुआ करते हैं। भले ही दूसरे कुमार्गसे ऐसे प्रयोग करें, तो भी उनको ठीक प्रकार दूर करनेका उपाय हमें करना ही चाहिये। मनुष्य स्वयं उपाय न जानता हो, तो ज्ञानी पुरुषोंसे उपायको जान सकता हैं ॥ १० ॥

जो दूसरेकी हिंसा करनेका यत्न करता है वह दूसरेकी हिंसा करनेके पूर्व अपनी ही हिंसा कर डालता है। जो दूसरेकी हिंसा करना चाहता है वह अभागा है, उससे ईश्वरभक्तों और भाग्यवानोंका कल्याण ही होता है ॥ ११ ॥

ईश्वर ही नीच मनुष्योंको दण्ड देवे ॥ १२ ॥

दीर्घायुष्य और तेजस्विता

कां. ५, सू. २८

(ऋषिः- अथर्वा । देवताः- त्रिवृत्, अग्न्यादयः ।)

नव॑ प्रा॒णान्न॒वभि॒: सं मि॑मीते दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ रज॒ते त्रीण्य॑य॒सि त्रीणि॒ तप॒सावि॑ष्ठितानि ॥ १ ॥

अ॒ग्निः सूर्य॑श्च॒न्द्रमा॒ भूमि॒रापो॒ द्यौर॒न्तरि॑क्षं प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च ।
आ॒र्त॒वा ऋ॒तुभि॑: संविदा॒ना अ॒नेन॑ मा त्रि॒वृता॒ पा॑रयन्तु ॥ २ ॥

त्रय॒: पोषा॑स्त्रि॒वृति॑ श्रयन्ताम॒नक्तु॑ पू॒षा पय॑सा घृ॒तेन॑ ।
अन्न॑स्य भू॒मा पुरु॑षस्य भू॒मा भू॒मा प॑शू॒नां त इ॒ह श्र॑यन्ताम् ॥ ३ ॥

इ॒मम॑दित्या॒ वसु॑ना॒ समु॑क्षते॒मम॑ग्ने वर्धय वावृधा॒नः ।
इ॒ममि॑न्द्र॒ सं सृ॑ज वी॒र्ये॑णा॒स्मिन्त्रि॒वृच्छ्र॑यतां पोषयि॒ष्णुः ॥ ४ ॥

अर्थ— (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षवाले दीर्घजीवनके लिये (नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते) नौ प्राणोंको नौ इंद्रियोंके साथ समानतासे मिलाता है। (हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि) सुवर्णमें तीन, चांदीमें तीन और लोहमें तीन सूत्र (तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे विशेष प्रकार स्थित हैं ॥ १ ॥

अग्नि, सूर्य चन्द्रमा, भूमि, जल, द्यौ, अन्तरिक्ष, (प्रदिशः दिशः) उपदिशाएं और दिशाएं (ऋतुभिः संविदाना यार्तवः) ऋतुओंके साथ मिले हुए ऋतुविभाग (अनेन त्रिवृता मा पारयन्तु) इस तीनोंके योगसे मुझे पार ले जावें ॥ २ ॥

(त्रिवृति त्रयः पोषाः श्रयन्तां) इस तिहरे उपवीतमें तीन प्रकारकी पुष्टियां बनी रहें। (पूषा पयसा घृतेन अनक्तु) पूषा दूध और घीसे हमें भरपूर करे। (अन्नस्य भूमा) अन्नकी विपुलता, (पुरुषस्य भूमा) पुरुषोंकी अधिकता, तथा (पशूनां भूमा) पशुओंकी समृद्धि ये सब (ते इह श्रयन्तां) तेरे यहां स्थिर रहें ॥ ३ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो ! (इमं वसुना सं उक्षत) इसको तुम वसुओंसे सींचो। हे अग्ने ! (वावृधानः इमं वर्धय) तू स्वयं बढता हुआ इसको बढा। हे इन्द्र ! (इमं वीर्येण सं सृज) इसको वीर्यसे युक्त कर। (अस्मिन् पोषयिष्णुः त्रिवृत् श्रयन्तां) इसमें पोषण करनेवाला तिहरा उपवीत रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये नौ प्राणोंको नौ इंद्रियोंमें सम प्रमाणमें स्थिर करना चाहिए। सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन मिलकर नौ धागे उष्णतासे इकट्ठे जुडे हुए हैं। यह सुवर्णका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥

जिसके तीनों धागोंमें क्रमशः भूमि, जल अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्युलोक, दिशा उपदिशाएं और ऋतु आदि कालविभाग ये नौ दिव्य तत्त्व रहते हैं, वह तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत मुझे दुःखोंसे पार कराके दीर्घ जीवन देवे ॥ २ ॥

इस तिहरे उपवीतसे तीन पुष्टियाँ मिलती हैं। पोषण कर्ता परमेश्वर हमें दूध और घी भरपूर देवे। अन्नकी पुष्टि, मनुष्योंकी सहायता, पशुओंकी विपुलता ये तीन पुष्टियां हमें यहां मिलें ॥ ३ ॥

आदित्य हमें सब वसुओंकी शक्ति प्रदान करे। अग्नि हमारी वृद्धि करे। इन्द्र वीर्य बढावे। इस प्रकार यह तिहरा यज्ञोपवीत सब दुःखोंसे पार करानेवाला हमारे ऊपर स्थिर रहे ॥ ४ ॥

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः ।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥
त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।
अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥
त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् । त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥
त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥ ८ ॥
दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम् । भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (भूमिः हरितेन त्वा पातु) भूमि सुवर्णके द्वारा तेरी रक्षा करे । (विश्वभृत् सजोषाः अग्निः अयसा पिपर्तु) सबका पोषण करनेवाली प्रेममय अग्नि लोहेके द्वारा तुझे पूर्ण करे । (वीरुद्भिः संविदानं अर्जुनं सुमनस्यमानं दक्षं) औषधियों द्वारा प्राप्त होनेवाला कलंकरहित शुभसंकल्पमय बल (ते दधातु) तुझे धारण करे ॥ ५ ॥

(इदं हिरण्यं जन्मना त्रेधा जातं) यह सुवर्ण जन्मसे ही तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ है । उनमेंसे (एकं अग्नेः प्रियतमं बभूव) एक अग्निको अत्यन्त प्रिय हुआ है (एकं हिंसितस्य सोमस्य परापतत्) दूसरा निचोडे गए सोमसे बाहर निकलता है । (एकं वेधसां अपां रेतः आहुः) तीसरा सारभूत जलका वीर्य है ऐसा कहते हैं । ऐसा (तत् त्रिवृत् हिरण्यं) वह तिहरा सुवर्ण (ते आयुषे अस्तु) तेरी आयुके लिये होवे ॥ ६ ॥

(जमदग्नेः त्र्यायुषं) जमदग्निकी तिगुनी आयु (कश्यपस्य त्र्यायुषं) कश्यपकी तिगुनी आयु, यह (अमृतस्य त्रेधा चक्षणं) अमृतका तीन प्रकारका दर्शन है । इससे (ते त्रीणि आयूंषि अकरं) तेरे लिये तीन आयुओंको मैं करता हूं ॥ ७ ॥

(यत् शक्राः त्रयाः सुपर्णाः) जब समर्थ तीन सुपर्ण (त्रिवृता एकाक्षरं अभि संभूय आयन्) तिगुने होकर एक अक्षरमें सब प्रकारसे मिलकर आए । वे (अमृतेन साकं विश्वा दुरितानि अन्तर्दधानाः) अमृतके साथ सब अनिष्टोंको मिटाकर (मृत्युं प्रति औहन्) मौतको दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(हरितं त्वा दिवः पातु) सुवर्ण तेरी द्युलोकसे रक्षा करे; (अर्जुनं त्वा मध्यात् पातु) श्वेत अर्थात् चांदी तेरी अन्तरिक्षसे रक्षा करे और (अयस्मयं भूम्याः पातु) लोहा भूमिके स्थानसे तेरी रक्षा करे । (अयं देव-पुरा प्रागात्) यह देवोंकी पुरियोंमें प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

भावार्थ— सुवर्णके धागेसे भूमि रक्षा करे । लोहेके धागेसे सबका पोषक अग्नि हमारी पूर्णता करे । तथा चांदीके धागेसे औषधियोंके शक्तियोंके साथ हमें उत्तम मनयुक्त बल प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

स्वभावतः सुवर्ण तीन प्रकारका है । एक अग्निके लिये प्रिय है, दूसरा सोमके रसके रूपसे प्राप्त होता है और तीसरा सारभूत जल जो वीर्य रूपसे शरीरमें रहता है । यह तिहरा सुवर्ण है, यह मेरी आयु बढानेवाला होवे ॥ ६ ॥

जमदग्नि और कश्यपकी बाल, तरुण और वृद्ध अवस्थामें व्यापनेवाली तिहरी आयु, मानो, अमृतका साक्षात्कार करनेवाली है । यह तीन प्रकारकी आयु हमें प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

तीन बडी शक्तियां हैं जो एक ही अक्षरमें रहती हैं । इस अमृतसे सब अनिष्ट दूर होते हैं और उससे मृत्युको दूर किया जाता है ॥ ८ ॥

सुवर्ण द्युलोकसे, चांदी अन्तरिक्षसे और लोहा भूमिसे तेरी रक्षा करे । ये देवोंकी नगरियां ही प्राप्त हुई हैं ॥ ९ ॥

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः । तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥
पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे ।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे ॥ ११ ॥
आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः । अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि ॥ १२ ॥
ऋतुभिष्ट्वार्तवैरायुषे वर्चसे त्वा । संवत्सरस्य तेजसा तेन संहनु कृण्मसि ॥ १३ ॥
घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तं भूमिदृंहमच्युतं पारयिष्णु ।
भिन्दत्सपत्नानधरांश्च कृण्वदा मा रोह महते सौभगाय ॥ १४ ॥

अर्थ— (इमाः तिस्रः देव-पुराः) ये तीन देव नगरियां हैं, (ताः सर्वतः त्वा रक्षन्तु) वे सब प्रकारसे तेरी रक्षा करें। (त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी) तू उनको धारण करके तेजस्वी होकर (द्विषतां उत्तरः भव) वैरियोंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हो ॥ १० ॥

(यः प्रथमः देवः अग्रे आबेधे) जिस पहिले देवने सबसे पूर्व इनको बांधा था। (देवानां हिरण्ययं पुरं अमृतं) वह देवोंकी सुवर्णमय नगरी अमृत रूप है। (तस्मै दश प्राचीः नमः कृणोमि) उसको अपनी दसों अंगुलियां जोडकर नमस्कार करता हूं। (त्रिवृत् मे आबेधे, अनुमन्यतां) यह तिहरा उपवीत अपने शरीरपर बांधता हूं, देवगण इसके लिये अनुमति दें ॥ ११ ॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति (त्वा आ चृततु) तुझे बांधे। (अहः जातस्य यत् नाम) प्रतिदिन उत्पन्न होनेवालेका जो नाम है (तेन त्वा अति चृतामसि) उससे तुझको कसकर बांधते है ॥ १२ ॥

(आयुषे वर्चसे)आयुष्य और तेजके लिये (ऋतुभिः आर्तवैः) ऋतुओं और ऋतुविभागोंसे और (संवत्सरस्य तेन तेजसा) संवत्सरके उस तेजसे हम तुझे (स-हनु कृण्मसि) संयुक्त करते है ॥ १३ ॥

(घृतात् उल्लुप्तं) घीसे भरा हुआ (मधुना समक्तं) शहदसे सींचा हुआ (भूमिदृंहं अच्युतं पारयिष्णु) भूमिके समान स्थिर और पार ले जानेवाला (सपत्नान् भिन्दत्) वैरियोंको छिन्नभिन्न करनेवाला और उनको (अधरान् कृण्वत् च) नीचे करनेवाला तू (महते सौभगाय मा आरोह) बडे सौभाग्यके लिये मेरे ऊपर चढ ॥ १४ ॥

भावार्थ— ये तीन देवनगरियां हैं। ये तीनों सबकी रक्षा करें, इनको धारण करनेवाला तेजस्वी होकर शत्रुओंको नीचे कर देता है ॥ १० ॥

देवोंकी सुवर्णमय नगरी अमृतसे परिपूर्ण है। जो पहिला देव इसको सबसे पहिले स्थिर करता है, उसको हाथ जोडकर नमस्कार करते हैं। यह तिहरा उपवीत मैं अपने शरीरपर बांधता हूं, मुझे अनुमति दीजिये ॥ ११ ॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति और दिनमें प्रकाशनेवाला सूर्य ये सब देव यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये तुझे अनुमति देवें ॥ १२ ॥

संवत्सर, ऋतु और उत्तम कालविभागोंके तेजसे तुझे संयुक्त करके हम तुझे दीर्घ आयु और उत्तम तेज देते हैं ॥ १३ ॥

यह घृतादि पौष्टिक पदार्थोंसे युक्त, मधु आदि मधुर पदार्थोंसे परिपूर्ण, भूमिके समान सुदृढ, न गिरानेवाला और सब दुःखोंसे पार करनेवाला है। यह शत्रुओंको छिन्नभिन्न करता और उनको नीचे करता है। यह उपवीत मुझे महान् सौभाग्य देकर मेरे ऊपर रहे ॥ १४ ॥

दीर्घायुष्य और तेजस्विता

यज्ञोपवीतका धारण

इस सूक्तमें यज्ञोपवीतके महत्वका वर्णन किया है। यज्ञोपवीतके वर्णनके विषयमें अत्यंत थोडेसे मंत्रभाग वेदमें हैं। परंतु यह संपूर्ण सूक्तका सूक्त दीर्घ आयु और तेजस्विताका उपदेश करते करते यज्ञोपवीतके महत्वका वर्णन कर रहा है इसलिये इस सूक्तका महत्त्व विशेष है।

तीन धागे

सब जानते हैं कि यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र होते हैं और प्रत्येक सूत्रमें फिर तीन तीन धागे होते हैं, अर्थात् सब मिलकर नौ सूत्र होते हैं। ये तीन धागे इस प्रकार बने है।

हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि। (मं. १)

'सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन' अर्थात् प्रत्येक सूत्रके अंदर सोना, चांदी और लोहेके तार हों। इस प्रकार तीन धातुओंसे बना हुआ यह यज्ञोपवीत होना चाहिये। 'अयस्' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ 'लोहा' है, परंतु इसका दूसरा अर्थ 'केवल धातुमात्र' ऐसा भी है। इस प्रकार तांबा भी इसका अर्थ हो सकता है।

सुवर्णका यज्ञोपवीत

यह यज्ञोपवीत सोना, चांदी और तांबेका बने अथवा सोना, चांदी और लोहेका बने, इस विषयमें अधिक खोज करना चाहिये। ये तीनों धातु इस प्रकार शरीरपर धारण करनेसे शरीरमें कुछ मंद सा विद्युत्प्रवाह शुरू होता है, जिससे शरीरस्वास्थ्य, बल और दीर्घायुका प्राप्त होना संभव है। ये तीनों धातुओंके तार (तपसा आविष्ठितानि) उष्णतासे परस्पर जोडे हुए हों अर्थात् एक दूसरेके साथ जुडी हुई अवस्थामें रहें, तभी ये तार कार्य करनेमें समर्थ होंगे। जिस प्रकार—

इन्द्रिय और प्राण

शतशारदाय दीर्घायुत्वाय नव प्राणान्
नवभिः संमिमीते। (मं. १)

'सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये जिस प्रकार नौ प्राणोंको नौ इंद्रियोंमें मिलाना चाहिये' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करना हो तो प्राणोंका शरीरसे, इंद्रियोंसे और अवयवोंसे वियोग शीघ्र न हो सके ऐसा प्रबंध करना चाहिये। अर्थात् प्राणको अपने शरीरके सब अवयवोंमें कार्य करने योग्य बनाना चाहिये। यह बात प्राणायामसे उत्पन्न होनेवाली अग्निसे होती है। जो प्राणायामसे अपना बल नहीं बढाते उनके किसी अवयवमें प्राणशक्ति नहीं कार्य करती। ऐसा होनेसे वह अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होता है। कई मनुष्योंके कई अवयव कमजोर होते हैं, इसका कारण यही है। यही कमजोरी आयुको क्षीण करती है।

इसी प्रकार तीन धातुओंके ये उष्णतासे इकट्ठे हुए नौ धागे शरीरका आरोग्य, बल और दीर्घ आयु बढाते हुए शरीरमें उत्साह कायम रखते हैं। इस यज्ञोपवीतके नौ धागोंमें निम्नलिखित नौ देवता रहते हैं—

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो
द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च॥
आर्तवा ऋतुभिः संविदाना
अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु॥ (मं. २)

'भूमि–अग्नि–आप, अन्तरिक्ष–चन्द्रमा–दिशा, द्यौ–सूर्य और ऋतु ये नौ देवता इस तिहरे यज्ञोपवीतमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करावें।'

पृथ्वीस्थानीय तीन देव, अन्तरिक्ष स्थानीय तीन देव और द्युस्थानीय तीन देव, ये सब नौ देव यज्ञोपवीतके नौ धागोंमें रहकर मुझे दुःखोंसे पार करावें। यह इच्छा इस मंत्रमें प्रकट हुई है। यज्ञोपवीत धारण करनेका आशय इतने देवताओंका तेज और वीर्य अपने अंदर धारण करना तथा इनके विषयमें अपने कर्तव्य करना है। यज्ञोपवीत केवल भूषणके लिये नहीं धारण किया जाता है; यह तो बडी भारी जिम्मेवारीका कार्य है। तीन लोकों और उनमें स्थित सब दैवी शक्तियोंके साथ अपना संबंध व्यक्त करनेके लिये यह त्रिवृत सूत्र धारण किया जाता है। इस संबंधसे उनके विषयक कर्तव्य जानना और उनसे दिव्य तेज प्राप्त करना चाहिये। जो यह न करेगा, उसके लिये यज्ञोपवीत नहीं रहता। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको इस मंत्रका उपदेश अपने मनमें अवश्य धारण करना चाहिए। इस यज्ञोपवीतमें तीन प्रकारकी पोषण शक्तियां हैं, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

त्रयः पोषाः त्रिवृति श्रयन्ताम्।
अन्नस्य भूमा। पुरुषस्य भूमा। पशूनां भूमा।
(मं. ३)

'तीन पुष्टियां इस तिहरे यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें। अन्नकी विपुलता, अनुयायी मनुष्योंकी विपुलता और पशु-

ओंकी विपुलता, ' ये तीनों विपुलतायें इस यज्ञोपवीतके आश्रयसे रहें।

यज्ञोपवीत धारण करनेवाले यज्ञ करते हैं, उस यज्ञमें बहुत मनुष्य संमिलित होते हैं और संगठन होकर मनुष्यों-की संघशक्ति बढती है, यज्ञके कारण पर्जन्यादि ठीक रीतिसे होते हैं इस कारण विपुल अन्न प्राप्त होता है और यज्ञमें दूध और घीके हवनके लिए गौ आदि बहुत पशु लाये जाते हैं, पशुओंकी शक्तियां बढाई जाती हैं, इस कारण पशुओंकी भी उन्नति होती है। ये तीनों लाभ यज्ञसे होते हैं और यज्ञ-का अधिकार इस यज्ञोपवीतसे प्राप्त होता है, इसलिये यज्ञो-पवीतसे उक्त लाभ होते हैं ऐसा इस मंत्रमें कहा है।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि आदित्यसे शक्ति, अग्निसे वृद्धि इन्द्रसे वीर्य प्राप्त हो और इस त्रिवृत् सूत्रसे हमारा उत्तम प्रकारसे पोषण होवे। इस यज्ञोपवीतके एक एक धागेमें एक एक देवताकी शक्ति विद्यमान है, इसलिये जो मनुष्य इस भावनासे यज्ञोपवीतका धारण करता है उसको बहुत लाभ हो सकता है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये—

भूमिः हरितेन पातु।
अग्निः अयसा पिपर्तु।
अर्जुनं वीरुद्भिः दक्षं दधातु॥ (मं. ५)

' भूमि सुवर्णके धागेसे रक्षा करे, लोहे या तांबेके धागे-से अग्नि पूर्णता करे, तथा चांदीके धागे औषधियोंकी सहा-यतासे बल धारण होवे ' इस प्रकार ये तीन देव यज्ञोपवीत के तीन धागोंमें रहकर मनुष्यकी उन्नति करते हैं। अर्थात् यज्ञोपवीत केवल सूत्रका ही बना हुआ नहीं है, प्रत्युत वह इन देवताओंकी शक्तियोंसे बना हुआ है, यह भाव यहां बताया है। जो यज्ञोपवीतको केवल धागा ही समझते हैं वे उसके महत्वको नहीं जानते। जो सुवर्ण, चांदी और तांबेसे अथवा लोहेसे बने हुए आभूषण रूप यज्ञोपवीतको धारण करेंगे, निःसन्देह उनके शरीरमें विद्युत्संचार होनेके कारण उनको बडा लाभ होगा ही, परंतु जो सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण कर-नेमें असमर्थ हों, वे सूत्रका यज्ञोपवीत ही धारण करें, परंतु इसे धारण करनेके समय इस भावनासे धारण करें, जिससे इस मनोबल द्वारा आकर्षित हुए हुए उक्त देवता इसकी अवश्य सहायता करें।

षष्ठ मंत्रमें सुवर्णके तीन भेद बताए हैं, एक सुवर्ण अर्थात् सोना, दूसरा सोमादि औषधीका रस और तीसरा वीर्य जो शरीरमें होता है। यज्ञोपवीत धारियोंको उचित है कि वे इन तीनों सुवर्णोंका उपार्जन करें। ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य स्थिर करें, शरीरमें वीर्य बढावें और ऊर्ध्वरेता बनें। शरीर-पोषणके लिये सोमादि औषधियोंका रस, कंदमूल, फलका ही सेवन करें और उसके साथ दूध घृत आदि हविष्य पदार्थों-का ही सेवन करें, अर्थात् मद्यमांसादिका सेवन न करें। और तीसरा सोना अर्थात् धन आदि प्राप्त करें। ये तीनों पदार्थ इस मन्त्रमें उपलक्षण रूप हैं और इनसे 'वीर्य, अन्न और धन' का बोध मुख्यतया होता है। यज्ञोपवीत धारण करने वालोंको उचित है कि वे इन तीनोंका उचित प्रमाणमें उपा-र्जन करें। यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंके ऊपर इतने कार्यका भार रहता है।

मनुष्यमें बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन अवस्थाएं हैं, यज्ञोपवीतके तीन धागोंसे इन तीन अवस्थाओंका बोध होता है। तीन अवस्थाओंमें ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक धर्मानुष्ठान कर-नेसे यज्ञोपवीत धारण करना सार्थक होता है। यह बात ' सप्तम मंत्रके ' त्र्यायुषं त्रीणि, आयूंषि ते अकरं। (मं. ७) इन शब्दोंसे व्यक्त होती है। बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य ये तीन आयुकी अवस्थाएं तीन प्रकारकी आयुके नामसे इस मन्त्रमें कही हैं। जिस प्रकार सारे यज्ञोपवीतमें एक ही धागा तीनों सूत्रोंमें परिणत हुआ है, उसी प्रकार मनुष्यके धर्मा-चरणका एक ही धागा पूर्वोक्त तीनों आयुओंमें आयुरूप होकर परिणत होता है।

ओंकारकी तीन शक्तियां

एक ही ' ओं ' रूपी अक्षरमें ' अ-उ-म् ' ये तीन महाशक्तियां रहती हैं, ' त्रयः...एका क्षरं...आयन् ' (मं. ८) तीन शक्तियां एकही अक्षरमें बसतीं हैं। ये तीनों शक्तियां मृत्यु-को दूर करती हैं और अनिष्ट दुःखादिकोंको हटाती हैं। ओंकारनामक एक ही अक्षरमें अकार–उकार– मकार नामक तीन शक्तियां हैं। ये तीन अक्षर यज्ञोपवीतके तीन सूत्र हैं। जिस प्रकार इन तीनों अक्षरोंके एकरूप संयोगसे ओंकार रूप महानाद उत्पन्न होता है; उसी प्रकार तीनों सूत्रोंसे मिलकर एक यज्ञोपवीत होता है। इसलिये यह यज्ञोपवीत पूर्वोक्त तीनों महाशक्तियोंका बोध करता है। अ–उ–म् इन तीन अक्षरोंसे क्रमशः ' जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति ' ये तीनों अवस्थाएं बोधित होती हैं। मनुष्यका संपूर्ण जीवन इन तीन अवस्था-ओंमें व्याप्त है, मानो मनुष्यका जीवनरूपी जो एक महा-यज्ञोपवीत है उसके तीन धागे जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति हैं। इनको यज्ञरूप बनानेका कार्य यज्ञोपवीत धारण करनेवालोंको

अवश्यमेव करना चाहिये। अ-उ-म् के अनेक अर्थ हैं, उनका विचार यहां पाठक करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस यज्ञोपवीत द्वारा कितने शुभ कर्मोंको करनेका भार यज्ञोपवीत धारियोंपर रखा गया है। विस्तार होनेके भयसे हम अक्षरोंके तत्वज्ञानका विचार यहां करके लेखका विस्तार बढाना नहीं चाहते। ओंकारके उपर बहुतसे ग्रंथ रचे जा चुके हैं, उनके आशयको यहां विचारार्थ ध्यानमें लानेसे पता लग जायगा कि इस मंत्रने कितना महत्वपूर्ण उपदेश किया है।

देवोंके नगर

हरितं दिवः पातु। अर्जुनं मध्यात् पातु।
अयस्मयं भूम्याः पातु॥ (मं. ९)

'सुवर्णका धागा द्युलोकसे, चांदीका धागा मध्य भागसे और लोहेका धागा भूमि स्थानसे रक्षा करे।' इस मंत्रमें कहा है कि शरीरके तीनों भागोंका रक्षण करनेका कार्य तीन धातुओंसे निर्मित तीन धागे करें। शरीरमें द्युलोक सिरमें, मध्यभाग अथवा अन्तरिक्ष लोक नाभिमें और भूलोक पांवमें है। इसलिये सिरपर सुवर्ण, मध्यभागमें चांदी और पांवमें लोहको रखनेके समान यह एक ही (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत धारण करनेवालेकी रक्षा करे। 'अयस्' शब्दका अर्थ यद्यपि यहां हमने लोहा ऐसा किया है तथापि सुवर्ण और चांदीसे कुछ भिन्न अन्य धातुका बोधक भी यह शब्द हो सकता है। यह कौनसी धातु है इस विषयमें खोज आवश्यक है। लोहा, तांबा या अन्य कुछ ऐसी धातु ही यहां अपेक्षित है कि जिसके आभूषण बन सकते हैं।

तिस्रः देवपुराः त्वा सर्वतः रक्षन्तु।
त्वं ताः बिभ्रत् वर्चस्वी द्विषतां उत्तरः भव॥
(मं. १०)

'यज्ञोपवीतके ये तीन धागे (देव-पुराः) देवोंके, मानो नगर ही हैं, इनमें दैवी शक्ति भरी हुई है, इसलिये ये सब प्रकार तेरी रक्षा करें। तू उन तीनोंको धारण करके (वर्चस्वी) तेजस्वी बन और शत्रुओंकी अपेक्षा अधिक ऊंचे स्थानपर आरूढ हो।

यज्ञोपवीतके तीन धागे ये केवल धागे नहीं हैं, ये देवोंके नगर ही हैं, अर्थात् इनमें अनंत दैवी शक्तियां भरी हुई हैं। जो इस श्रद्धासे इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतको धारण करेगा वह तेजस्वी होगा और उसके तेजके प्रभावके कारण उसके सब शत्रु नीचे हो जायंगे।

यह देवोंकी शक्तियोंसे परिपूर्ण त्रिवृत् यज्ञोपवीतको जो मनुष्य अपने शरीरपर धारण करता है, (यः देवानां अमृतं आबेधे) जो इस देवोंके अमृतको अपने शरीर पर धारण करता है (तस्मै नमः कृणोमि। मं. ११) उसको नमस्कार करता हूं। अर्थात् जो यज्ञोपवीत धारण करते हैं वे नमस्कार करने योग्य हैं। इस सूत्रको धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है। इतने महत्वका यह यज्ञोपवीत होनेके कारण इसके धारण करनेका अधिकार तब प्राप्त हो सकता है, जब कि श्रेष्ठ लोग धारण करनेकी अनुमति देवें।

त्रिवृत् मे आबेधे। अनुमन्यताम्। (मं. ११)

'यह (त्रिवृत्) तिहरा यज्ञोपवीत अपने शरीरपर मैं बांधता हूं अथवा धारण करता हूं, इसलिये विद्वान् मेरा अनुमोदन करें।' श्रेष्ठ लोगोंकी अनुमति प्राप्त करके ही मैं यह यज्ञोपवीत धारण कर सकता हूं, इसलिये आप अनुमोदन देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। इस प्रकारकी प्रार्थना पहिले की जाय, तत्पश्चात् महाजनोंकी आज्ञाके मिलनेके अनन्तर ही वह मनुष्य यज्ञोपवीतको अपने शरीरपर धारण करे। जो चाहे वह मनुष्य इस यज्ञोपवीतको धारण नहीं कर सकता, महाजन, महात्मा श्रेष्ठ लोग जिसको आज्ञा देवें, अर्थात् पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा सूचित हुए कर्तव्य करनेमें जो पुरुष समर्थ हो उसीको वे आज्ञा देवें और वही पुरुष यज्ञोपवीत धारण करे। ऐसा करनेसे यज्ञोपवीतका महत्व स्थिर रह सकता है। विना योग्यताके यदि मनुष्य धारण करेगा, तो उसका वह केवल सूत्र ही होगा, परंतु पूर्वोक्त प्रकार जिसने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है, उसके शरीर पर सुशोभित होनेवाला यह यज्ञोपवीत देवोंके नगरोंके समान अनंत दिव्य शक्तियोंसे युक्त हो जाता है। यज्ञोपवीतको केवल सूतका धागा बनाना अथवा उसको दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बनाना मनुष्य समाजके आधीन है।

न्याय, पुष्टि और ज्ञान

इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके तीन सूत्र 'अर्यमा, पूषा और बृहस्पति' (मं. १२) इन तीन देवताओंके साथ संबंध 'अर्यमा' = (अर्यं मिमीते) श्रेष्ठ कौन है और हीन कौन है इसका निश्चय जो करता है, उसको अर्यमा कहते हैं। पुष्टि करनेवालेका नाम 'पूषा' होता है और ज्ञानीका नाम 'बृहस्पति' है। अर्थात् इन तीन धागोंसे ज्ञान, पोषण और न्यायकारिता इन तीन दैवी गुणोंकी सूचना मिलती है। जो यज्ञोपवीत धारण करना चाहते हैं, वे मानो, इन तीन गुणोंको अपने जीवनमें उतारनेके उत्तरदाता बनते हैं। यज्ञोपवीतने इतनी भारी कर्तव्य दक्षता मनुष्य पर रखी है।

जो ये कर्तव्य पालन करेंगे वे ही यज्ञोपवीतको धारण करनेके अधिकारी होते हैं।

जिस प्रकार एक वर्षमें छः ऋतु होती हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी संपूर्ण आयुमें छः ऋतुएं होती हैं। मनुष्यकी आयु १२० वर्षोंकी मानी गई है, उनमें प्रायः बीस बीस वर्षोंकी एक एक ऋतु होती है। आयुको कम माननेपर कम वर्षोंकी भी ऋतु हो सकती है। इन ऋतुओं द्वारा आयु, बल और तेजकी प्राप्ति करनेके कर्तव्य यज्ञोपवीत द्वारा सूचित होते हैं; यह कथन तेरहवें मंत्रका है।

मनुष्यकी आयुमें जो छः ऋतुएं होती हैं, उन सभी ऋतुओंमें अर्थात् मनुष्य अपनी आयुभर ऐसा यत्न करे कि जिससे उसे तेज और बल प्राप्त होकर दीर्घजीवन भी प्राप्त हो। ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंके पालन करनेसे ही यह सब कुछ हो सकता है। यज्ञोपवीतके तीन सूत्र तेज, बल और दीर्घ आयु प्राप्त करनेकी सूचना देते हैं, यह बात तेरहवें मंत्रसे मिलती है।

अन्तिम चौदहवें मंत्रमें इस त्रिवृत् यज्ञोपवीतके कौनसे विशेष गुण हैं, इसके धारण करनेसे कौनसे लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन किया है। वे गुण बोधक शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं।

यज्ञोपवीतसे लाभ

१ पारयिष्णु= दुःखोंसे पार करानेवाला, कष्टोंसे बचानेवाला।

२ अ-च्युतं= न गिरनेवाला अथवा न गिरानेवाला, इसके पहननेसे मनुष्य गिरावटसे बच सकता है।

३ भूमि- दृंहं=मातृभूमिको बलवान् बनानेवाला।

४ सपत्नान् भिन्दत्= शत्रुओंका नाश करनेवाला।

५ अधरान् कृण्वत्=वैरियोंको नीचे करनेवाला, दुष्टोंको हीनबल करनेवाला,

६ मधुना समक्तं= सब प्रकारकी मधुरतासे युक्त, मधुरताको देनेवाला।

७ घृतात् उल्लुतं= घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थ देनेवाला और पोषण करनेवाला, इस प्रकारका सामर्थ्यशाली यह यज्ञोपवीत है इसलिये हे यज्ञोपवीत ! तू—

८ महते सौभगाय मा आरोह= बडे सौभाग्यके लिये मेरे शरीरपर आरोहण कर, अर्थात् मेरे शरीर पर चढ कर विराजमान हो।

हर एक द्विजको उचित है कि वह इस प्रकारकी भावनासे और पूज्यभावसे यज्ञोपवीत पहने और अपने कर्तव्यकर्म करके अपनी उन्नति करे।

हवनसे दीर्घ आयुष्य

कां. ३, सू. ११

(ऋषिः- ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराः। देवता- इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनम्।)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

अर्थ— (कं जीवनाय) सुखपूर्वक दीर्घ जीवनके लिये मैं (हविषा त्वा) तुझे हवनके द्वारा (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षय रोगसे (मुञ्चामि) छुडाता हूं। (यदि ग्राहिः एतत् एनं जग्राह) यदि जकडनेवाले रोगने इसको जकड रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ॥ १ ॥

भावार्थ— तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुडाता हूं। जकडनेवाले रोगोंने भले ही तुझे पकड रखा हो, तथापि तू इन्द्र और अग्निकी सहायतासे उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥१॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥
प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् । व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ५ ॥
इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् । शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यदि क्षितायुः) कोई समाप्त आयुवाला होगया हो अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंच गया हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) मृत्युके समीप भी वह पहुंचा हुआ क्यों न हो, (तं निर्ऋतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूं और (एनं शतशारदाय अस्पार्शम्) इसको सौवर्षके दीर्घायुष्यके लिये सुरक्षित करता हूं ॥ २ ॥

(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्षं) सौ तरहकी शक्तियोंसे युक्त, सौ तरहके वीर्योंसे युक्त और शतायु देनेवाले हवनके द्वारा इसको मैं लाया हूँ । (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंसे पार होकर (एनं इन्द्रः शरदः अति नयाति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुके भी परे पहुंचावे ॥ ३ ॥

(वर्धमानः शतं शरदः जीव) बढता हुआ सौ शरद ऋतुओंतक जीता रह (शतं हेमन्तान्ः शतं उ वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओंतक तथा सौ वसन्त ऋतुओंतक जीवित रह । (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें । (एनं शतायुषा हविषा आहार्षं) मैं इसे सौ वर्षकी आयु देनेवाली हविके द्वारा यहां लाया हूं ॥ ४ ॥

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों (अनड्वाहौ व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं (प्र विशतं) उसी प्रकार इस शरीरमें प्रवेश करो (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दूसरी अनेक अपमृत्युएं दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारका कहा जाता है ॥ ५ ॥

हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहीं रहो, (इतः मा अप गातं) यहांसे दूर मत जाओ । (अस्य शरीरं) इसके शरीर और (अंगानि) सब अवयवोंको (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

भावार्थ—किसीकी आयु समाप्त हो गई हो, उसकी मरनेकी अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्थासे मैं वापस लाता हूं और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कराता हूं ॥ २ ॥

हवनमें हजारों शक्तियां हैं और सैंकडों वीर्य हैं, ऐसे हवनके द्वारा इसको मैं वापस लाया हूं । यह मनुष्य अब सम्पूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अतः इसको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥ ३ ॥

तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनके द्वारा मृत्युसे मैं वापस लाया हूं । इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें । अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं । अन्य सैंकडों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ । इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया । तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ— (त्वा जरायै पारि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पित करता हूं । (त्वा जरायै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुंचाता हूं । (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे । (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) वे अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांधा जाता है, उसी प्रकार (जरिमा त्वा अभि आहित) बुढापेने तुझको बांधा है । (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त) जिस मृत्युने उत्पन्न होते ही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्यु पाशको (सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं । तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं, वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांध दी गई है। जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पतिने दूर कर दिया है ॥ ८ ॥

हवनसे दीर्घ आयु

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति

हवनकी बडी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है । यज्ञ यागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतुपरिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं, इस विषयमें कहा है—

औषधियोंके यज्ञ

भैषज्ययज्ञा वा एते । तस्माद्दतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते । ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते ॥ (गो. ब्रा. उ. प्र. १।१९)

' ये औषधियोंके बडे बडे यज्ञ हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियां उत्पन्न होती हैं । '

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं । इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं । रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है । जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता । इसलिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है ।

हवनसे रोग दूर करना

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है—

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि। (मं. १)
तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तम्। (मं. १)

' अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयक्ष्मा रोग इन रोगोंसे मुक्त कर देते हैं । पकडनेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगीको मुक्त कर देते हैं । '

इस मंत्रमें हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंके दूर हो जानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य एक रोग बताता है, तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोग-मुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये उन उन रोगोंको नष्ट करनेवाले औषधिओंके हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते हैं कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त हो सकता है। ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है।

हवनका परिणाम

हवनका परिणाम यहांतक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोग मुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है। इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि, 'यदि यह रोगी मरनेकी अवस्थाके करीब पहुंच चुका हो अथवा मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।' (मं. २)

शतायु करनेवाला हवन

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही 'शतायु हवि' कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है। इस 'शतायु हवि' के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र-अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं। इससे—

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्। (मं. ३)

'सब दुरितको दूर किया जा सकता है।' दुरित नाम पापका है। यह 'दुरित' (दुः-इत) वह है कि जो शरीरमें घुस कर दुःख उत्पन्न करनेवाला होता है; यह शरीरमें घुस कर नाना प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न करता है। हवनके द्वारा दुरित अर्थात् रोगोत्पादक द्रव्य शरीरसे दूर किया जा सकता है।

चतुर्थ मंत्रमें विश्वासपूर्वक कहा है कि अब तो 'हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंसे शक्तियां प्राप्त की गई हैं, अब तू विश्वास पूर्वक अपनी सब शक्तियां बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह। अब तुझे मृत्युका भय नहीं है। (मं. ४)' हवनका ऐसा सुपरिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह हवनका परिणाम मननपूर्वक देखने योग्य है।

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेश दिया है कि— 'हे प्राण और अपान! तुम अब इसी पुरुषके देहमें घुसो, यहीं अपने कार्य करो और इसके शरीरके तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो। तथा इस शरीरसे पृथक न होओ। तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावें। (मं. ५-६) जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नव जीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही। यह हवनका परिणाम है।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि- 'हे मनुष्य! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पित करता हूं तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर हो जावें।' (मं. ७) वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य है कि पूर्ण वृद्धावस्थातक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ही है।

मरणका पाश

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत बताया है कि हर एक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाशसे बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याधत्त जायमानं सुपाशया। (मं. ८)

'मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मते ही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है।' कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा हुआ नहीं होता। जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही। सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रोंको मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं।

'सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एकबार अवश्य मरना है' यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है। हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युका पांव रखा हुआ है। इस विचारसे मनुष्यको सत्य-

धर्मका पालन करना चाहिये। सत्य ही इस मृत्युसे बचानेवाला है।

सत्यसे सुरक्षितता

मत्युके पाशसे बचानेवाला एक मात्र उपाय 'सत्य' है यह अष्टम मंत्रमें बताया है—

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः। (मं. ८)

'बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है।' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है। वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है। सत्यका रक्षण साधन ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षण साधनकी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् यदि एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित होता है, अपेक्षाकृत उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है। सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्रबल है। क्षात्रबलसे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति

दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है। सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्व वर्णन किया है वह यज्ञ शास्त्रमें प्रसिद्ध है। यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्य प्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञशास्त्र कर रहे हैं। इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्य प्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्रीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहां कुछ भी नहीं कहा है परन्तु हवनका सर्व सामान्य परिणाम ही यहां बताया है। हरएक रोगके दूर करनेके विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये। वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्वपूर्ण खोजका विषय है।

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा

कां. २, सू. २९

(ऋषिः– अथर्वा। देवता– नानादेवताः।)

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्बृहस्पतिः ॥ १ ॥
आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो! अग्नि सूर्य और बृहस्पति (अस्मै) इस मनुष्यके लिये (पार्थिवस्य तन्वः भगस्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्यके (रसे बले) रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ धात्) देवे ॥ १ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव! (अस्मै आयुः धेहि) इसको दीर्घ आयु दे। हे (त्वष्टः) रचना करनेवाले देव! (अस्मै प्रजां आधि निधेहि) इसके लिये प्रजा दे। हे (सवितः) प्रेरक देव! (अस्मै रायः पोषं आ सुव) इसके लिये धन और पुष्टि दे। (अयं तव शतं शरदः जीवाति) यह तेरा बनकर सौ वर्ष तक जीवित रहे ॥ २ ॥

भावार्थ— हे देवो! इस मनुष्यको अग्नि, सूर्य, बृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथ पार्थिव ऐश्वर्य युक्त अन्न, रस, बल, तेज और नीरोग जीवन होते हैं ॥ १ ॥

हे देवो! इसको उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य युक्त उत्तम पुष्टि और दीर्घ आयुष्य दो ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (न आशीः) हमें आशीर्वाद मिले तथा हे (सचेतसौ) उत्तम मनवालो! (ऊर्जं उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दक्षं द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्तं) दो। हे इन्द्र! (अयं सहसा) यह अपने बलसे (क्षेत्राणि जयं कृण्वानः) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त करता हुआ (अन्यान् सपत्नान् अधरान्) अन्य शत्रुओंको नीचे दबा दे ॥ ३ ॥

यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुके द्वारा दिया गया है, (वरुणेन शिष्टः) शासकके द्वारा शासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उत्साही वीरों द्वारा प्रेरित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है। हे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी ! (वां उपस्थे) आपके पास रहनेवाला (एषः) यह (मा धुक्षत्, मा तृषत्) क्षुधा और तृषासे पीडित न हो ॥ ४ ॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाली ! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे दूधवाली ! इसके लिये दूध दो। द्युलोक और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अधत्तां) इसके लिये बल देवें। तथा (विश्वे देवाः मरुतः आपः) सब देव, मरुत्, जल ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करें ॥ ५ ॥

(शिवाभिः ते हृदयं तर्पयामि) कल्याणमयी विद्याओं द्वारा तेरे हृदयको मैं तृप्त करता हूं। तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दित हो। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्विदेवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त हो कर (एतं मन्थं पिबतां) इस रसका पान करो ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे देव! आशीर्वाद दो ताकि हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्राप्त हो। मनुष्य अपने निजबलसे विविध कार्यक्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करे और शत्रुओंको नीचे मुखवाला करके भगा देवे ॥ ३ ॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, गुरुके द्वारा शिक्षित और वीरों द्वारा उत्साहित हुआ है, इसलिये यह शूरवीर बनकर हमारे अन्दर आया है और कार्य करता है। मातृभूमिकी उपासना करनेवाला यह वीर भूख और प्याससे कभी कष्ट-को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥

सूर्य पिता और भूमि माता इसको अन्न, रस, बल और ओज देवें। जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥

शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदयको तृप्त करता हूं। तू नीरोग और तेजस्वी बन कर सदा आनंदित हो। मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मकी शक्ति बढाकर इस रसको पी ॥ ६ ॥

इन्द्र एतां संसृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा तं एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ—(विद्धः इन्द्रः) पूजित हुआ हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जां स्वधां अग्रे ससृजे) इस अक्षीण अन्न युक्त सुधाको उत्पन्न करता है। (सा एषा ते) वह यह सब तेरे लिये ही है। (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह। (ते मा आसुस्रोत्) तेरा ऐश्वर्य न घटे (ते भिषजः अक्रन्) तेरे लिये वैद्योंने उत्तम रसयोग बनाये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतरस प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयुकी समाप्तितक जीवित रह। तेरी आयुमें ऐश्वर्यकी न्यूनता कभी न हो और तेरे लिये वैद्य लोग उत्तम रसादि योग तैय्यार करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नतिको प्राप्त हो ॥ ७ ॥

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा

रस और बल

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना हुआ है। पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और रसोंके न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है अर्थात् शरीरका बल बढाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है। शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्य और तेज इस रस-सेवनपर निर्भर है।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनके साथ घनिष्ट संबंध है अतः उस पार्थिव रसको देनेवाले अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध भी शरीरसे होगा ही, क्योंकि अग्निकी उष्णता; सूर्य किरणोंका रसायनगुण और जलका रस इन सबका संमिश्रण हो कर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है। इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश इस रसमें होनेसे वह रस मानो देवतांशोंका ही रस है। इसलिये उसके सेवनसे देवताओंके सत्वांशका ही सेवन होता है। जिस प्रकार गौ घास खाकर दूधरूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके धान्य, फल, शाक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है। यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ट संबंध है। यदि कोई वनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश उसे न मिले तो वह दुर्बल हो जायेगी। अतः पृथ्वीसे रस उत्पन्न करनेके साथ सूर्यादि देवोंका भी बडा भारी संबंध है। ये सब देव मनुष्य मात्रके लिये अन्नादि भोग तैयार करनेमें दत्तचित्त होकर कार्य कर रहे हैं!! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणिमात्रका पालन कर रही है।

'अग्नि, सूर्य, बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रस-से और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्य और तेज देते हैं।' यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है। इसलिये दीर्घायु, आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे अन्नादि रस लेकर अपना बल बढावें। यह प्रथम मंत्रका बोध है। (मं. १)

शतायु

द्वितीय मन्त्र कहता है कि 'जातवेदसे सुप्रजा, सवितासे पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहता है।' (मं. २) इस मन्त्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है। जातवेद, त्वष्टा और सविता ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होती है। इसलिये इनका विशेष विचार करना आवश्यक है—

१ जातवेदः—(जात+वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञानका प्रवाह चला है। जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैलता है। (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुण-धर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी। (जातस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्रका ज्ञान। इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है। किसी भी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द

ज्ञानवाचक स्पष्ट है। मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढाई जा सकती है।' यदि आयु बढाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् विद्या प्राप्त करनी चाहिये और उस विद्यासे अन्नरसादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढानी चाहिये।

२ त्वष्टा— बारीक करना, बारिकाईसे कार्य करना, कुशलतासे कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना इत्यादि कार्य करनेवालेका त्वष्टा नाम है। परमेश्वर एक बडा भारी कारीगर है, इसलिये उसको त्वष्टा कहते हैं। अन्य कारीगर भी छोटे त्वष्टा हैं। 'त्वष्टा इस मनुष्यके लिये प्रजा देवे' यह इस मन्त्रभागका कथन है योग्य सन्तति बनाना इसीके आधीन है, परमात्माकी कृपासे इसे योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो। जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्योंसे अधिक होता है, इसलिये ऐसे मनुष्यकी सन्तान अन्योंकी अपेक्षा अधिक सुडौल होती है। मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी ही सुन्दरता अथवा सुडौलपन सन्ततिमें आता है। त्वष्टासे प्रजाका सम्बन्ध यह है।

३ सविता— प्रेरणा देनेवाला और रसका प्रदान करनेवाला। सूर्य सबको जगाता है और वनस्पतियोंमें रसका सञ्चार करता है, इसलिये उसका नाम सविता है। यह भूमिके ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंकी (पोषं) पुष्टि करता है और उनकी (रायः) शोभा या ऐश्वर्य भी बढाता है।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इसको दीर्घजीवन देते हैं। मनुष्योंको चाहिये कि वह इससे यह लाभ प्राप्त करें।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है। 'हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जांय।' यही सब मनुष्योंकी मनोकामना होनी चाहिये। अन्नसे शरीरकी भूख शान्त होती है, उससे बल बढता है, धन हर एक व्यवहारका साधक होनेसे उसे सब चाहते ही हैं, इससे पश्चात् वंशविस्तार के लिये सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है, इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है। यह प्रायः हरएक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है। उससे यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके साथ साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसको बतानेवाला मन्त्रभाग यह है।

अयं सहसा जयं कृण्वानः क्षेत्राणि। (मं. ३)

'यह अपने बलसे विजय प्राप्त करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे।' इस मंत्र भागमें (सहः) अपने अंदरके बलका उल्लेख है। 'सहः' नाम है 'निजबल' का, जिस बलसे शत्रुका हमला सहा जाता है, जिस बलके कारण शत्रुके हमले होने पर भी वीरका नुकसान कुछ भी नहीं होता है उसका नाम सह है। मनुष्यको यह 'सहः' संज्ञक बल अपने अंदर बढाना चाहिये। यह बल जितना बढेगा उतनी ही विजय प्राप्त होगी और विविध कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी। और इसीके प्रभावसे शत्रु परास्त होंगे। यदि वीरमें यह सह हो, तो चाहे अन्य साधनोपसाधन कितने भी पासमें हों तो भी उनका कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिये इस मंत्र भागने जो 'सहः' संज्ञक बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है उसको ध्यानमें धारण करके, वह बल अपने अंदर बढावे और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावें।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य द्यावापृथिवीके अंदर जो आया है वह 'इन्द्रकी आज्ञामें, वरुण द्वारा शासित होकर और मरुतों द्वारा प्रेरित होकर आया है, इसलिये यह यहां आकर भूख और प्याससे दुखी न बने।' (मं. ४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे। इतने देव मनुष्यको प्रेरणा देने और उसकी रक्षा करनेवाले हैं, यह बात मनमें धारण करनेसे मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली बन जाती है। मेरे सहायकारी इतने देव हैं यह विश्वास बडा बल बढानेवाला है। जिस मनुष्यकी उन्नति करनेके लिये इतने देव कार्य करते हैं, भूमि, आप, अग्नि, सूर्य आदि देव इसके लिये अन्न तैयार करते हैं, बृहस्पति इसे ज्ञान देता है, जातवेदा इसको विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्यान्यदेव इसकी अन्य प्रकारकी सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिसे चारों ओर विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है, परंतु इसको कटिबद्ध होकर अपने पांवपर खडा होना चाहिये।

'अन्नवाली भूमि इसे अन्न अर्पण करती है दूधवाली गौवें इसके लिये दूध देती हैं, द्यावा-पृथिवी इसके लिये बल बढाती हैं और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करता है। (मं. ५)'

इतने देवता मनुष्यकी सहायता कर रहे हैं, कुछ न मांगते सहायता देते हैं। इतनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है! इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढावे और विजय न संपादन करे; तो फिर दोष किसका? मनुष्यकी अपनी उन्नतिके लिये कटिबद्ध ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसकी अखंड उन्नति हो सकती है।

हृदयकी तृप्ति

अन्न प्राप्त हो जाए, शरीरका बल भी बढ जाए, संतति भी बहुत हो जाए तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिल जाए तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती। जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती। इसलिये पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर षष्ठम मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है। हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है।

ते हृदयं शिवाभिः तर्पयामि। (मं. ६)

'तेरा हृदय मंगल वृत्तियोंसे तृप्त करता हूं।' शिवा शब्द शुभताका वाचक है। जो मंगलमय है, वह शिव है, फिर चाहे यह भावना हो, कामना हो या विद्या हो। जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टि होती है, किसी अन्य बातसे नहीं। जब कभी बुरा विचार मनुष्य मनमें आता है, तब मन अशांत होजाता है और जब कभी शुभ भावना आती है, तब मन प्रसन्न हो जाता है। शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार ही मनुष्यके हृदयको संतोष दे सकता है। शुभ विचार आदियोंके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त, शांत और मंगलमय हो जाता है। इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वर्चस्वी तथा बलवान् होता है और ऐसे शांतिपूर्ण मनुष्यको ही सुसंतान प्राप्त होती है। हृदयकी शांतिका इतना महत्व दिया है और हृदयकी अशांतिसे बहुत हानि होती है। यही बात आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्ठाः। (मं. ६)

'नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो' अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयकी शान्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकता है, इसलिये मनुष्यको चाहिए कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मङ्गलमय बनावे और अशान्तिसे दूर रहे। अपितु अशान्त अवस्थामें भी वह अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे। यह तो अंतःकरणके विशालत्वके विषयमें उपदेश हुआ। बाहरका व्यवहार कैसे करना चाहिये इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्ध देखिये—

सवासिनौ मायां परिधाय सन्थं पिबताम्। (मं. ६)

'सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए कौशल्यको धारण करके रसका पान करो' इसमें निम्नलिखित उपदेशबोधक शब्द महत्वपूर्ण हैं—

१ **स-वासिनौ**— एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले। उच्चनीच भेदको न बढाते हुए समान विचारसे इकट्ठे रहनेवाले। एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले।

यह शब्द एकताका बल अपने समाजमें बढानेका उपदेश दे रहा है। परस्पर विद्वेष न बढे, अपितु एकताका बल बढे; यह भाव यहां स्मरण रखने योग्य है।

२ **मायां परिधाय**— मायाका अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रवीणता, कौशल आदि है। शब्द बुद्धिशक्ति और कर्मशक्तिके लिए समानतया प्रयुक्त होता है। कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करनेकी सूचना इस शब्द द्वारा मिलती है। जगत्का व्यवहार करनेके लिये यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है। कुशलताके विना कार्य करनेवाला यशका भागी नहीं हो सकता।

एकताके साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही भोगरूपी रसपान करके आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

स्वधा

मंत्र ७ में कहा है कि "स्वधा, अजर और बलवती है, यह इन्द्रके द्वारा बनाई गई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सौ वर्ष जीओ।" यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिये—

"स्व+धा" अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है। जिस शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसको स्वधा शक्ति कहते हैं। यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है। शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती। जबतक यह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता, बढ सकता और विजय पा सकता है।

यह स्वधाशक्तिका महत्त्व है। इसके विना मृत्यु निश्चित है। इसीलिये सप्तम मन्त्रमें कहा है कि "यह स्वधाशक्ति अजर है" अर्थात् यह जरावाली नहीं है, इससे (जरा) बुढापा जल्दी नहीं आता, वृद्ध आयुमें भी जवानी रहती है। यह स्वधा (उर्जा) बल बढानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्चाः) उत्तम कान्तिवाला तेजस्वी और प्रभावशाली होता है और (शतं जीव) सौ वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त कर सकता है।

इसलिये ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूक्तोंमें कहे गए उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्तिको बढावे और मनुष्यको प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस सूक्तके षष्ठम मन्त्रमें कहे गए उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गंभीर बनावे और इहलोक तथा परलोकमें कृतकृत्य बने। यही—

"नः आशीः"

'हमारे लिये आशीर्वाद मिले' और निर्वैरता और शान्तिका साम्राज्य हो!

दीर्घायुष्य प्राप्ति

कां. २, सू. २८

(ऋषिः— शम्भुः। देवताः— जरिमा, आयुः, मित्रावरुणौ, द्यावापृथिव्यादयो देवाः।)

तुभ्य॑मे॒व ज॑रिमन्वर्धताम॒यं मेमम॒न्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः श॒तं ये।
मा॒तेव॑ पु॒त्रं प्रम॑ना उ॒पस्थे॑ मि॒त्र ए॑नं मि॒त्रिया॑त्पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

मि॒त्र ए॑नं॒ वरु॑णो वा रि॒शादा॑ ज॒राम॑त्युं कृणुतां संविदा॒नौ।
तद॒ग्निर्होता॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान् विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति ॥ २ ॥

अर्थ— हे (जरिमन्) वृद्धावस्था! (तुभ्यं एव अयं वर्धताम्) तेरे लिये ही यह मनुष्य बढे। (इमं ये अन्ये शतं मृत्यवः) इसकी जो ये सौ अपमृत्युएं हैं वे इसकी (मा हिंसिषुः) हिंसा न करें। (प्र-मानाः माता पुत्रं उपस्थे इव) प्रसन्नमनवाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु) मित्र मित्र सम्बन्धी पापसे इसको बचावे ॥ १ ॥

(मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एनं जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मिलकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें। (होता वयुनानि विद्वान् अग्निः) दाता और सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला अग्नि (तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) उसको सब देवोंके जन्मोंको कहता है ॥ २ ॥

भावार्थ— मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे। बीचमें सैंकडों अपमृत्यु प्रयत्न करनेपर भी इसे न मार सकें। जिस प्रकार अपने प्रियपुत्रको माता गोदमें लेकर प्रेमसे पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥

शत्रुनाशक मित्र और वरुण ये मिलकर इसको दीर्घ आयुवाला करें। सब चारित्र्य जाननेवाला तेजस्वी देव इसको सब देवताओंके जीवनचरित्र कहे ॥ २ ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥
द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥
इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

अर्थ— (ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं उन (पार्थिवानां पशूनां त्वं ईशिषे) सभी पृथ्वीके ऊपरके रहनेवाले प्राणियोंका तू स्वामी है । (इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोडें। तथा (मित्राः इमं मा वधिषुः) मित्र इसे न मारें और (मा अमित्राः) शत्रु भी न मारें ॥३॥

(द्यौः पिता पृथिवी माता संविदाने) द्यौपिता और पृथ्वी माता मिलकर (त्वा जरामृत्युं कृणुतां) तुझको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें। (यथा अदितेः उपस्थे) जिससे तू भी मातृभूमिकी गोदमें (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिमाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रह सके ॥ ४ ॥

हे (अग्ने मित्र वरुण राजन्) अग्ने और मित्र तथा वरुण राजा ! (प्रियं रेतः) प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर (इमं आयुषे वर्चसे नय) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा । हे (अदिते) आदिशक्ति ! तू (माता इव अस्मै शर्म यच्छ) माताके समान इसे सुख दे । हे विश्वे देवो ! (यथा जरदष्टिः असत्) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्थातक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! तू पृथ्वीपरके संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाले सब प्राणियोंका स्वामी है, तेरी कृपासे प्राण और अपान इसे बीचमें ही न छोडें तथा मित्रोंसे या शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥ ३ ॥

द्युपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको दीर्घ आयुतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे अग्ने वरुण मित्र राजन् ! इसको प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर दीर्घ आयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ । आदिशक्ति माताके समान इसे सुख देवे । और अन्यान्य सब देव इसकी ऐसी सहायता करें कि यह सुखसे दीर्घ आयु प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घायुष्य प्राप्ति

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा

' शतायु ' शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है। इस सूक्तके (मं. ४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) ' सौ वर्षतक जीवो ' कहा है इससे सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है। छोटी आयुके बालकको यह आशीर्वाद दिया जाता है और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा —

ये अग्ने शतं मृत्यवः ते इमं मा हिंसिषुः । (मं. १)

' जो सैंकडों अपमृत्यु हैं वे इसको बीचमें ही न मार सकें । ' अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु इसका नाश न कर सके। बीचमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी जाए तो भी वह इसके पास सफल मनोरथवाली न हो सके, यह यहां कहना है। लोग दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये ऐसे दृढ व्रती हों और खान पान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसी दक्षतासे पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके वशमें न चले जांय ।

साधन

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेपसे कहा है—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः (मं. ४)

'प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जी।' इस मंत्र भागमें दीर्घजीवनका साधन कहा है। यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः वह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा। प्राण और अपानसे सुरक्षितता प्राप्त करनी चाहिये। अर्थात् प्राणका और अपानका बल अपनेमें बढाना चाहिये। नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है। ये ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं। इनका उल्लेख इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं. २, ५ में) पाठक देख सकते हैं। इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है।

इनका कार्यक्षेत्र

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। प्राणायामसे इस प्राणका बल बढता है और इनकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती हैं। साधारण भस्त्रा और उज्जायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिये पर्याप्त हैं। भस्त्रा प्राणायाम धोंकनीकी गतिके समान वेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है। यह थोडे समय तक ही होता है। अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उज्जायी है। जो स्वरयुक्त और शांत वेगसे श्वासोच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है। श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वासका भी हो। कुम्भकका करना न करना इच्छा पर है। यह अतिसुगम और सुसाध्य प्राणायाम है और विना आयास जिस समय चाहे हो सकता है। यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिये अति उपयोगी है।

इस प्रकार प्राणके बल बढानेका अनुष्ठान होनेसे इसीका परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है। और अपानके कार्य भी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं। अपानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत वायुका नीचे भागसे गमन आदि हैं, वे इससे होते हैं। अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं।

इस योजनासे प्राण और अपानका बल बढानेसे दीर्घआयु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है। हित मित पथ्य भोजन, संयमवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्ममार्गके साधन हैं, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक हैं वे सर्व साधारण होनेसे उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राण अपानके बलसे अपने आपको सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहां इस कार्यके लिये इस सूक्तने बताया है और वह योग्य ही है।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचशुद्धिके संबंधमें कोई क्लेश नहीं होंगे, भूख भी उत्तम लगेगी, छातीमें भी कोई कफादिकी बाधा नहीं होगी। इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार विना कष्ट होने लगें, तो समझना चाहिए कि दीर्घायुकी प्राप्तिके मार्गपर अपने पग पड रहे हैं। परंतु यदि इनके कष्ट होने लगें तो समझना योग्य है, कि अपने पग दूसरे मार्गपर पड रहे हैं। यही तृतीय मंत्रमें कहा है—

इमं प्राणः मा हासीत्, मा अपानः। (मं. ३)

'प्राण अथवा अपान इसे बीचमें ही न छोड दें।' अर्थात् यह मनुष्य सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें। जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंध में विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिये, क्योंकि इन कार्योंके ठीक तरह चलते रहने पर ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है।

स्वास्थ्यकी तथा दीर्घ आयु प्राप्त होनेकी यह कुंजी है। (**प्राणापानाभ्यां गुपितः**) प्राण और अपान द्वारा जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे सौ वर्ष जीवित रहेगा। इस लिये दीर्घायुष्यके इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों बलोंको बढावें।

वध

प्राण अपान भी बलवान् रहें और शरीर स्वास्थ्य भी उत्तम रहे तो भी वध, कतल, अपघात आदि आपत्तियां हैं जिनसे मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है। धर्मयुद्धादि प्रसंग छोड दिये जांय, क्योंकि वहां जाकर मरना तो धर्म ही होता है, तो भी अन्य वध कम नहीं हैं। परंतु इनको हटाना मनुष्यके आधीन नहीं होता। कई प्रसंगोंमें अपने अंदर अहिंसा भाव बढाने और सार्वत्रिक प्रेमदृष्टिकी वृद्धि करनेसे घातक लोगोंके मनका भी सुधार होता है, परंतु यह सिद्धि योगानुष्ठानसे और दीर्घ आत्मसंयमसे साध्य है। इसलिये सबको यह प्राप्त होना कठिन है। अतः सर्वसाधारणके लाभार्थ ईशप्रार्थना ही एक सुगम साधन है; इसीलिये मंत्र ६ में कहा है कि—

ईशप्रार्थना

इमं मित्राः मा वधिषुः मा अमित्राः। (मं. ३)

'हे ईश्वर! तेरी कृपासे मित्र इसका वध न करें और अमित्र भी वध न करें।' तृतीय मंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयक ही है, 'भूत भविष्य कालके सब प्राणियोंका एक ईश्वर है, सबका पालन वही करता है, उसीकी कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे।' यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है। सब चराचर जगत्का पालनहारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढता है, वह अपूर्व है। श्रद्धावान् लोग ही उस बलका अनुभव करते हैं। और प्रायः यह अनुभूत है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्म-भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं। इसलिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें (त्वं ईशिषे) इस तृतीय मंत्र द्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। इस बलके प्राप्त होनेपर ही अन्य साधन लाभकारी हो सकते हैं और इस बलके न होनेकी अवस्थामें पासमें अन्य साधन कितने भी हों तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते।

देवचरित्र श्रवण

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिये। देवों अर्थात् देवताके समान सत्पुरुषोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिये।

आजकल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे घृणित कथा कलापोंसे युक्त प्रकाशित हो रहीं हैं कि जिनके पठन पाठनसे पढनेवालोंमें रागद्वेष बढते हैं, वीर्य भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ जाती हैं। परंतु ये पुस्तकें आज कल बढ रही हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हीन दर्जेके लोगोंके लेखन व्यवसायमें आनेके कारण साहित्य भी हीन होता जा रहा है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इससे बचनेके उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानीकी सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिये—

वयुनानि विद्वान् होता अग्निः
तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति। (मं. २)

'सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उसे सुनावे।' यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। इसमें सबसे पहिले उपदेशकके गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला होवे, अपने सर्वस्वका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्निके समान तेजस्वी हो और (वयुनानि विद्वान्) कर्तव्याकर्तव्यको यथावत् जाननेवाला हो। इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगोंको (देवानां जनिमानि) देवताओंके जीवन चरित्र सुनावे। देवोंने अपने जीवनमें कैसे शुभ कर्म किये, किस रीतिसे परोपकार किया, जनताका उद्धार कैसे किया इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे। राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढने नहीं चाहिये अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने सामने रखने चाहिये। आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है। राक्षस और पिशाचों, धूर्तों और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है। यही उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिये रखेंगे तो उनके जीवनोंका भी सुधार होगा और उनकी आयु भी बढेगी। आयु बढानेके लिये भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिये लें और रावणका जीवन न लें। आजकलकी उपन्यासादि पुस्तकोंसे, जो मानवी अंतःकरणका ही बिगाड कर रही हैं, बचनेकी सूचना यहां वेदने दी है। इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा।

आजकल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं। संयमशीलता बढानेवाले चरित्र कम हैं। इस लिये सद्ग्रंथ पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है। तथापि ऋषियोंकी कृपासे रामायण महाभारत ग्रंथ तथा अन्यान्य ऋषिप्रणीत चरित्र हैं, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उनको उचित है कि वे ऐसे सच्चरित्र अथवा श्रेष्ठ ग्रंथ निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठनसे आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके। अस्तु। इस मंत्र भागने 'दिव्यचरित्रोंका श्रवण और मनन' यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिये कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इसलिये जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंका ही मनन करें।

पापसे बचाव

दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है। पापसे पतन होता है और रोगादि बढ जानेके कारण आयु क्षीण ही होती है, इसलिये इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिये—

मित्र एनं मित्रियात् अंहसः पातु । (मं. १)

' मित्र इस मनुष्यको मित्र संबंधी पापसे बचावे । ' शत्रुके संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिये । कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्रके हित साधनके लिये कुछ भी बुराभला किया जाय तो भी वह हानिकारक नहीं है। परंतु पाप तो हमेशा पाप ही होता है चाहे वह किसीके लिये भी किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा । इसलिये जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिये । मित्र अपने मित्रको पापकर्म करनेसे रोके और उसको सीधे धर्म मार्गपर चलानेकी सलाह देवें । मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिये हरएक मनुष्य अपना स्वयं मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे । मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इसलिये कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु बन जाय । तात्पर्य यह है कि यदि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको बचाना चाहिये। पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है।

भोग और पराक्रम

मनुष्यको भोग भी चाहिये और पराक्रम भी करना चाहिये। परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढते हैं और वीर्यका संयम करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है । मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं और भोगोंमें अपने वीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिये एक सहज ही सी बात है, इसलिये इसका योग्य प्रमाण होना चाहिये यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिये—

इमं प्रियं रेतः आयुषे वर्चसे नय । (मं. ५)

' इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिये ले चलो । ' अर्थात् यह मनुष्य अपने लिये प्रिय भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयु और तेज बढता जाय । परंतु भोग भोगने और वीर्यके कार्यमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिससे बीच हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले जाय । अपना समय भोग और पराक्रमके कार्योंके लिये ऐसा बांटना चाहिये कि भोग भी प्राप्त हों और वीर्यके सब कार्य भी बन जांय और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सकें । अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिये । रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढता है, परंतु उसके अतिरेकसे ब्रह्मचर्य नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार अन्यान्य भोगकी बातोंके विषयमें समझना योग्य है । इस आशयको ध्यानमें धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोग भी प्राप्त होंगे और दीर्घ आयु भी मिलेगी ।

देवोंकी सहायता

१ मित्रः रिशादसो वरुणः संविदानौ
जरामृत्युं कृणताम् । (मं. २)

२ द्यौष्पिता पृथिवी माता संविदाने
त्वा जरामृत्युं कृणुताम् (मं. ४)

३ अदिते ! माता इव शर्म यच्छ । (मं. ५)

४ विश्वे देवाः ! जरदष्टिः यथा असत् । (मं. ५)

' मित्र और शत्रुनाशक वरुण ये दोनों मिलकर इसकी आयु दीर्घ करें ॥ द्युलोक और मातृभूमि मिलकर इसकी आयु दीर्घ करें ॥ हे अविनाशी आदि शक्ति ! तू माताके समान सुख दे ॥ हे सब देवो ! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो ।

यहां मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी आयु दीर्घ करनेमें सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इससे स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहनेवाले मनुष्यको इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिये । यदि इनकी अनुकूलतासे आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं । सूर्यदेव अपने प्रकाशसे सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, सूर्य प्रकाशसे वंचित नहीं रहना चाहिये, अन्यथा वह हमें सहायता कैसे पहुंचायेगा ? वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं । यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे लाभ उठावे तभी जलदेव वरुणसे लाभ प्राप्त हो सकता है । मातृभूमिकी योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घजीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है ।

तेजस्विता, बल और दीर्घायुकी प्राप्ति

कां. १, सू. ३५

(ऋषिः- अथर्वा आयुष्कामः । देवता- हिरण्यं, इन्द्राग्नी, विश्वेदेवाः ।)

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः ।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥
नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत् ।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥
अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि ।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः) शुभ मनवाले और बलकी वृद्धि करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष (शत अनीकाय) बलके सौ विभागोंके संचालक पर (यत् हिरण्यं अबध्नन्) जो सुवर्ण बांधते रहे (तत्) वह सुवर्ण (आयुषे वर्चसे) जीवन, तेज, (बलाय) बल और (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये (ते बध्नामि) तेरे ऊपर बांधता हूं ॥ १ ॥

(न रक्षांसि न पिशाचाः) न राक्षस ही और न पिशाच ही (एनं सहन्ते) इस पुरुषका हमला सह सकते हैं (हि) क्योंकि (एतत् देवानां प्रथमजं ओजः) यह देवोंसे प्रथम उत्पन्न हुआ सामर्थ्य है। (यः दाक्षायणं हिरण्यं बिभर्ति) जो मनुष्य दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है (सः जीवेषु आयुः दीर्घं कृणुते) वह जीवोंमें अपनी आयु दीर्घ करता है ॥ २ ॥

(इन्द्रे इन्द्रियाणि इव) जैसे आत्मामें इन्द्रियें रहती हैं। (अपां तेजः ज्योतिः ओजः बलं च) उसी प्रकार जलके तेज, कान्ति, पराक्रम और बल (उत) तथा (वनस्पतीनां वीर्याणि) औषधियोंके सब वीर्य (अस्मिन् अधि धारयामः) इस पुरुषमें धारण कराते हैं। इस प्रकार (दक्षमाणः हिरण्यं बिभ्रत्) बल बढानेकी इच्छा करनेवाला सुवर्णको धारण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— बल बढानेवाले और मनमें शुभ विचारोंकी धारणा करनेवाले श्रेष्ठ महात्मा पुरुष सेना-सञ्चालकके देहपर बलवृद्धिके लिये जिस सुवर्णके आभूषणको लटका देते हैं, वही आभूषण मैं तेरे शरीरपर इसलिये लटकाता हूं कि इससे तेरा जीवन सुधरे, तेज बढे, बल तथा सामर्थ्य वृद्धिंगत हो और तुझे सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो ॥ १ ॥

यह आभूषण धारण करनेवाले वीर पुरुषके हमलेको राक्षस और पिशाच नहीं सह सकते। वे इसके हमलेसे घबरा कर दूर भाग जाते हैं, क्योंकि यह देवोंसे निकला हुआ सबसे प्रथम दर्जेका बल ही है। इसका नाम दाक्षायण अर्थात् बल बढानेवाला सुवर्णका आभूषण है। जो इसको धारण करता है वह मनुष्योंमें सबसे अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है ॥ २ ॥

हम सब इस पुरुषमें जीवनका तेज, पराक्रम, सामर्थ्य और बल धारण कराते हैं। और साथ साथ औषधियोंसे नाना प्रकारके वीर्यशाली बल भी धारण कराते हैं। जिस प्रकार इन्द्रमें अर्थात् आत्मामें इंद्रिय शक्तियां रहती हैं, उसी प्रकार इस सुवर्णका आभूषण धारण करनेवाले मनुष्यके अन्दर सब प्रकारके बल रहें ॥ ३ ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

अर्थ— (समानां मासां ऋतुभिः) सम महिनोंकी ऋतुओंके द्वारा (संवत्सरस्य पयसा) वर्षरूपी गौके दूधसे (त्वा वयं पिपर्मि) तुझे हम सब पूर्ण करते है । (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे देवाः) तथा सब देव (अ-हृणीयमानाः) संकोच न करते हुए (ते अनु मन्यन्तां) तेरा अनुमोदन करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— दो दो महिनोंका एक एक ऋतु होता है । प्रत्येक ऋतुकी शक्ति अलग अलग होती है; मानो संवत्सररूपी गौका दूध ही संवत्सरकी छै ऋतुओंमें निचुडा हुआ है । यह दूध मनुष्य पीवे और बलवान् बने । इसकी अनुकूलता इंद्र, अग्नि तथा सब देव करें ॥ ४ ॥

तेजस्विता, बल और दीर्घायुष्यकी प्राप्ति

दाक्षायण हिरण्य

हिरण्य शब्दका अर्थ सुवर्ण अथवा सोना है, यह परिशुद्ध स्थितिमें बहुत ही बलवर्धक होता है । यह पेटमें भी लिया जाता है और शरीरपर भी धारण किया जाता है । श्री० यास्काचार्य हिरण्य शब्दके दो अर्थ देते हैं– 'हितरमणीयं हृदयरमणीयं' अर्थात् यह सुवर्ण हितकारक और रमणीय है तथा हृदयकी रमणीयता बढानेवाला है । सुवर्ण बलवर्धक तथा रोगनाशक है इसलिये आरोग्य चाहनेवाले इसका उपयोग कर सकते हैं ।

इस सूक्तमें 'दाक्षायण' शब्द (दक्ष+अयन) अर्थात् बलके लिये प्रयत्न करनेवाला इस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । प्रथम मन्त्रमें यह शब्द मनुष्योंका विशेषण है और द्वितीय मन्त्रमें यह सुवर्णका विशेषण है । तृतीय मन्त्रमें इसी अर्थका 'दक्ष-माण' शब्द है जो शक्तिमान्का वाचक है । पाठक विचार करेंगे तो उनको निश्चय होगा कि 'दाक्षायण और दक्षमाण' ये दो शब्द करीब शक्तिमान्के ही वाचक हैं । दक्ष शब्द वेदमें बलवाचक प्रसिद्ध है । इस प्रकार इस सूक्तमें बल बढानेका जो मार्ग बताया है, उसमें सबसे प्रथम हिरण्यधारण है । हिरण्यधारण दो प्रकारसे होता है, एक तो आभूषण शरीरपर धारण करना और दूसरा सुवर्णका मुखद्वारा सेवन करना । सुवर्णको खानेकी रीति वैद्य-ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है । सब अन्य धातु तथा औषधियां सेवन करनेपर शरीरमें नहीं रहती, परंतु सुवर्णकी ही विशेषता है कि वह शरीरके अन्दर हड्डियोंके जोडोंमें जाकर स्थिर रूपसे रहता है और मृत्युके समयतक साथ देता है । इस प्रकारकी सुवर्णसे अनेक रोगोंसे मुक्तता होती है । इस रीतिसे धारण किया हुआ सुवर्ण मरनेपर उसके जलानेके बाद शरीरकी राखसे सबका सब मिलता है । अर्थात् यदि किसी पुरुषने एक तोला सुवर्ण वैद्यकीय रीतिसे सेवन किया तो वह तोला भर सुवर्ण मृत शरीरके दाह होनेके पश्चात् उसके सम्बन्धियोंको प्राप्त हो सकता है । इस प्रकार कोई हानि न करता हुआ यह सुवर्ण बल और आरोग्य देता है ।

जो वैद्य इस सुवर्ण धारण विधिको जानते हैं उनका नाम 'दाक्षायण' प्रथम मन्त्रने कहा है । इस प्रकारका परिशुद्ध सुवर्ण बलवर्धक होनेसे उसका नाम भी 'दाक्षायण' है यह बात द्वितीय मन्त्रमें बतायी है । जो मनुष्य इस प्रकार सुवर्ण धारणकी विधिसे अपना आयुष्य बढाना चाहता है उसका भी नाम वेदने तृतीय मन्त्रमें 'दक्ष-माण' बताया है । इस प्रकार यह सूक्त बलवर्धनकी बात प्रारंभसे अंततक बता रहा है ।

दाक्षायणी विद्या

बल बढानेकी विद्याका नाम दाक्षायणी विद्या है । (दक्ष+अयनः) बल प्राप्त करनेके मार्गका उपदेश इस विद्यामें होता है । इस विद्यामें मनके साथ विशेष सम्बन्ध रहता है । (सु+मनस्यमानः) उत्तम मनसे युक्त अर्थात् मनकी विशेष शक्तिसे सम्पन्न । कमजोरीकी भावनासे मन अशक्त होता है और सामर्थ्यकी भावनासे बलशाली होता है । मनकी शक्ति बढानेकी विद्याके अनुसार मनको सुनियमोंसे युक्त

बनानेवाले श्रेष्ठ लोग 'सुमनस्यमानाः दाक्षायणाः' शब्दों द्वारा वेदमें बताये गए हैं।

सुवर्ण धारण

यद्यपि प्रथम मन्त्रमें केवल शरीरपर सुवर्ण बांधनेका ही विधान किया है तथापि वीर्यवर्धक नाना रस पीनेका भी उपदेश इसी सूक्तमें आगे बताया है। सुवर्ण तथा अन्य कई रत्न हैं कि जो शरीर पर धारण करनेसे भी बलवर्धन तथा आरोग्य वर्धन कर सकते हैं। यह बात सूर्यकिरण चिकित्सा तथा वर्णचिकित्साके साथ सम्बन्ध रखनेवाली है अर्थात् सुवर्ण रत्नादिका धारण करना भी शरीरके लिये आरोग्यप्रद है। औषधियोंकी जडोंकी मणियें शरीरपर धारण करनेसे भी आरोग्यकी दृष्टिसे बडा लाभ हो सकता है। संसर्गजन्य रोगोंमें वचा-मणिके धारणसे अनेक लाभ होते हैं। यही बात सुवर्ण रत्नादि धारणसे होती है। परन्तु इसके लिये शुद्ध सुवर्ण चाहिये।

इस विषयमें प्रथम मन्त्रमें कहा है कि— 'बल बढानेकी विद्या जाननेवाले और उत्तम मनःशक्तिसे युक्त श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा शरीरपर लटकाया हुआ सुवर्ण जीवन, तेज, बल तथा दीर्घ आयुष्य देता है।' इसमें शरीरपर सुवर्ण लटकानेवाले मनुष्योंकी उत्तम मनोभावना भी लाभदायक होती है यह सूचित किया है वह मनन करने योग्य है।

इस मन्त्रमें 'शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि'का अर्थ 'सैन्य विभागोंके सञ्चालकके शरीरपर सुवर्ण लटकाता हूं' ऐसा जो किया है वह तो इसका स्थूलार्थ हुआ परन्तु इसमें और भी एक गूढता है वह यह है कि 'अनीक' शब्द बलका वाचक है। बल शब्द सैन्यवाचक और बलवाचक भी है। विशेषतः 'अनीक' शब्दमें 'अन्-प्राणने' धातु है जो जीवनशक्तिका वाचक प्रसिद्ध है। इसलिये जीवनशक्तिका अर्थ भी अनीक शब्दमें है। इस अर्थके लेनेसे 'शतानीक' शब्दका अर्थ 'सौ प्रकारकी जीवनशक्तियां अथवा सौ प्रकारकी जीवनशक्तियोंसे युक्त' होता है। यह भाव लेनेसे उक्त मन्त्र भागका अर्थ ऐसा होता है कि—

शतानीकाय हिरण्यं बध्नामि। (मं. १)

'सौ प्रकारकी जीवनशक्तियोंकी प्राप्तिके लिये मैं सुवर्णको धारण करता हूं।' सुवर्णके अन्दर सैंकडों वीर्य हैं, उन सबकी प्राप्तिके लिये मैं उसको धारण करता हूं। यह आशय प्रथम मन्त्र भागका है। इस प्रथम मन्त्रमें इनमेंसे कुछ गुण कहे भी हैं—

आयुषे। वर्चसे। बलाय। दीर्घायुत्वाय। शतशारदाय।

'आयु, तेज, बल, दीर्घ आयु, सौ वर्षकी आयु' इत्यादि शब्द जीवनशक्तियोंके ही सूचक हैं। इनका थोडासा परिगणन यहां किया है। इसी प्रकार और भी अनेक जीवनशक्तियां' हैं, उनकी प्राप्ति करना और उनकी वृद्धि भी करना वैदिकधर्मका उद्देश्य है। इस विचारसे ज्ञात हो सकता है कि यहां 'शतानीक' शब्दका अर्थ 'जीवनके सौ वीर्य, जीवनकी सैंकडों शक्तियां' अभीष्ट है।

इसी प्रकारका एक मन्त्र यजुर्वेदमें थोडेसे पाठभेदसे आता है उसको पाठकोंके विचारके लिये यहां देते हैं—

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं
शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्म आवध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जर-
दष्टिर्यथासम्॥ (वा. यजु. ३४।५२)

'उत्तम मनवाले दाक्षायण लोग शतानीकके लिये जिस सुवर्ण भूषणको बांधते रहे, (तत्) वह सुवर्ण भूषण (मे आवध्नामि) मैं अपने शरीरपर इसलिये बांधता हूं कि मैं (आयुष्मान्) उत्तम आयुसे युक्त और (जरदष्टिः) वृद्ध अवस्थाका अनुभव करनेवाला होकर (यथा शतशारदाय आसं) सौ वर्षकी पूर्ण आयुको प्राप्त होउं।'

इसका अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त भाव ही इस मंत्रमें अन्य रीतिसे और भिन्न शब्दोंसे व्यक्त हुआ है। इस मंत्रका द्वितीय अर्थ ही भिन्न है। प्रथमार्थ वैसाका वैसा ही है। यहांतक प्रथम मंत्रका विवेचन करनेके बाद अब द्वितीय मंत्रका विचार करते हैं।

राक्षस और पिशाच

नरमांस खानेवाले राक्षस होते हैं और रक्त पीनेवाले पिशाच होते हैं। ये सबसे क्रूर होनेके कारण सब लोग इनसे डरते रहते हैं। परंतु जो पूर्वोक्त प्रकार 'सुवर्णका प्रयोग करता है उसके हमलेको राक्षस और पिशाच भी सह नहीं सकते।' इतनी शक्ति इस सुवर्णके प्रयोगसे मनुष्यको प्राप्त होती है। सुवर्णमें इतनी शक्ति है। क्योंकि 'यह देवोंका पहिला ओज है।' अर्थात् संपूर्ण देवोंकी अनेक शक्तियां इसमें संग्रहित हुई हैं। इसलिये द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि- 'जो यह बल वर्धक सुवर्ण शरीरमें धारण करता है वह सब प्राणियोंसे भी अधिक दीर्घ आयु प्राप्त करता है।'

अर्थात् इस सुवर्णके प्रयोगसे शरीरका बल भी बढ जाता है और दीर्घ आयु भी प्राप्त होती है। यह द्वितीय मंत्रका भाव पहिले मंत्रका ही एक प्रकारका स्पष्टीकरण है, इसलिये इसका इतना ही मनन पर्याप्त है। यही मंत्र यजुर्वेदमें निम्नलिखित प्रकार है—

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ (यजु. ३४।५१)

' यह देवोंसे उत्पन्न हुआ पहिला तेज है, इसलिये राक्षस और पिशाच भी इससे पार नहीं हो सकते। जो दाक्षायण सुवर्ण धारण करता है वह देवोंमें दीर्घ और मनुष्योंमें दीर्घ आयु प्राप्त करता है। '

इस मंत्रके द्वितीयार्धमें थोडा भेद है और अथर्वके पाठमें **' जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः '** इतना ही था, और इसमें **' देवेषु और मनुष्येषु '** ये शब्द अधिक हैं। अथर्ववेदके **' जीवेषु '** शब्दका ही भाव **' देवेषु, मनुष्येषु '** आदि शब्दों द्वारा यहां व्यक्त हुआ है। इस प्रकार अन्य शाखासंहिताओंके पाठभेद देखनेसे अर्थ निश्चय करनेमें बडी सहायता होती है।

यहांतक दो मंत्रोंका मनन हुआ। इन दो मंत्रोंमें शरीर पर सुवर्ण धारण करनेकी बातका उपदेश किया है अब अगले दो मंत्रोंसे जल वनस्पति तथा ऋतुकालानुसार उत्पन्न होनेवाले अन्य बलवर्धक पदार्थोंका अंतर्बाह्य सेवन करनेकी महत्वपूर्ण विद्या दी जाती है।

तृतीय मंत्रमें कहा है—' जल और औषधियोंके तेज, कांति, शक्ति, बल और वीर्यवर्धक रसोंको हम उसी प्रकार धारण करते हैं कि जैसे आत्मामें इंद्रियां स्थिर हुई हैं। इसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा करनेवाला मनुष्य सुवर्णको भी धारण करे। '

जलमें नाना औषधियोंके गुण हैं यह बात इसके पूर्व आये हुये जल सूक्तोंमें वर्णित हो चुकी है। औषधियोंके अंदर वीर्यवर्धक रस होते हैं, इसीलिये वैद्य औषधिका प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार जल अंतर्बाह्य पवित्रता करके बल आदि गुणोंकी वृद्धि करता है, इसी प्रकार नाना प्रकारकी वीर्यवर्धक औषधियोंके पथ्य हित मित अन्न भक्षणपूर्वक सेवनसे मनुष्य बल प्राप्त करके दीर्घ जीवन भी प्राप्त करता है। सुवर्ण सेवनसे भी अथवा सुवर्णादि धातुओंके सेवनसे भी इसी प्रकार लाभ होते हैं, इसका वैद्यशास्त्रमें नाम ' रस प्रयोग ' है। यह रस प्रयोग सुयोग्य वैद्य हीके उपदेशानुसार करना चाहिये। यजुर्वेदमें भी इसी प्रकारका एक मंत्र है।

सुवर्णके गुण।

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदं हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥
(वा. यजु. ३४।५०)

' (**आयुष्यं**) दीर्घ आयु करनेवाला, (**वर्चस्यं**) कान्ति बढानेवाला, (**रायस्पोषं**) शोभा और पुष्टि बढानेवाला (**औद्भिदं**) खानसे उत्पन्न होनेवाला अथवा ऊपर उठानेवाला, (**वर्चस्वत्**) तेज बढानेवाला (**जैत्राय**) विजयके लिये (**इदं हिरण्यं**) यह सुवर्ण (**मां उ आविशतात्**) मुझमें अथवा मेरे शरीरमें प्रविष्ट हो। '

सुवर्णका सेवन

यह मंत्र सुवर्णके अनेक गुण बता रहा है। इतने गुणोंकी वृद्धि करनेके लिये यह सुवर्ण मनुष्यके शरीरमें प्रविष्ट हो, यह इच्छा इस मंत्रमें स्पष्ट है। अर्थात् परिशुद्ध सुवर्णके सेवनसे इन गुणोंकी शरीरमें वृद्धि हो सकती है। इस मंत्रमें **' हिरण्यं आविशत् '** ये शब्द ' सुवर्णका शरीरमें घुस जाने ' का भाव बताते हैं अर्थात् यह केवल शरीरपर धारण करना ही नहीं प्रत्युत अन्यान्य औषधियोंके रसोंके समान इसका सेवन भी करना चाहिये। शरीरपर सोनेका धारण करना और सुवर्णका सेवन करना, इन दोनों रीतियोंसे मनुष्य पूर्वोक्त गुण बढाकर दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है। अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

काली कामधेनुका दूध

इस चतुर्थ मंत्रमें कहा है– कालरूपी संवत्सरका (काली काम धेनुका) दूध जो ऋतुओंके द्वारा मिलता है, उससे मनुष्यकी पूर्णता होती है। इस कार्यमें इन्द्र अग्नि विश्वेदेव आदि सब पूर्णतासे अनुकूल रहें। '

संवत्सर–वर्ष अथवा काल– यह एक कामधेनु है। काल संबंधी यह धेनु होनेसे इसको काली धेनु कहते हैं, यह इस लिये कामधेनु कही गई है कि मनुष्यादिकोंके इच्छित फल धान्य आदि पदार्थ ऋतुओंके अनुकूल देकर यह मनुष्यादि प्राणियोंकी पुष्टि करती है। प्रत्येक ऋतुके अनुकूल नाना प्रकारके फल और फूल संवत्सर देता है, इसलिये वेदमें संवत्सरको पिता भी कहा है और यहां मधुर दूध देनेवाली

कामधेनु कहा है। हरएक ऋतुमें कुछ नवीन फल, फूल, धान्य आदि मिलता है, यही इस धेनुका दूध है। यह दूध हरएक ऋतु इस संवत्सररूपी गौसे निचोडकर मनुष्यादि प्राणियोंको देती है, यह अद्भुत अलंकार इस मन्त्रमें बताया है।

प्रत्येक मासमें, प्रत्येक ऋतुमें तथा प्रत्येक कालमें जो जो फल, फूल उत्पन्न होते हैं उनका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके बल, तेज, वीर्य, आयुष्य आदि बढ सकते हैं। इस मंत्रका यह आशय हरएक मनुष्यके मनन करने योग्य है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ व प्रयत्नसे ऋतुके अनुसार फल, फूल धान्य आदिकी अधिक उत्पत्ति करे और उनके उपयोगसे मनुष्योंको लाभ पहुंचावे।

पूर्व मंत्रमें '(अपां वनस्पतीनां च वीर्याणि) जल तथा वनस्पतियोंके वीर्य' धारण करनेका जो उपदेश हुआ है उसीका स्पष्टीकरण इस चतुर्थ मंत्रने किया है। जिस ऋतुमें जिस जल और जिस वनस्पतिके प्राप्त होनेकी संभावना हो, उस ऋतुमें उसका संग्रह करके उसका सेवन करना चाहिये और इस प्रकार आयु, बल, तेज, कांति, शक्ति, वीर्य आदि गुण अपनेमें बढाने चाहिये।

मनुष्यके शरीरमें देवोंके अंश

जगत्में जो अग्नि आदि देव हैं उनके अंश शरीरमें हैं। उनके स्थान इस चित्रमें बताये गए हैं। इसके मननसे ज्ञात हो सकता है कि बाह्य जगत्के अग्नि आदि देवोंकी सहकारिताके साथ शरीरके स्वास्थ्यका कितना घनिष्ट संबंध है।

यह वेदका उपदेश मनन करने और आचरणमें लाने योग्य है। इतना उपदेश करनेपर भी यदि लोग निर्वीर्य, निःसत्त्व, निस्तेज, निर्बल रहेंगे और वीर्यवान् बननेका यत्न नहीं करेंगे तो वह मनुष्योंका ही दोष है।

इस मंत्रके उत्तरार्धका भाव मनन करने योग्य है। 'इन्द्र, अग्नि आदि सब देव इसकी अनुकूलतासे सहायता करें' अग्नि आदि देवताओंकी सहायताके विना मनुष्य कैसे उन्नतिको प्राप्त हो सकता है? अग्नि ही हमारा अन्न पकाती है, जल ही हमारी तृषा शांत करता है, पृथ्वी हमें आधार देती है, बिजली सबको चेतना देती है, वायु सबका प्राण बनकर प्राणियोंको धारण करता है, सूर्यदेव सबको जीवनशक्ति देता है, चंद्रमा अपनी किरणों द्वारा वनस्पतियोंका पोषण करके हमारा सहायक बनता है, इसी प्रकार अन्यान्य देव हमारे सहायक हो रहे हैं। इनके प्रतिनिधि हमारे शरीरमें रहते हैं और उनके द्वारा ये सब देव अपने अपने जीवनांश हमतक पहुंचा रहे हैं। इस विषयमें इसके पूर्व बहुत कुछ लिखा गया है, इसलिये यहां अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इतने विवरणसे यह बात पाठकोंके मनमें आगई होगी कि अग्नि आदि देवताओंकी सहायता किस रीतिसे हमें हो रही है और यदि इनकी सहायता अधिकसे अधिक प्राप्त करने और उससे अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी विधि ज्ञात हो गई, तो मनुष्योंका बहुत ही लाभ हो सकता है।

आयुष्य-वर्धक-सूक्त

कां. १, सू. ३०

(ऋषिः- अथर्वा (आयुष्कामः)। देवताः- विश्वे देवाः।)

विश्वे॑ देवा॒ वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒मम॒ुतादि॑त्या जागृत यू॒यम॒स्मिन् ।
मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॑त् पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥ १ ॥
ये वो॑ देवाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम् ।
सर्वे॑भ्यो व॒ः परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ ॥ २ ॥
ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व॑१न्तः ।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान्परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून् ॥ ३ ॥
येषां॑ प्रया॒जा उ॒त वा॑नुया॒जा हु॒तभा॑गा अहु॒ताद॑श्च दे॒वाः ।
येषां॑ व॒ः पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ विभ॑क्ता॒स्तान्वो॑ अ॒स्मै स॑त्र॒सदः॑ कृणोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वे देवाः) सब देवो! हे (वसवः) वसुदेवो! (इमं रक्षत) इसकी रक्षा करो। (उत) और हे (आदित्याः) आदित्य देवो! (यूयं अस्मिन् जागृत) तुम इसमें जागते रहो। (इमं) इस पुरुषको (सनाभिः) अपने बंधुका (उत वा अन्य-नाभिः) अथवा किसी दूसरेका (वधः मा प्रापत्) वधकारक शस्त्र न प्राप्त हो, इस पर प्रहार न करे तथा (यः पौरुषेयः वधः) जो पुरुष प्रयत्नसे होनेवाला घातपात है वह भी (इमं मा प्रापत्) इसको प्राप्त न हो ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो (ये वः पितरः) जो आपके पिता हैं तथा (च ये पुत्राः) जो पुत्र हैं वे सब (स-चेतसः) सावधान होकर (मे इदं उक्तं शृणुत) मेरा यह कथन श्रवण करें (सर्वेभ्यो वः एतं परिददामि) आप सबकी निगरानीमें इसको मैं देता हूं (एनं जरसे स्वस्ति वहाथ) इसको वृद्ध आयुतक सुखपूर्वक पहुंचा दो ॥ २ ॥

(ये देवाः दिवि स्थ) जो देव द्युलोकमें हैं, (ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे) जो पृथ्वीमें और अंतरिक्षमें हैं और जो (ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः) औषधि, पशु और जलोंके अंदर हैं (ते अस्मै जरसं आयुः कृणुत) वे इसके लिये वृद्धावस्थावाली दीर्घ आयु प्रदान करें। यह पुरुष (शतं अन्यान् मृत्यून् परिवृणक्तु) सैंकडों अन्य अपमृत्युको हटा देवे ॥ ३ ॥

(येषां) जिन तुम्हारे अंदर (प्रयाजाः) विशेष यजन करनेवाले, (उत वा अनुयाजाः) अथवा अनुकूल यजन करनेवाले तथा (हुत-भागा अहुतादः च देवाः) हवनमें भाग रखनेवाले और हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं, (येषां वः पञ्च प्रदिशः विभक्ताः) जिन आपकी ही पांच दिशायें विभक्तकी गई हैं, (तान् वः) उन तुमको (अस्मै) इस पुरुषकी दीर्घ आयुके लिये (सत्र-सदः कृणोमि) सहायक बनाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे सब देवो, हे वसुदेवो! मनुष्यकी रक्षा करो! हे आदित्य देवो! तुम मनुष्यमें जाग्रत रहो। मनुष्यका उसीके किसी बंधुसे अथवा किसी अन्य मनुष्यसे वध न हो ॥ १ ॥

हे देवो! जो तुम्हारे पिता हैं और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब मेरा कथन सुनें। मनुष्यको पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाना तुम्हारे आधीन है, अतः मनुष्यकी आयु दीर्घ करो ॥ २ ॥

जो देव द्युलोक, अंतरिक्षलोक, भूलोक, औषध, पशु, जल आदिमें हैं वे सब मिलकर मनुष्की आयु दीर्घ करें। तुम्हारी सहायतासे मनुष्य सैंकडों अपमृत्युओंसे बचें ॥ ३ ॥

विशेष यजन करनेवाले, अनुकूल यजन करनेवाले हवनका भाग लेनेवाले तथा हवन किया हुआ न खानेवाले जो देव हैं और जिन्होंने पांच दिशाएं विभक्त की हैं, वे सब आप देव मनुष्यकी आयुष्यवर्धक सभाके सदस्य बनें और मनुष्यकी आयु दीर्घ करनेमें सहायता करें ॥ ४ ॥

आयुष्य--वर्धक--सूक्त

आयुका संवर्धन

मनुष्यका आयुष्य न केवल पूर्ण होना चाहिये प्रत्युत अतिदीर्घ भी होना चाहिये। पूर्ण आयुष्यकी मर्यादा तो १२० वर्षोंकी है, इससे कम १०८ वर्षकी और इससे कम १०० सौ वर्षकी है। सौ वर्षकी मर्यादा तो हरएकको प्राप्त होनी ही चाहिये, परंतु उसके प्रयत्न इससे अधिक आयुष्य प्राप्त करनेकी ओर होने चाहिये, इसका सूचक मंत्र यह है—

भूयश्च शरदः शतात्। (यजुर्वेद ३६।२४)

सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त हो। १२० वर्षोंसे अधिक आयु जितनी भी होगी वह दीर्घ या अतिदीर्घ संज्ञाको प्राप्त होगी। अर्थात् अति दीर्घ आयु प्राप्त करनेका पुरुषार्थ करना वैदिक धर्मके अनुकूल है। इस दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिकी वैदिक रीति इस सूक्तमें दर्शाई है।

सामाजिक निर्भयता

दीर्घ आयुष्यकी प्राप्तिके लिये समाजमें—सामाजिक तथा राष्ट्रीय दृष्टिसे, तथा धार्मिक और अन्यान्य दृष्टियोंसे भी निर्भयता रहनी अत्यंत आवश्यक है। निर्भयता—सुरक्षितताके न रहने पर मनुष्य दीर्घायुवाले हो नहीं सकते। समाजमें कोई एक दूसरे पर हमला करनेवाला न हो, इस प्रकारका समाज बनना चाहिये। राजनैतिक कारणसे हो, धर्मके नामपर हो, अथवा किसी दूसरे निमित्तसे हो, कानून अपने हाथमें लेकर एक दूसरेपर हमला करना किसीको भी उचित नहीं है, यह दर्शानेके लिये प्रथम मंत्रका उत्तरार्ध है, इसका आशय यह है—

'इस मनुष्यका वध कोई सजातीय, अन्य जातीय या कोई अन्य मनुष्य किसी साधनसे न करे।' (मंत्र १)

यह वेदका उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है, हरएक मनुष्य यह ध्यानमें रखे और अपने आचरणमें ढालनेका प्रयत्न करे। 'मैं किसीका वध नहीं करूंगा, किसी दूसरेकी हिंसा मैं नहीं करूंगा। मैं अहिंसा वृत्तिसे आचरण करूंगा।' यह प्रतिज्ञा हरएक मनुष्य करे और तदनुकूल आचरण करे।

इस मंत्रमें जो शांतिका वर्णन है वह मनुष्य मात्रमें स्थिर रहनी चाहिये, यह बुनियाद है और इसी अहिंसावृत्तिपर दीर्घायुका मन्दिर खडा होना है। जबतक मनुष्यमें हिंसक वृत्ति रहेगी तबतक वह दीर्घायु बन नहीं सकता। घातपात करनेकी वृत्ति, क्रोधकी लहर, दूसरेके खून करनेकी वासना, दूसरेको दबाकर अपनी धनसंपत्ति बढानेकी अभिलाषा जबतक रहेगी, तबतक मनुष्यकी आयु क्षीण ही होती जायगी। इसलिये वध करनेकी वृत्ति अपने समाजमेंसे दूर करनेका यत्न मनुष्य प्रथम करे।

देवोंके आधीन आयुष्य

मनुष्यका समाज जितना अहिंसावृत्तिवाला होगा। उतनी उसकी आयुष्यमर्यादा दीर्घ हो सकती है। इसी अहिंसावृत्तिको अपनाकर आगे बढना चाहिए। आगेका मार्ग यह है कि— 'अपना आयुष्य देवोंके आधीन है, देव हमारी रक्षा कर रहे हैं' यह भाव मनमें धारण करना। इसकी सूचना प्रथम मंत्रके पूर्वार्धने दी है, उसका आशय यह है—

'हे सब वसुदेवो! मनुष्यकी रक्षा करो। हे सब आदित्यो! मनुष्यमें जागते रहो।' (मंत्र १)

इस मंत्रमें भी दो भाग हैं। पहिले भागमें वसु देवोंकी रक्षक शक्तिके साथ संबंध बताया है और दूसरे भागमें आदित्य देवोंको मनुष्यके अंदर, मनुष्यके देहमें, जाग्रत रहनेकी सूचना दी है। ये दोनों बातें दीर्घ आयुके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। अब इनका संबंध देखिये—

सबसे पहिले मनुष्य यह विचार मनमें धारण करे कि संपूर्ण देव मेरी रक्षा कर रहे हैं, परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर सर्व समर्थ प्रभु मेरी रक्षा कर रहा है और उसकी आधीनतामें सूर्यादि सब देव सदा मेरी रक्षा कर रहे हैं। मैं परमात्माका अमृतपुत्र हूं इसलिये मेरा परमपिता परमात्मा मेरी रक्षा करता था, करता है और आगे भी करता रहेगा। परमात्माके आधीन अन्य सब देव होनेके कारण वे भी उस परमात्माके पुत्रकी रक्षा अवश्य करेंगे ही।

इस प्रकार संपूर्ण देव मेरा संरक्षण करते हैं इसलिये मैं निर्भय हूं यह विचार मनमें दृढ करके मनके अंदर जो जो चिन्ताके विचार आयें उनको हटाना चाहिये और विश्वाससे मनकी ऐसी दृढ अवस्था बनानी चाहिये कि जिससें चिंताका विचार ही न उठे और चिंतारहित निर्भय होनेके भाव आनंद वृत्तिके साथ मनमें रहें। दीर्घायुष्यके लिये इस प्रकार परमात्मापर तथा अन्यान्य देवोंकी संरक्षक शक्तिपर अपना पूर्ण विश्वास रखना चाहिये, अन्यथा दीर्घ आयुष्य प्राप्त होना असंभव है।

*

कई पाठक शंका करेंगे कि अन्यान्य देव हमारी रक्षा किस प्रकार कर रहे हैं ? इस विषयमें इससे पूर्व कई स्थानोंपर उल्लेख आगया है। तथापि संक्षेपसे यहां भी इसका विचार करते हैं। पाठक जानते ही हैं कि प्रथम मंत्रमें 'वसु' देवोंका उल्लेख है, ये सब जगत्के निवासक देव होनेके कारण ही इनको 'वसु' कहते हैं। सबके जो निवासक होते हैं वे सबकी रक्षा अवश्य ही करेंगे।

सब वसुओंका भी परम वसु परमात्मा है क्योंकि वह जैसे सब जगत्को बसाता है, उसी प्रकार जगत्के संरक्षण करनेवाले सब देवोंको भी बसाता है। पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ये अष्टवसु हैं, भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य आदिके साथ हमारे क्षण-क्षणके आयुष्यका संबंध है, इनमेंसे एकका भी संबंध हमसे टूट गया तो हमारा नाश निश्चित है। इतना महत्त्व इनका है और इसी कारण इनके रक्षणमें सदा मनुष्य रहता है ऐसा ऊपरवाले मंत्रमें कहा है। इससे स्पष्ट हुआ कि मनुष्यकी रक्षा इन देवोंके कारण हो रही है और अति निःपक्षपातसे हो रही है। ये देव कभी किसीका पक्षपात नहीं करते। सूर्य सबपर एकसा प्रकाश करता है, वायु सबके लिये एकसी बह रही है, जल सबके लिये आकाशसे गिरता है, पृथ्वी सबको समानतया आधार दे रही है, इस प्रकार ये सब देव न केवल सबकी रक्षा कर रहे हैं प्रत्युत सबके साथ निःपक्षपातका भी बर्ताव कर रहे हैं।

हमारे जीवनके साथ इनका संबंध इतना घनिष्ट है कि इनके विना हमारा जीवन ही अशक्य है। वायुके विना प्राण धारण कैसे होगा ? सूर्यके विना जीवन ही असंभव होगा अतः इस प्रकार परमात्माके नियमके आधीन रहते हुए ये सब देव हमारी रक्षा कर रहे हैं।

हम क्या करते हैं ?

सब देव तो हमारी रक्षा कर ही रहे हैं, परंतु हम क्या कर रहे हैं, हम उनकी रक्षामें रहनेका यत्न कर रहे हैं या उनकी रक्षासे बाहर होनेके यत्नमें हैं ? इसका विचार पाठकोंको करना चाहिये। परमात्माकी और देवोंकी रक्षासे हम कैसे बाहर जाते हैं— परमात्मापर जो विश्वास ही नहीं रखते वे परमात्माकी रक्षासे बाहर हो जाते हैं। दयामय परमात्मा तब भी उनकी रक्षा करता ही रहता है यह उसकी ही अपार दया है, परंतु ये अविश्वासी लोग उसकी अपार दयासे लाभ नहीं उठाते। अविश्वासके कारण जितनी हानि होती है, उतनी हानि किसी अन्य कारणसे नहीं हो सकती। दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये इसी कारण मनमें परमात्मविषयक दृढ विश्वास होना चाहिये।

सूर्य अपने प्रकाशसे सबको जीवनामृत देकर सबकी रक्षा कर ही रहा है, परंतु मनुष्य सूर्य प्रकाशसे दूर रहते हैं, तंग गलियोंके तंग मकानोंमें रहते हैं, दिनभर कमरोंमें अपने आपको बंद रखते हैं और इस प्रकार सूर्यदेवकी संरक्षक शक्तिसे अपने आपको दूर रखते हैं। इसमें भगवान् सहस्र-रश्मी सूर्यदेव क्या कर सकते हैं ? इसी प्रकार वायु और जल आदि देवोंके विषयमें समझना उचित है। ये देव तो सबकी रक्षा कर ही रहे हैं परंतु मनुष्योंको भी चाहिये कि वे इनकी उत्तम रक्षासे अपने आपको दूर न रखें और जहांतक हो सके उतना प्रयत्न करके उनकी रक्षामें अपने आपको अधिक रखें।

आदित्य देवोंकी जाग्रति

इस प्रथम मंत्रमें दीर्घ आयुष्य वर्धक एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह है— 'हे आदित्य देवो ! इस मनुष्यमें जाग्रत रहो।' मनुष्यके अंदर आदित्यसे ही सब जीवनशक्ति आरही है। यह जीवनशक्ति जैसे मनुष्यमें कार्य करती है उसी प्रकार सब जगत्में कार्य कर रही है। इसी शक्तिसे सब जगत् चल रहा है। परंतु यहां मनुष्यका ही हमें विचार करना है। मनुष्यमें यह आदित्य शक्ति उसके मस्तिष्कमें, नेत्रमें और पेटमें रहती है। मस्तिष्कमें मज्जाकेंद्र चलाती है, पेटमें पाचक केंद्रको चेतना देती है और नेत्रमें देखनेका व्यापार कराती है। इनमेंसे किसी भी आदित्य शक्तिके कम होनेपर भी मनुष्यकी आयु घटती जायेगी। मस्तिष्कका मज्जाकेंद्र आदित्य शक्तिसे हीन हो जाए तो संपूर्ण शरीर चेतना रहित हो जाता है, पेटका पाचक केंद्र आदित्य शक्तिसे हीन हो जाए तो हाजमा बिगड जाता है, नेत्रकी आदित्य-शक्ति खत्म हो जाए तो मनुष्य अंधा हो जाता है और उसके सब व्यवहार ही बंद हो जाते हैं। इतना महत्त्व इस आदित्य शक्तिका मनुष्यके अथवा प्राणीके शरीरमें है। इस लिये वेदमें कहा है कि—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ. १।११५।१)

'यह आदित्य सूर्य ही स्थावर और जंगम जगत्की आत्मा है।' सूर्यभेदन व्यायाम और सूर्यभेदी प्राणायाम द्वारा पेटके स्थानमें रहनेवाली आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है, ध्यान द्वारा मस्तिष्ककी आदित्य शक्ति जाग्रत होती है, तथा त्राटक आदि अभ्यास द्वारा नेत्रकी आदित्य शक्ति जाग्रत हो जाती है। इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा अपने अंदरकी आदित्य शक्ति जाग्रत और बलयुक्त करनेसे मनुष्य दीर्घ-जीवी हो सकता है।

इस प्रथम मंत्रके ये उपदेश यदि पाठक ध्यानमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंका योग्य अनुष्ठान करेंगे तो उनकी आयु बढ जायगी इसमें कोई संदेह नहीं है। 'समाजमें निर्भयता, परमेश्वरपर दृढनिष्ठा, वायु, जल, सूर्य आदि देवताओंसे अधिक संबंध करना और अपने अंदर आदित्य शक्तियोंकी जाग्रति करना' यह संक्षेपसे दीर्घायु प्राप्त करनेका मार्ग है।

इसी मार्गका थोडासा स्पष्टीकरण आगेके मंत्रोंमें भी है, वह अब देखिये—

देवोंके पिता और पुत्र

इस आयुष्यवर्धन सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है, कि 'हे देवो ! जो तुम्हारे पिता हैं और तुम्हारे पुत्र हैं वे मेरी बात सुनें, मैं तुम्हारे ही आधीन इस मनुष्यको करता हूं, तुम इसको दीर्घ आयुष्यतक सुखसे पहुंचाओ।' (मं. २)

इस द्वितीय मंत्रमें 'देव, देवोंके सब पिता और देवोंके सब पुत्र ये सब मनुष्यको सुखसे दीर्घ आयुष्यतक पहुंचानेवाले हैं' ऐसा कहा है, यह मनन करने योग्य है। इस मंत्रको ठीकसे समझनेके लिये देव कौन हैं, उनके पिता कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं, इसका विचार करना यहां अत्यंत आवश्यक है। अथर्ववेदमें इन पिता पुत्रोंका वर्णन इस प्रकार आया है—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥३॥
प्राणापानौ चक्षुःश्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥४॥
कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताऽजायत ॥८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत ॥९॥
ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥
(अथर्व. ११।८।१०)

(पुरा) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवाः) देवोंसे दश देव (साकं अजायन्त) साथ साथ उत्पन्न हुए। जो इनको प्रत्यक्ष जानेगा, (सः अद्य महद् वदेत्) वह बडे ब्रह्मके विषयमें बोलेगा। वही ब्रह्मका ज्ञान कहेगा ॥ ३॥

प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, (अ-क्षितिः) अविनाशी बुद्धि और (क्षितिः) नाशवान् चित्त, व्यान, वाचा और मन ये दस देव तेरे (आकूतिं आवहन्) संकल्पको उठाते हैं ॥ ४॥

कहांसे इन्द्र, सोम और अग्नि उत्पन्न हो गये? कहांसे त्वष्टा हुआ और धाता भी कहांसे हुआ? ॥ ८॥

इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे त्वष्टा और धातासे धाता हुआ है ॥ ९॥

(ये पुरा देवेभ्यः दश देवाः) जो पहिले देवोंसे दश देव हुए हैं, (पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा) पुत्रोंको स्थान देकर वे स्वयं (कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें बैठे हैं? ॥ १०॥

इन मंत्रोंमें देव, देवोंके पिता और पुत्र कौनसे हैं इसका वर्णन है! प्राण अपानादि दश देव इन्द्रादि देवोंसे बने हैं और वे पुत्र रूप देव इस शरीरमें रहते हैं, इन पुत्रदेवोंके पिता देव इस जगत्में हैं और उनके भी पिता परमात्मामें रहते हैं, इसका स्पष्टीकरण यह है—प्राणरूप देव मनुष्य शरीरमें है, वह जगत्में संचार करनेवाले वायुका पुत्र है और इस वायुका भी पिता—वायुका भी वायु—परमपिता परमात्मा है। इसी प्रकार चक्षुरूपी पुत्रदेव शरीरमें रहता है, उसका पिता सूर्यदेव द्युलोकमें है और सूर्यका पिता—सूर्यका भी सूर्य परमपिता परमात्मा है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके विषयमें जानना योग्य है। यह विषय इससे पूर्व आचुका है, इसलिये यहां इसके अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है।

सबका सारांश यह है कि पुत्र रूपी देव प्राणियोंके इन्द्रियों और अवयवोंमें अर्थात् शरीरमें रहते हैं। इनके पितादेव भूः-भुवः स्वः इस त्रिलोकीमें रहते हैं और इन सूर्यादि देवोंके भी पिता विशेष शक्तिके रूपसे परमात्मामें निवास करते हैं।

हमारी आंख सूर्यके विना कार्य करनेमें असमर्थ है और सूर्य परमात्माकी सौर महाशक्तिके विना अपना कार्य करनेमें असमर्थ है। इसी प्रकार संपूर्ण देवों और पिता पुत्रोंके विषयमें जानना योग्य है। मनुष्यकी दीर्घायु इन सबके आधीन बनती है।

इसलिये जो दीर्घ आयुष्यके इच्छुक हैं, वे भक्तियुक्त अंतःकरणसे अपना संबंध परम पिता परमात्मासे दृढ करें। परम पिता परमात्मा सूर्यका भी सूर्य, वायुका भी वायु, प्राणका भी प्राण, अर्थात् देवोंका भी देव है और वही हम सबका पिता है। इसकी भक्तिके अंतःकरणमें दृढ होने पर मनकी समता स्थिर रह सकती है और उससे दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार देवोंके पितासे मनुष्यका संबंध होता है और यह संबंध अत्यंत लाभकारी है।

स्वावलंबिनी प्रजा

कां. ७, सू. ९४

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– सोमः ।)

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि । यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

अर्थ— (ध्रुवेण हविषा) स्थिर हविसे (ध्रुवं सोमं अव नयामसि) स्थिर सोमको प्राप्त करते हैं। (यथा इन्द्रः) जिससे इन्द्र (नः विशः केवलीः संमनसः करत्) हमारी प्रजाओंको दूसरेके ऊपर अवलंबन न करनेवाली और उत्तम मनवाली करे ॥ १ ॥

स्थिर कर प्रदान करनेसे राजा स्थिर रहता है और वह अपनी प्रजाको (केवलीः) स्वतंत्र, स्वावलंबिनी अर्थात् दूसरे पर अवलंबन न करनेवाली और (सं-मनसः) उत्तम मनवाली करता है । केवल अपनी ही शक्तिसे रहनेवाली, दूसरेकी शक्तिकी सहायता न लेनेवाली जो प्रजा होती है, उसका नाम वेदमें ' केवली प्रजा ' है । यह शब्द प्रजाकी श्रेष्ठतम उन्नतिका सूचक है। जिस राष्ट्रकी प्रजा केवल अपनी शक्तिसे ही रहती है और किसी प्रकार दूसरेपर निर्भर नहीं होती, उस राष्ट्रको पूर्ण मानना चाहिए ।

वाणी

कां. ७, सू. ४३

(ऋषिः– प्रस्कण्वः । देवता– वाक् ।)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ते एकाः शिवाः) तेरे एक प्रकारके शब्द कल्याणकारक होते हैं, तथा (ते एकाः अशिवाः) तेरे दूसरे प्रकारके शब्द अशुभ भी होते हैं । (सुमनस्यमानः सर्वाः बिभर्षि) उत्तम मनवाला तू उन सबको धारण करता है । (तिस्रः वाचः अस्मिन् अन्तः निहिताः) तीन प्रकारकी वाणियां इस मनुष्यके अन्दर गुप्त रहती हैं । (तासां एका घोषं अनु विपपात) उनमेंसे एक बडे स्वरमें विशेष रीतिसे बाहर व्यक्त होती है ॥ १ ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये वाणीके चार नाम हैं, परा नाभिस्थानमें, पश्यन्ती हृदयस्थानमें, मध्यमा छातीके ऊपरके भागमें और वैखरी मुखमें होती है। जो शब्द उच्चारा जाता है वह इन चार स्थानोंसे गुजरता है। पहिली तीनों वाणियां गुप्त हैं और चतुर्थ वाणी प्रकट है जो सब लोग बोलते हैं । यह चतुर्थ वैखरी वाणी मनुष्य शुभ और अशुभ दोनों प्रकारसे बोलते हैं । अतः मनुष्यको योग्य है कि वह उत्तम शुभ संस्कार युक्त मनवाला होकर शुभ शब्दोंका ही प्रयोग करे । यही शुभ उच्चारी वाणी सबका कल्याण कर सकती है ।

सुख

कां. ७, सू. ६९

(ऋषिः– शन्तातिः । देवता– सुखम् ।)

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥ १ ॥

अर्थ— (नः वातः शं वातु) हमारे लिये वायु सुखकर रीतिसे बहे । (नः सूर्यः शं तपतु) हमारे लिये सूर्य सुखकारी होकर तपे । (नः अहानि शं भवन्तु) हमारे दिन सुखदायक हों । (रात्री शं प्रतिधीयतां) रात्री सुखकारी हो । (उषा नः शं व्युच्छतु) उषःकाल हमें सुख देवे ॥ १ ॥

वायु, सूर्य, दिन, रात और उषा ये तथा अन्य सब पदार्थ हमें सुखदायक हों । हमारी आन्तरिक अवस्था ऐसी रहे कि हमें बाह्य जगत् सदा सुखकारी होवे और कभी दुःखदायी न हो ।

सुखप्राप्ति सूक्त

कां. १, सू. २६

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवताः– इन्द्रादयः ।)

आरेऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् । आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥
सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥
यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः । शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥
सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (देवासः) देवो ! (असौ हेतिः) यह शस्त्र (अस्मत् आरे अस्तु) हमसे दूर रहे और (यं अस्यथ) जिसे तुम फेंकते हो वह (अश्मा आरे असत्) पत्थर भी हमसे दूर रहे ॥ १ ॥

(असौ रातिः) यह दानशील, (भगः) धनयुक्त सविता, (चित्रराधाः इन्द्रः) विशेष ऐश्वर्यसे युक्त इन्द्र हमारा (सखा अस्तु) मित्र होवे ॥ २ ॥

(प्रवतः नपात्) स्वयंके रक्षण करनेवालेको न गिरानेवाले हे (सूर्यत्वचसः मरुतः) सूर्यके समान तेजस्वी मरुत् देवो ! (यूयं) तुम (नः) हमारे लिये (सप्रथः शर्म) विस्तृत सुख (यच्छाथ) दो ॥ ३ ॥

(सुषूदत) तुम हमें आश्रय दो, (मृडत) हमें सुखी करो, (नः तनूभ्यः मृडय) हमारे शरीरोंको आरोग्य दो तथा (तोकेभ्यः मयः कृधि) बालबच्चोंके लिये आनन्द दो ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे देवो ! आपके दंडरूप शस्त्रको हमारे ऊपर प्रयुक्त होनेका अवसर न आवे, अर्थात् हमसे ऐसा कोई कार्य न हो कि जिसके कारण हम दण्डके भागी बनें ॥ १ ॥

इन्द्र, सविता, भग आदि देवगण हमारे सहायक हों ॥ २ ॥

मरुत् देव हमारा सुख बढावें ॥ ३ ॥

सब देव हमें उत्तम आधार दें, हमारे शरीरका आरोग्य बढावें, हमारे मनकी शांति वृद्धिंगत करें, हमारे बालबच्चोंको कुशल रखें और सब प्रकारसे हमारा आनंद बढावें ॥ ४ ॥

सुखप्राप्ति--सूक्त

देवोंसे मित्रता

इन्द्र, सविता, भग, मरुत् आदि देवोंसे मित्रता करनेसे सुख मिलता है और उनके प्रतिकूल आचरण करनेसे दुःख प्राप्त होता है। इसलिये प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है कि उन देवोंका दंड हमपर न चले और दूसरे मंत्रमें प्रार्थना है कि ये सब देव हमारे मित्र; हमारे सहायक बनकर हमारा सुख बढावें, अथवा हमारा ऐसा आचरण बने कि ये हमारे सहायक बनें और विरोधी न हों। इसका आशय यह है कि—

१ सविता— सूर्यदेव है, यह स्वयं मित्रता करनेके लिये हमारे पास नहीं आता, अपितु सबेरे उदय होनेके समयसे अपना हाथ हमारे पास भेजता है और हमसे मिलना चाहता है, परंतु यदि हम अपने आपको तंग मकानोंमें बंद रखते हैं और सविता देवके पवित्र हाथके पास जाते ही नहीं तो इसमें सविता देवका क्या दोष है ? सूर्य ही आरोग्यका देवता है, उसके साथ इस प्रकार विरोध करनेसे उसका वज्र हमपर गिरता है जिससे नाना रोगके दुःखोंमें गिरना पडता है।

२ मरुत्— नाम वायु देवताका है। यह वायुदेव भी हमारी सहायता करनेके लिये हरएक स्थानमें हमसे पहिलेसे ही उपस्थित हैं, परन्तु हम खुली हवाका सेवन ही नहीं करते, परिशुद्ध वायु हमारे घरों और कमरोंमें आवे ऐसी व्यवस्था ही नहीं करते, इसके विपरीत वायुको बिगाडनेके अनंत साधन निर्माण करते हैं। इत्यादि कारणोंसे वायु देवताका क्रोध हमपर होता है और उनका वज्रघात हमें सहन करना पडता है। जिससे विविध बीमारियां वायुके क्रोधसे हमें सता रहीं हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध जानना उचित है। इस विषयमें अथर्ववेद स्वाध्याय कां. १ सूक्त ३, ९ देखिये, इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणके प्रसङ्गमें देवताओंसे हमारे संबंधका वर्णन किया है। इसलिये इस सूक्तके साथ उन सूक्तोंका संबंध अवश्य देखना चाहिये।

जिस प्रकार इन बाह्य देवताओंके हमारे मित्र बनकर रहनेसे हमारा स्वास्थ्य और सुख बढता है, उसी प्रकार उनके प्रतिनिधि- जो हमारे शरीरमें स्थान स्थानमें रह रहे हैं उनको मित्र बनाकर रखनेसे भी हमारा स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है, इस विषयमें अब थोडासा विवरण देखिये—

१ सविता सूर्य देव आकाशमें है, उसीका प्रतिनिधि अंशरूप देव हमारी आंखमें तथा नाभिस्थानके सूर्यचक्रमें रह रहा है। क्रमशः इनके काम दर्शनशक्ति और पाचनशक्तिके साथ संबंधित हैं। ये देव यदि हमारे मित्र बनकर रहें तो स्वास्थ्य और आरोग्य रह सकता है। यदि आंख किसी समय धोखा देवे, अथवा रूपके विषयमें मोहित होकर हीन मार्गसे इस शरीरको ले चले, तो उससे प्राप्त होनेवाली शरीरकी कष्टमय दशाकी कल्पना पाठक ही कर सकते हैं। इसी प्रकार पेटकी पाचनशक्तिके ठीक न रहनेसे कितने रोग उत्पन्न हो सकते हैं, इसका ज्ञान पाठकोंसे छिपा नहीं है। अर्थात् शरीरस्थानीय सूर्य-सविताके अंश रूप देवके सखा बनकर न रहनेसे मनुष्यकी आपत्तियोंकी संख्या कितनी बढ सकती है इसका पाठक ही विचार करें।

२ इसी प्रकार मरुत् वायु-देव फेफडोंमें तथा शरीरके नाना स्थानोंमें रहते हैं। यदि उनका कभी प्रकोप हो जाय तो नाना विकारोंकी उत्पत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार इन्द्रदेव अंतःकरणके स्थानमें तथा अन्यान्य देव शरीरके अन्यान्य स्थानोंमें रहते हैं। पाठक विचार करके जान सकते हैं कि उनके 'सखा' बनकर रहनेसे ही मनुष्य मात्रको स्वास्थ्य और आनंद प्राप्त हो सकता है। इनके विरोधी बननेसे दुःखका पारावार नहीं रहेगा।

चतुर्थ मंत्रमें जो कहा है कि 'ये ही देव हमें सहारा देते हैं, हमें सुखी रखते हैं, हमारे शरीरका आरोग्य बढाते हैं और बालबच्चोंको भी आनंदित रखते हैं,' यह कथन भी दिनके प्रकाशके समान प्रत्यक्ष है। इसलिये स्वास्थ्य और सुखकी प्राप्तिके इस सच्चे मार्गका अवलंबन सबको करना चाहिए।

विशेष सूचना

विशेष कर पाठक इस बातका अधिक ख्याल रखें, कि वेद सुख, स्वास्थ्य और आनंदके प्राप्त करनेके लिये धनादि साधन नहीं बताता है, प्रत्युत 'जल, वायु, सूर्य आदिके साथ सख्य करो' यही साधन बता रहा है। यह हरएक कर सकता है। चाहे धन किसीको मिले या न भी मिले, परंतु 'जल वायु और सूर्य प्रकाश' तो हरएकको मिल सकता है।

शापका दुष्परिणाम

कां. ७, सू. ५९

(ऋषिः— बादरायणिः । देवता— अरिनाशनम् ।)

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् । वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

अर्थ— (यः अशपतः नः शपात्) जो शाप न देने पर भी हमें शाप देता है और (यः च शपतः नः शपात्) जो शाप देने पर भी हमें शाप देता है वह उसी तरह (आ मूलात् अनु शुष्यतु) जडसे सूख जावे, जैसे (विद्युता आहतः वृक्षः इव) बिजलीसे आहत हुआ वृक्ष सूख जाता है ॥ १ ॥

किसीको शाप देना, गाली देना या बुराभला कहना या निन्दा करना बहुत ही बुरा है। उससे गाली देनेवालेका ही नुकसान होता है।

ईर्ष्यानिवारक औषध

कां. ७ सू. ४५

(ऋषिः— प्रस्कण्वः, अथर्वा । देवता— ईर्ष्यापनयनं भेषजम् ।)

जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम् । दूरात्त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥ १ ॥
अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् । एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अर्थ— (विश्वजनीनात् जनात्) संपूर्ण जनोंके हितकारी जनपदसे तथा (सिन्धुतः परि आभृतं) समुद्रसे जो लाया गया है, वह (ईर्ष्यायाः नाम भेषजं) ईर्ष्याको दूर करनेवाला औषध है, हे औषध ! (दूरात् त्वा उद्भृतं मन्ये) दूरसे तुझको यहां लाया गया है, यह मैं जानता हूं ॥ १ ॥

हे औषध ! तू (अस्य दहतः अग्नेः इव) इस जलानेवाले अग्निके समान, (पृथक् दहतः दावस्य) अलग जलानेवाले दावानलको अर्थात् (एतस्य एतां ईर्ष्यां) इस मनुष्यकी इस ईर्ष्याको (उद्ना अग्निं इव शमय) पानीसे अग्निको शान्त करनेके समान शान्त कर ॥ २ ॥

मनसें स्थित ईर्ष्या, स्पर्धा और द्वेषभाव इस औषधके प्रयोगसे दूर हो सकता है। सुविद्य वैद्योंको उचित है कि वे इन मनके ऊपर प्रभाव करनेवाली औषधियोंकी खोज करें। इस समय मानसिक रोगोंकी चिकित्सा वैद्य करनेमें असमर्थ समझे जाते हैं। यदि ये औषधियां प्राप्त हो जाए तो मनके रोग भी दूर हो सकते हैं। इस सूक्तमें ओषधिका नामतक नहीं है। यही इसकी खोजमें बडी कठिनता है

अमृतशक्ति

कां. ७, सू. ४७

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– कुहूः ।)

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद्ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥
कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥ २ ॥

अर्थ— (सुकृतं विद्मनापसं सुहवा) उत्तम कर्म करनेवाली, ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली, स्तुतिके योग्य और (कु-हूं देवीं) पृथ्वीपर जिसका हवन होता है ऐसी दिव्य शक्तिमयी देवीको मैं (अस्मिन् यज्ञे जोहवीमि) इस यज्ञमें बुलाता हूं । (सा विश्ववारं रयिं नः नियच्छात्) वह सबके द्वारा वरण करने योग्य धन हमें देवे । तथा (उक्थ्यं शतदायं वीरं ददातु) प्रशंसनीय और सैंकडों दान करनेवाले वीरको प्रदान करे ॥ १ ॥

(देवानां अमृतस्य पत्नी कु-हू) सब देवोंके बीचमें जो पूर्णतया अमर है, उस ईश्वरकी पत्नी यह कुहू, [जिसका हवन इस पृथ्वीपर सब करते हैं] (नः हव्या) हमारी प्रशंसाके योग्य है । वह (अस्य हविषः जुषेत) इस हविका सेवन करे । (उशती यज्ञं शृणोतु) इच्छा करती हुई वह देवी यज्ञका वृत्तान्त सुने और (चिकितुषी अद्य रायस्पोषं नः दधातु) ज्ञानवाली वह देवी आज धनसमृद्धि हमें देवे ॥ २ ॥

इस पृथ्वीपर जिसका सत्कार होता हैं उसको 'कु-हू' कहते हैं । यह (अमृतस्य पत्नी) अमर ईश्वरकी आदि शक्ति है । और यह ईश्वर (देवानां अ-मृतः) संपूर्ण देवोंमें अमर है । इसकी अमर शक्तिसे ही सब अन्य देव अमर बने हैं । इस परमेश्वरी शक्तिकी हम उपासना करते हैं । वह देवी हमें धन और वीरता देवे ।

ज्ञान और कर्म

कां. ७, सू. ५४

(ऋषिः– ब्रह्मा, भृगुः । देवता– ऋक्साम, इंद्रः ।)

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते । एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

अर्थ— (याभ्यां कर्माणि कुर्वते) जिनके द्वारा कर्म करते हैं उन (ऋचं साम यजामहे) ऋचाओं और सामोंसे हम संगतिकरणका काम करते हैं (एते सदसि राजतः) ये दोनों इस यज्ञस्थलमें प्रकाशमान् हों । और ये (देवेषु यज्ञं यच्छतः) देवोंमें श्रेष्ठ कर्मका अर्पण करें ॥ १ ॥

भावार्थ— ऋचा और साम इन मन्त्रोंसे मानवी उन्नतिके सब कर्म होते हैं, इसलिये हम इन वेदोंका अध्ययन करते हैं । ये ही वेद इस जगत्‌की कर्म भूमिमें प्रकाश देनेवाले मार्गदर्शक हैं । क्योंकि ये ही देवोंमें सत्कर्मकी स्थापना करते हैं ॥ १ ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् । एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् ऋचं साम, यजुः) जिन ऋचा, साम और यजु तथा (हविः ओजः बलं अप्राक्षं) हवन, ओज और बलके विषयमें मैंने पूछा, हे (शचीपते) बुद्धिमान् ! (तस्मात् एषः पृष्टः वेदः) उस कारण यह पूछा हुआ वेद (मा मा हिंसीत्) मेरी हिंसा न करे ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं गुरुसे ऋचा, साम और यजुके विषयमें पूछता हूं और हवनकी विधि, शारीरिक बल कमानेका उपाय और मानसिक बल प्राप्त करनेका उपाय भी पूछता हूं। यह सब प्राप्त किया हुआ ज्ञान मेरी उन्नतिका सहायक होवे और बाधक न बने ॥ २ ॥

इस सूक्तमें कहा है कि ऋचा, यजु और साम ये ज्ञान देनेवाले मंत्र हैं और इनसे श्रेष्ठतम कर्म किया जाता है। इन कर्मोंको करके मनुष्य उन्नतिको प्राप्त करता है और ओज तथा बलको बढाता है। उक्त मन्त्रोंसे मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और उस ज्ञानसे कर्म करके उन्नत होता है। परन्तु किसी किसी समय मनुष्य मोहवश होकर ज्ञानका दुरुपयोग भी करता है और अपना नाश कर लेता है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य बल प्राप्तिके उपायका ज्ञान प्राप्त करता है और उसका अनुष्ठान करके बहुत बल कमाता है। शरीरमें बल बढनेसे उसमें घमण्ड पैदा होता है और वही मनुष्य निर्बलोंको सताने लगाता है और गिरता है। अतः इस सूक्तके अन्तिम मन्त्रमें प्रार्थना की है कि वह प्राप्त हुआ हुआ ज्ञान हमारा घात न करे, ज्ञान एक शक्ति है जो उपयोगकर्ताके भले बुरे प्रयोगके अनुसार भला बुरा परिणाम करनेवाली होती है। इसीलिये परमेश्वरसे प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी सत्प्रवृत्ति रखे और हमें घातपातके मार्गमें जाने ही न दे।

प्रकाशका मार्ग

कां. ७, सू. ५५

(ऋषिः– भृगुः । देवता– इन्द्रः ।)

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः । तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥ १ ॥

अर्थ— हे (वसो) सबके निवासक प्रभो ! (ये ते दिवः पन्थानः) जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं, (येभिः विश्वं अव ऐरयः) जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, (तेभिः नः सुम्नया धेहि) उनसे हम सबको सुखसे रख ॥ १ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! जो तेरे प्रकाशके मार्ग हैं और जिनसे तू सब जगत्को चलाता है, हमें उन सुखके मार्गोंसे ले चल और हमें सुख दे ॥ १ ॥

मार्ग दो हैं। एक प्रकाशका और दूसरा अन्धेरेका। ईश्वर प्रकाशका मार्ग सबको बताता है और सबको सुखी करता है। परन्तु जो इस प्रभुको छोडकर अन्धेरेके मार्गसे जाते हैं वे दुःख भोगते हैं। इसीलिये इस प्रभुकी ही प्रार्थना करनी चाहिये कि वह अपना प्रकाशका मार्ग हमें दर्शावे और हमें ठीक मार्गसे ले चले।

मनुष्यकी शक्तियाँ

कां. ७; सू. ५७

(ऋषिः– वामदेवः देवता– सरस्वती।)

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद्घृतेन ॥ १ ॥
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि ।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

अर्थ— (यत् आशसा वदतः ये विचुक्षुभे) जो हिंसासे बोलनेवाले मेरा मन क्षुभित हो गया है, (यत् जनान् अनुचरतः याचमानस्य) जो लोगोंकी सेवा करते हुए याचना करनेवाला व्याकुल हो गया है, (तत् आत्मनि मे तन्वः विरिष्टं) तथा मेरी आत्मामें और शरीरमें जो हीनता हो गई है, (तत् सरस्वती घृतेन आ पृणत्) उसको सरस्वती घृतसे भर देवे ॥ १ ॥

जिस प्रकार (पित्रे पुत्रासः ऋतानि अपि अवीवृतन्) पिताके लिये पुत्र सत्य कर्मोंको करते हैं। उसी प्रकार (मरुत्वते शिशवे सप्त क्षरन्ति) प्राणवाले बालकके लिये सात प्राण अथवा सात इन्द्रियशक्तियां जीवनरस देती हैं। (अस्य उभे इत्) इसके पास दो शक्तियां हैं और (अस्य उभे राजतः) इसकी वे दोनों शक्तियां प्रकाशित होती हैं, (उभे यतेते) दोनों प्रयत्न करती हैं और (अस्य उभे पुष्यतः) इसका दोनों पोषण करती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— वक्तृत्व करनेके समय अथवा जनसेवा करनेके समय किंवा सेवाके लिये प्रार्थना करनेके समय करनेके योग्य हलचलमें जो भी शरीरमें अथवा मनमें या आत्मामें दुःख हुआ हो, वह सरस्वती दूर करे ॥ १ ॥

चैतन्यपूर्ण बालकमें सात दैवी शक्तियां कार्य करती हैं। ये शक्तियां उसका कार्य ऐसे ही करती हैं कि जैसे बालक अपने पिताका कार्य करते हैं। उसके पास दो शक्तियां होती हैं जो उसका तेज बढाती, कार्य कराती और पोषण करती हैं ॥२॥

जनसेवा

जनसेवा करनेके समय जो कष्ट होते हैं (जनान् अनुचरतः यद् विचुक्षुभे। मं. १) जनताकी सेवा करनेके समय जो क्षोभ होता है, जो मानसिक क्लेश होते हैं अथवा जो शारीरिक क्लेश भोगने पडते हैं, वे सरस्वती अर्थात् विद्या देवीकी सहायतासे दूर हों। अर्थात् मनुष्यको जनताकी सेवा करनी चाहिये और उस पवित्र कार्यके करनेके समय जो कष्ट हों, उनको आनंदसे सहना चाहिये। विद्याके उत्तम प्रकार प्राप्त होनेके पश्चात ही यह सहनशक्ति प्राप्त होती है। ज्ञानी मनुष्य ऐसे कष्टोंकी पर्वाह नहीं करता।

मानवी बालकके तथा बडे मनुष्यके शरीरमें सात शक्तियां रहती हैं। बुद्धि, मन और पांच ज्ञानेंद्रियां, ये सात शक्तियां हैं जो हरएक मानवी बालकमें जन्मसे रहती हैं। मानो ये सातों इसके पुत्र ही हैं। पुत्रवत् ये इसकी सहायता करती हैं। जिस प्रकार पुत्र अपने पिताके कार्य सद्भावनासे करते हैं और कोई कपट नहीं करते, उसी प्रकार ये शक्तियां इसके कार्य अपनी शक्तिके अनुसार निष्कपट भावसे करती हैं।

इसके पास प्राण और अपान ये दो और विशेष प्रकारके बल हैं, इन दोनों बलोंसे इसका तेज बढता है, इन दोनोंके कारण यह प्रयत्न कर सकता है और इन दोनोंकी सहायतासे इसकी पुष्टि होती है।

इन सब शक्तियोंसे मनुष्यकी उन्नति होती है। इनके साथ सरस्वती अर्थात् सारवाली विद्यादेवी है जो मनुष्यकी सहायक देवता है। मानवी उन्नति इनसे होती है यह जानकर मनुष्य इन शक्तियोंकी रक्षा और वृद्धि करे और अपनी उन्नति अपने प्रयत्नसे सिद्ध करे।

बलदायी अन्न

कां. ७, सू. ५९

(ऋषिः- कौरुपथिः । देवता- इन्द्रावरुणौ ।)

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसंरमुप यातु पीतये ॥ १ ॥
इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम् ।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सुतपौ, धृतव्रतौ इन्द्रावरुणा) उत्तम तप करनेवाले, नियमके अनुसार चलनेवाले इन्द्र और वरुणो! (इमं सुतं मद्यं सोमं पिबतं) इस निचोडे हुए आनंद बढानेवाले सोमरसका पान करो । (युवोः अध्वरः रथः) तुम दोनोंका अहिंसासे युक्त रथ (देववीतये, पीतये प्रतिस्वसरं उपयातु) देवप्राप्ति और रक्षा करनेके लिये प्रतिध्वनि करता हुआ जावे ॥ १ ॥

हे (वृषणा इन्द्रावरुणा) बलवान् इन्द्र और वरुण ! (मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषेथां) अत्यन्त मधुर बलकारी सोमरसकी वर्षा करो अथवा इससे बल प्राप्त करो । (इदं वां अन्धः परिषिक्तं) यह तुम दोनोंका अन्न अच्छी तरह पकाया गया है । (अस्मिन् बर्हिषि आसद्य मादयेथां) इस आसनपर बैठकर इस अन्नका आनन्द लो ॥ २ ॥

इस सूक्तमें मनुष्य किस प्रकार रहें और क्या खाएं और किस प्रकार आनंद प्राप्त करें इस विषयमें लिखा है देखिये-

१ सुतपौ- मनुष्य उत्तम तप करनेवाले हों, शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेकी शक्ति अपने अंदर बढावें।

२ धृतव्रतौ- नियमोंका पालन करें । नियमके विरुद्ध आचरण कदापि न करें । सब अपना आचरण उत्तम नियमानुकूल रखें ।

३ वृषणौ- मनुष्य बलवान् बनें, अशक्त न रहें ।

४ इन्द्रावरुणौ- मनुष्य इन्द्रके समान शूरवीर ऐश्वर्यवान्, धीर, गंभीर, शत्रुओंको दबाने और परास्त करनेवाला बने । वरुणके समान वरिष्ठ और श्रेष्ठ बने । जो जो इन्द्रके और वरुणके गुण वेदमें अन्यत्र वर्णित हैं, मनुष्य उन गुणोंको अपने अंदर धारण करें और इंद्रके समान तथा वरुणके समान बननेका यत्न करें ।

५ अध्वरः रथः- हिंसारहित, कुटिलतारहित रथ हो । अर्थात् जहां गमन करना हो वहां अहिंसा और अकुटिलताका संदेश स्थापन करनेका यत्न किया जावे ।

६ देववीतये- देवत्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न होता रहे । राक्षसत्वसे निवृत्ति होवे और दिव्य गुणोंका धारण हो।

७ पीतये- रक्षा करनेका प्रयत्न हो । आत्मरक्षा, समाजरक्षा, राष्ट्ररक्षा, जनरक्षाके लिये प्रयत्न हो ।

८ इदं वां अन्धः- यह तुम्हारा अन्न है। हे मनुष्यो! यही अन्न तुम खाओ । तथा (मद्यं सुतं सोमं) हर्ष उत्पन्न करनेवाले सोम आदि औषधि वनस्पतियोंसे संपादित रस आदि तथा (वृष्णः मधुमत्तमस्य सोमस्य वृषेथां) बलवर्धक तथा मधुर सोमादि औषधियोंके रससे तुम सब लोग बलवान् बनो ।

इस प्रकार देवोंका वर्णन अपने जीवनमें ढालनेका प्रयत्न करनेसे वेदका ज्ञान अपने जीवनमें उतरता है और जो श्रेष्ठ अवस्था मनुष्यको प्राप्त करनी होती है वह प्राप्त हो सकती है।

कल्याण प्राप्त कर

कां. ७, सू. ८

(ऋषिः– उपरिबभ्रवः । देवता– बृहस्पतिः ।)

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु ।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम् ॥ १ ॥

अर्थ— (भद्रात् अधि) सुखसे भी परे जाकर (श्रेयः प्रेहि) परम कल्याणको प्राप्त हो (बृहस्पतिः ते पुर-एता अस्तु) ज्ञानी तेरा मार्गदर्शक बने । (अथ) और (अस्याः पृथिव्याः वरे) इस पृथ्वीके श्रेष्ठ स्थानमें (इमं सर्ववीरं) इस सब वीर समुदायको (आरे-शत्रुं कृणुहि) शत्रुसे दूर कर ॥ १ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य ! तू सुख प्राप्त कर, परंतु सुखकी अपेक्षा भी जिससे तेरा परम कल्याण हो उस मार्गका अवलम्बन कर और वह परम कल्याणकी अवस्था प्राप्त कर । पृथ्वीके ऊपर जो जो श्रेष्ठ राष्ट्र हैं, उनमें सब प्रकारके वीर पुरुष उत्पन्न हों उनके शत्रु दूर हो जांय। अर्थात् सब राष्ट्रोंमें उत्तम शान्ति स्थापित होवे ॥ १ ॥

यहां 'भद्र' शब्द साधारण सुखके लिये प्रयुक्त हुआ है । अभ्युदयका वाचक यह शब्द यहां है । जगत्में भौतिक साधनोंसे जो सुख मिलता है यह साधारण सुख है। आहार, निद्रा, निर्भयता और मैथुन सम्बन्धी जो सुख है वह साधारण है। इससे जो श्रेष्ठसुख है उसको 'श्रेयः' कहते हैं मनुष्यको यह परम कल्याण प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये; इसके लिये ज्ञानी (बृहस्पति) पुरुषको गुरु बना कर उसकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिये । ज्ञान भी वही है कि जो (मोक्षे धीः) बन्धनसे छुटकारा पानेके कार्यमें सहायक हो । ज्ञानीका उद्देश्य यह है कि इस पृथ्वीपर जो जो राष्ट्र हैं, वे श्रेष्ठ राष्ट्र बनें और सब स्त्रीपुरुष तेजस्वी वीरवृत्तिवाले निर्भय बनें और किसी स्थानपर भी उनके लिये शत्रु न रहें ।

उत्साह

कां. ४, सू. ३१

(ऋषिः– ब्रह्मा, स्कन्दः । देवता– मन्युः ।)

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (मरुत्वन् मन्यो) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी प्रेरणा करनेवाले उत्साह ! (त्वया स-रथं आरुजन्तः) तेरी सहायतासे रथ सहित शत्रुको विनष्ट करते हुए और स्वयं (हर्षमाणाः हृषितासः) आनन्दित और प्रसन्न-चित्त होकर (आयुधाः सं-शिशानाः) अपने आयुधोंको तीक्ष्ण करते हुए (तिग्म-इषवः अग्निरूपाः नरः) तीक्ष्ण शस्त्रवाले अग्निके समान तेजस्वी नेतागण (उप प्र यन्तु) चढाई करें ॥ १ ॥

भावार्थ— मनुष्यको उत्साह हताश होने नहीं देता । जिनके मनमें उत्साह रहता है वे शत्रुओंको नष्ट करते हैं और प्रसन्न चित्तसे अपने शस्त्रोंको सदा सज्ज करके अपने तेजको बढाते हुए शत्रुपर चढाई करते हैं ॥ १ ॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥
सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून् ।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम् ॥ ३ ॥
एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि ।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥
विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (मन्यो) उत्साह ! (अग्निः इव) तू अग्निके समान (त्विषितः सहस्व) तेजस्वी होकर शत्रुको परास्त कर। हे (सहुरे) समर्थ! (हूतः नः सेनानी एधि) पुकारा हुआ तू हमारी सेनाको चलानेवाला हो। (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः विभजस्व) धनको बांट दे और (ओजः मिमानः) अपने बलको मापता हुआ (मृधः वि नुदस्व) शत्रुओंको हटा दे ॥ २ ॥

हे (मन्यो) उत्साह !(अस्मे अभिमातिं सहस्व) इसके लिये अभिमान करनेवाले शत्रुको पराजित कर (शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि) शत्रुको तोडता हुआ, मारता हुआ और कुचलता हुआ चढाई कर। (ते उग्रं पाजः ननु आ रुरुध्रे) तेरा प्रभावशाली बल निश्चयसे शत्रुको रोक सकता है। हे (एकज) अद्वितीय! (त्वं वशी वशं नयासै) तू स्वयं संयमी होनेके कारण शत्रुको अपने वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! तू (एकः बहूनां ईडिता असि) अकेला ही बहुतोंमें सत्कार पानेवाला है। तू (विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि) प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तम प्रकार शिक्षित कर। हे (अ-कृत्त-रुक्) अटूट प्रकाशवाले! (विजयाय त्वया युजा वयं) विजयके लिये तेरी मित्रताके साथ साथ हम (द्युमन्तं घोषं कृण्मसि) हर्ष युक्त शब्द भी करते हैं ॥ ४ ॥

हे (मन्यो) उत्साह! (इन्द्रः इव विजेषकृत्) इन्द्रके समान विजय करनेवाला और (अनव-ब्रवः) उत्तम वचन बोलनेवाला होकर (इह अस्माकं अधिपाः भव) यहां हमारा स्वामी हो। हे (सहुरे) समर्थ! (ते प्रियं नाम गृणीमसि) तेरा प्रिय नाम हम लेते हैं। (तं उत्सं विद्म) और उस स्रोतको जानते हैं कि (यतः आबभूथ) जहांसे तू प्रकट होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— उत्साहसे तेज बढता है, उत्साहसे ही शत्रु परास्त होते हैं। उत्साही सेनाचालक ही शत्रुका नाश करके धन प्राप्त करता है। फिर अपने बलको बढाता हुआ दुष्टोंको दूर कर देता है ॥ २ ॥

उत्साहसे शत्रुकी पराजय कर और शत्रुओंका नाश उत्साहसे कर। उत्साहसे तेरा बल बढेगा और तू शत्रुको रोक सकेगा। हे शूर ! तू पहिले अपना संयम कर और जब तू अपना संयम करेगा तब तू शत्रुको भी वशमें कर सकेगा ॥ ३ ॥

स्वभावतः उत्साही पुरुष बहुतोंमें एकाध होता है और इसलिये सब उसका सत्कार करते हैं। शिक्षा द्वारा ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि राष्ट्रका हरएक मनुष्य उत्साही हो और जीवनयुद्धमें अपना कार्य करनेमें समर्थ हो। उत्साहसे ही प्रकाश बढता है और विजयकी घोषणा करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उत्साह ही इन्द्रके समान विजय करनेवाला है। उत्साह कभी निराशाके शब्द नहीं बुलवाता। इसलिये हमारे अन्तःकरणमें उत्साहका अधिकार स्थिर होवे। हम उन समर्थ महापुरुषोंका नाम लेते हैं कि जिनके अन्तःकरणमें उत्साहका स्रोत बहता रहता है ॥ ५ ॥

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम् ।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥
संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः ।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (वज्र सायक सहभूत) वज्रधारी, बाणधारी और साथ रहनेवाले ! तू (आभूत्या सहजाः) ऐश्वर्यके साथ उत्पन्न होनेवाला (उत्तरं सहः बिभर्षि) अधिक उत्तम बल धारण करता है । हे (पुरुहूत मन्यो) बहुत बार पुकारे गये उत्साह ! तू (क्रत्वा सह) कर्म शक्तिके साथ (मेदी) मित्र बन कर (महाधनस्य संसृजि) बडा धन प्राप्त करानेवाले महायुद्धके उत्पन्न होनेपर (एधि) हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

(मन्युः वरुणः च) मन्यु और वरुण उत्साह और श्रेष्ठत्वके भावसे (संसृष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (सं-आकृतं) संग्रहकिया हुआ (उभयं धनं धत्तां) दोनों प्रकारका धन (अस्मभ्यं) हमें दें । (हृदयेषु भियः दधानाः शत्रवः) हृदयोंमें भयोंको धारण करनेवाले शत्रु (पराजितासः अप निलयन्तां) पराजित होकर दूर भाग जावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— उत्साहके साथ सब शस्त्रास्त्र तैयार रहते हैं । उत्साहके साथ सब ऐश्वर्य रहते हैं और उत्साह ही अधिक बलको धारण करता है । यह प्रशंसनीय उत्साह सदा हमारा साथी बने और उसके साथ रहनेसे जीवनयुद्धमें हमारी विजय हो ॥ ६ ॥

उत्साह और वरिष्ठता ये दो गुण साथ-साथ रहते हैं और ये सब धन प्राप्त कराते हैं । स्वयं उत्पन्न किया हुआ और स्वयं संग्रह किया हुआ धन इनसे प्राप्त होता है । उत्साही पुरुषके शत्रु मनमें डरते हुए परास्त होकर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

उत्साह

यशका मूलमंत्र

मनुष्य सदा यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, परंतु बहुत थोडे मनुष्योंको पता है कि अपने मनमें उत्साह रहनेसे ही यश प्राप्त होनेकी संभावना होती है । यश प्राप्त होनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इस सूक्तमें इसी ' उत्साह ' को प्रेरक देवता मानकर उसका वर्णन किया है; यशस्वी बननेका उपाय जो तृतीय मंत्रमें कहा है वह सबसे प्रथम देखने योग्य है—

त्वं वशी (शत्रून्) वशं नयासै । (मं. ३)

' स्वयं तू पहिले वशी अर्थात् संयमी बन, अपने आपको तू सबसे प्रथम वशमें कर, पश्चात् तू अपने शत्रुओंको वशमें कर सकेगा । ' शत्रुओंको वशमें करनेका काम उतना कठिन नहीं है । जितना अपने अन्तःकरणको वशमें करनेका कार्य कठिन है । जिन्होंने अपने आपको वशमें कर लिया उन्होंने, मानो, सब शत्रुओंको वशमें कर लिया ।

सब उद्धार अपने हृदयसे प्रारंभ होता है, इसलिये शत्रुको वशमें करनेका कार्य भी अपने हृदयसे ही प्रारंभ होना चाहिये । हृदयके अंदर काम क्रोधादि अनेक शत्रु हैं जिनको परास्त करनेसे अथवा उनको वशमें करनेसे ही मनुष्यका बल बढता है और पश्चात् वह शत्रुको वशमें करनेमें समर्थ होता है । ' अपने आपको वशमें करो तब तुम शत्रुको वशमें कर सकोगे, ' यह उन्नतिका नियम है ।

उत्साहका महत्त्व

वेदमें ' मन्यु ' शब्द उत्साह अर्थमें आता है । जिसको ' क्रोध ' अर्थवाला मान कर बहुत लोग अर्थका अनर्थ करते हैं । इस सूक्तमें भी ' मन्यु ' शब्द ' उत्साह ' अर्थमें है । जब यह उत्साह अपने (स-रथं) मनरूपी रथपर आरूढ होता है, उस समय मनुष्य (हर्षमाणाः) प्रसन्न चित्त होते हैं, उनका (हृषितासः) मन कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनंदसे सब कार्य करनेमें समर्थ होता है ।

उत्साहसे (मर्+उत्+चन) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी आशा बनी रहती है, कैसी भी कठोर आपत्ति क्यों न आ जाय, मन सदा उल्लसित रहता है। उत्साहसे मनुष्य (अग्निरूपाः नरः) अग्निके समान तेजस्वी बनते हैं। (शत्रून् हत्वा) शत्रुओंको मारनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिस मनुष्यमें यह उत्साह अन्तः शक्तियोंका (सेनानीः) संचालक सेनापति जैस बनता है वहां (ओजः मिमानः) बल बढता है और (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। उत्साहसे (उग्रं पाजः) विलक्षण उग्र बल बढता है जिसके सामने (ननु आरुरुध्रे) कोई शत्रु ठहर नहीं सकता अर्थात् यह उत्साही पुरुष सब शत्रुओंको रोक रखता है और पास आने नहीं देता। राष्ट्रमें (विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि) हरएक मनुष्यको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करनेसे हरएक मनुष्य अपने जीवनयुद्धमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त करनेके लिये समर्थ हो जावे। (विजयाय घोषं कृण्मसि) विजयकी आनंद ध्वनि ही मनुष्य करें और कभी निराशाके कीचडमें न फंसें। यह उत्साह (विजेष-कृत्) विजय प्राप्त करानेवाला है। इस समय इन्द्रादिकोंने जो विजय प्राप्त की है वह इसी उत्साहके बलपर ही की है। एक वार मनसें जो मनुष्य पूर्ण निरुत्साही बनता है वह आगे जीवित भी नहीं रहता। अर्थात् जीवन भी इस उत्साहपर ही निर्भर रहता है। इसलिये हमारे मनका (अस्माकं अधिपाः) स्वामी यह उत्साह बने और कभी हमारे मनमें उत्साहहीनता न आवे। यह उत्साह ऐसा है कि जिसके (सह-भूत) साथ बल उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जहां उत्साह उत्पन्न होगा वहां निःसंदेह बल उत्पन्न होगा ही। इसीलिये हरएक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मनमें उत्साह सदा स्थिर रखनेका प्रयत्न करे और कभी निराशाके विचार मनमें आने न दे। इसी उत्साहसे सब प्रकारके धन मनुष्य प्राप्त कर सकता है। शत्रुको परास्त करता है और विजयी होता हुआ इहलोक और परलोकमें आनंदसे विचारता है।

उत्साह

कां. ४, सू. ३२

(ऋषिः- ब्रह्मास्कन्दः। देवता- मन्युः।)

यस्ते॑ म॒न्यो॒ऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओज॑: पुष्य॑ति॒ विश्व॑मानु॒षक् ।
साह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥
म॒न्युरिन्द्रो॑ म॒न्युरे॒वास॑ दे॒वो म॒न्युर्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः ।
म॒न्युर्विश॑ ईडते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषा॑: ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वज्र सायक मन्यो) शस्त्रास्त्रयुक्त उत्साह ! (यः ते अविधत्) तो तेरा सेवन करता है वह (विश्वं सहः ओजः) सब बल और सामर्थ्यको (आनुषक् पुष्यति) निरन्तर पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन सहस्वता) बलको बढानेवाले और विजयी (त्वया युजा) तुझ सहायकके साथ (वयं दासं आर्यं साह्याम) हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करें ॥ १ ॥

(मन्युः इन्द्रः) उत्साह ही इन्द्र है, (मन्युः एव देवः आस) उत्साह ही देव है, (मन्युः होता वरुणः जातवेदाः) उत्साहही हवनकर्ता, वरुण और जातवेद अग्नि है। वह (मन्युः) उत्साह है कि जिसकी (याः मानुषीः विशः ईडते) सब मानवी प्रजाएं प्रशंसा करती हैं। हे (मन्यो) उत्साह ! (सजोषाः तपसा नः पाहि) प्रीतिसे युक्त होकर तू तपसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

भावार्थ— जिसके पास उत्साह होता है, उसको सब प्रकारका बल और शस्त्रास्त्रोंका सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह हरएक प्रकारके शत्रुको वशमें कर सकता है ॥ १ ॥

इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब देव इस उत्साहके कारण ही बडे शक्तिवाले हुए हैं। मनुष्य भी इसी उत्साहकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह उत्साह अपने सामर्थ्यसे सबको बचाता है ॥ २ ॥

*

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥
अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन् ।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (मन्यो) उत्साह ! (तवसः तवीयान् अभीहि) महान्से महान् शक्तिवाला तू यहां आ। (तपसा युजा शत्रून् विजहि) अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर । (अमित्रहा, वृत्रहा, दस्युहा त्वं) शत्रुओंका नाशक, आवरण करनेवालोंका नाशक और डाकुओंका नाशक तू (नः विश्वा वसूनि आभर) हमारे लिये सब धनोंको भर दे ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वं हि अभिभूति-ओजः) तू ही विजयी बलसे युक्त, (स्वयं-भूः भामः) अपनी ही शक्तिसे बढनेवाला, तेजस्वी, (अभिमाति-षाहः) शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (विश्वचर्षणिः सहुरिः) सबका निरीक्षक, समर्थ (सहीयान्) और बलिष्ठ हो । तू (पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि) युद्धोंमें हमारे अन्दर शक्ति स्थापित कर ॥ ४ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) ज्ञानवान् उत्साह ! मैं (तव तविषस्य अभागः सन्) तेरे बलका भाग न प्राप्त करनेके कारण (क्रत्वा अप परेतः अस्मि) कर्मशक्तिसे दूर हुआ हूं । इसलिये (अक्रतुः अहं तं त्वा जिहीड) कर्म हीन सा होकर मैं तेरे पास प्राप्त हुआ हूं । अतः तू (नः स्वा तनूः बलदावा आ इहि) हमको अपने शरीरसे बलका दान करता हुआ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे (सहुरे) समर्थ ! हे (विश्वदावन्) सर्वस्वदाता ! (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा ही हूं । (प्रतीचीनः नः अवाङ् उप एहि) प्रत्यक्षतासे हमारे पास आ । हे (मन्यो) उत्साह ! हे (वज्रिन्) शस्त्रधर ! (नः अभि आववृत्स्व) हमारे पास प्राप्त हो । (आपेः बोधि) मित्रको पहचान (उत दस्यून् हनाव) और हम शत्रुओंको मारें ॥ ६ ॥

भावार्थ— उत्साहसे बल बढता है और शत्रु परास्त होते हैं । डाकु चोर और दुष्ट दूर किये जा सकते हैं और सब प्रकारका धन प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३ ॥

उत्साहसे विजयी बल प्राप्त होता है, शत्रुओंका पराभव होता है, अपना सामर्थ्य बढ जाता है, तेजस्विता फैलती है और हरएक प्रकारका बल बढता है । वह उत्साहका बल युद्धके समय हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

जिसके पास यह उत्साह नहीं होता वह कर्मकी शक्तिसे हीन हो जाता है । इसलिये हरएक मनुष्यको चाहिए कि वह अपने मनमें उत्साह धारण करे और बलवान् बने ॥ ५ ॥

उत्साहसे सब प्रकारका बल प्राप्त होता है । यह उत्साह हमारे मनमें आकर स्थिर रहे और उसकी सहायतासे हम मित्रोंको बढावें और शत्रुओंको दूर करें ॥ ६ ॥

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव ॥ ७ ॥

अर्थ—(अभि प्र इहि) आगे बढ । (नः दक्षिणतः भव) हमारे दाहिनी ओर हो। (अध नः भूरि वृत्राणि जंघनाव) हमें दोनों अपने सब प्रतिबन्धकोंको मिटा देवें । (ते मध्वः अग्रं धरुणं) तेरे मधुर रसको मुख्य धारण करनेवालेको (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं । (उभौ उपांशु प्रथमा पिबाव) हम दोनों एकान्तमें सबसे पहिले उस रसका पान करें ॥ ७ ॥

भावार्थ— उत्साह धारण करके आगे बढ । शत्रुओंको परास्त कर और भोगोंको प्राप्त कर ॥ ७ ॥

उत्साह

उत्साहका धारण

पूर्वके सूक्तमें कहा हुआ उत्साहका वर्णन ही इस सूक्तमें अन्य रीतिसे कहा है । जिस पुरुषमें उत्साह नहीं होता, वह अभागा होता है; ऐसा इस सूक्तके पञ्चम मंत्रमें कहा है। यह मंत्र यहां देखने योग्य है—

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य । (मं. ५)

'उत्साहके बलका भाग प्राप्त न होनेके कारण मैं कर्म शक्तिसे दूर हुआ हूं और अभागा बना हूं । ' उत्साह हीन होनेसे जो बडी भारी हानि होती है वह यह है । उत्साह हट जाते ही बल कम हो जाता है, बल कम होते ही पुरुषार्थ शक्ति कम होती है, पुरुषार्थ प्रयत्न कम होते ही भाग्य नष्ट हो जाता है, इस रीतिसे उत्साहहीन मनुष्य नष्ट हो जाता है।

परंतु जिस समय मनमें उत्साह बढ जाता है उस समय वह उत्साही मनुष्य (स्वयंभूः) स्वयं ही अपना अभ्युदय करने लगता है, स्वयं प्रयत्न करनेके कारण (भामः) तेजस्वी बनता है, (अभिमाति-साहः) शत्रुओंको दबाता है और (अभिभूति-ओजाः) विशेष सामर्थ्यसे युक्त होता है । इससे भी अधिक सामर्थ्य उसकी हो जाती है जिसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इसका आशय यह है कि जो अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना चाहता है, वह उत्साह अवश्य धारण करे । उत्साह हीन मनुष्यके लिये इस जगत्में कोई स्थान नहीं है और उत्साही पुरुषके लिये कोई बात असंभव नहीं है।

उत्साह मनमें रहता है, यह इन्द्रका स्वभाव-धर्म है । वेदके इन्द्र सूक्तोंमें उत्साह बढानेवाला वर्णन है । जो मनुष्य अपने मनमें उत्साह बढाना चाहते हैं वे वेदके इन्द्र सूक्त पढें और उनका मनन करें । इन्द्र न थकता हुआ शत्रुका पराभव करता है, यह उसके उत्साहके कारण है । इन सूक्तोंमें भी इसी अर्थका एक मंत्र है जिसमें कहा है कि 'इस उत्साहके कारण ही इन्द्र प्रभावशाली बना है । ' इस लिये पाठक इन्द्रके सूक्त मननपूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि उत्साह क्या चीज है और वह क्या कर सकता है । उत्साह बढानेके लिये उत्साही पुरुषोंके साथ संगति करनी चाहिये । उत्साही ग्रंथ पढने चाहिये और निरुत्साहका विचार मनसे हटाकर उसके स्थानमें उत्साहका विचार स्थिर करना चाहिये । थोडासा भी निरुत्साह मनमें उत्पन्न होकर अल्प समयमें ही बढ जाता है और मनको मलिन कर देता है । इसलिये उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इस रीतिसे अपने मनकी रक्षा करें ।

निर्भय जीवन

कां. २, सू. १५

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवताः— प्राणः, अपानः, आयुः ।)

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यथा द्यौः च पृथिवी च) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न बिभीतः) नहीं डरते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं नष्ट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण ! (मा बिभेः) तू मत डर ॥ १ ॥

जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते० ॥ २ ॥

० जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र० ॥ ३ ॥

० ब्रह्म और क्षत्र० ॥ ४ ॥

० सत्य और अनृत० ॥ ५ ॥

० भूत और भविष्य नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ— द्युलोक पृथ्वी, दिन रात्री, सूर्य चन्द्र, ब्रह्म क्षत्र, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किसीसे भी कभी डरते नहीं; इसीलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते । इससे बोध मिलता है कि निर्भयवृत्तिसे रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है । अतः हे प्राण ! तू इस शरीरमें निर्भयवृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भयको दूर कर ॥ १–६ ॥

निर्भय जीवन

निर्भयतासे अमरपन

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि 'जो नहीं डरते, जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते ।' उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात, सूर्य चन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिया है । दिन रात या सूर्य चन्द्र किसीका भय न करते हुए निष्पक्षपातसे अपना कार्य करते हैं। समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं । किसीकी परवाह नहीं करते, किसीकी सिफारिश नहीं सुनते, किसीपर दया नहीं करते अथवा किसीपर क्रोध भी नहीं करते । अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं । इसलिये ये किसीसे डरते नहीं; अतः ये विनाशको भी प्राप्त नहीं होते। इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाशको प्राप्त नहीं होगा । (मं. १–३)

ब्रह्म–क्षत्र

आगे चतुर्थ मंत्रमें 'ब्रह्म और क्षत्र' का उल्लेख है । इनका अर्थ 'ज्ञान और शौर्य' है किंवा ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है । सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण सन्मुख रखकर ब्राह्मण क्षत्रियोंको चाहिये कि वे किसी मनुष्यसे न डरते हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जायें। जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निडर भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यशसे इस समयतक जीवित रहे हैं और आगे भी वे मार्गदर्शक बनेंगे । ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और क्षत्रियोंका उदाहरण सन्मुख रखकर अन्य लोग भी भय छोडकर अभयवृत्तिसे अपने कर्तव्यकर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे ।

सत्य और अनृत

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं

करते । जो सत्य होता है वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है। कई प्रसंगोंमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्यको सत्य कर देते हैं; परंतु वह बात थोडे समयके बाद प्रकट हो जाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है। इसलिये क्षण मात्र किसीके दबावसे कुछ का कुछ बन जाय वह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलीरूपमें प्रकट हुए बिना नहीं रहते। इसलिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंबन करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर शाश्वतपदका अधिकारी होता है ।

भूत और भविष्य

षष्ठ मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है, कि ये किसीसे डरते नहीं। यह बिलकुल सत्य है। सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है। जो डरानेवाले बादशाह थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरसे लोगोंको सताया, वे अब भूतकालमें हो गये हैं। उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सन्मुख खडे हो गये हैं! साधारणसे साधारण इतिहासतत्त्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं। इसलिये बडे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्यके सदृश असहाय हो जात हैं। इतना भूत कालका प्रभाव है। समर्थसे समर्थ भी इस भूत कालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता। परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी शक्ति इसी भूत कालसे बढती जाती है। रावणका पशु-बल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजीका आत्मिक बल उस समय ही विजयी हुआ, इतना ही नहीं प्रत्युत आज भी अनंत लोगोंके लिए मार्ग दर्शक हो रहा है!! यह भूत कालकी महिमा देखिये। भूत-काल निडर है, किसीकी परवाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने कर देता है।

भविष्य काल भी इसी प्रकार है। अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षके विजय होनेकी आशा रहती है। अधर्मके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं। क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जैसा भूत कालका डर आज नहीं रहा है।

इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझें कि सत्यकी ही जय होती है, इसलिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निडर होकर अपना कर्तव्य पालन करें।

अभयवृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है।

आत्मसंरक्षणका बल

कां. २, सू. १७

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– प्राणः, अपानः, आयुः ।)

ओजो॒ऽस्योजो॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥ सहो॑ऽसि॒ सहो॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥ आयु॑र॒स्यायु॑र्मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अर्थ— (ओजः असि) तू शारीरिक सामर्थ्य है (मे ओजः दाः) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥ १ ॥
तू (सहः असि) सहन शक्तिसे युक्त है, (मे सहः दाः) मुझे सहनशक्ति दे ॥ २ ॥
तू (बलं असि) बल स्वरूप है, (मे बलं दाः) मुझे बल दे ॥ ३ ॥
तू (आयुः असि) आयु अर्थात् जीवनशक्ति है (मे आयुः दाः) मुझे वह जीवनशक्ति दे ॥ ४ ॥

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥ चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ— तू (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति है, मुझे वह श्रवणशक्ति दे ॥ ५ ॥
तू (चक्षुः) दर्शन शक्ति है, मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥
तू (परिपाणं असि) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है, मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे। (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, श्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियोंसे युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंको प्रदान कर ॥ १-७ ॥

कष्टोंको दूर करनेका उपाय

कां. ६, सू. २५

(ऋषिः- शुनःशेपः । देवता- मन्याविनाशनम् ।)

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि । इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि । इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥
नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि । इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (याः पंच च पञ्चाशत् च) जो पांच और पचास पीडाएं (मन्याः अभि संयन्ति) गलेके भागमें होती हैं, (याः सप्त च सप्ततिः च) जो सात और सत्तर पीडाएं (ग्रैव्याः अभि संयन्ति) कण्ठके भागमें होती हैं तथा (याः नव च नवतिः च) जो नौ और नब्बे पीडाएं (स्कंध्याः अभि संयन्ति) कन्धेके उपर होती हैं (इतः ताः सर्वाः) यहांसे वे सब उसी प्रकार पीडाएं (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें (अपचितां वाकाः इव) जिस प्रकार पूजनीय सज्जनोंके सन्मुख साधारण लोकोंके वचन नष्ट होते हैं ॥ १-३ ॥

मनुष्य शुद्ध बनें और अपनी शुद्धतासे अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखोंको दूर करें । जिस प्रकार ज्ञानीके सन्मुख मूर्खकी वक्तृता नहीं ठहरती, उसी प्रकार पवित्र मनुष्यके पास रोग और दुःख नहीं ठहरते ।

अद्रोहका मार्ग

कां. ६, सू. ७

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- सोमः, अदितिः, विश्वेदेवाः ।)

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः । तेना नोऽवसा गहि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (सोम) शान्तदेव ! (येन पथा अदितिः) जिस मार्गसे यह पृथिवी (वा मित्राः अद्रुहः यन्ति) अथवा सूर्य आदि देव परस्पर द्रोह न करते हुए चलते हैं, (तेन अवसा नः आगहि) उसी मार्गसे अपनी रक्षाके साथ हमें प्राप्त हो ॥ १ ॥

येन॑ सोम साहन्त्यासु॑रान्र॒न्धया॑सि नः । तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत ॥ २ ॥
येन॑ देवा॒ असु॑राणा॒मोजां॒स्यवृ॑णीध्वम् । तेना॑ नः॒ शर्म॑ यच्छत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (साहन्त्य सोम) विजयी शक्तिसे युक्त सोम ! (येन असुरान् नः रन्धयासि) जिससे असुरोंको हमारे लिये तू नष्ट करता है, (तेन नः आधि वोचत) उस शक्तिके साथ हमें आशीर्वाद दे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! तुम (येन असुराणां ओजांसि अवृणीध्वं) जिससे असुरोंके बलोंका निवारण करते हो, (तेन नः शर्म यच्छत) उस बलसे हमें सुख दो ॥ ३ ॥

अद्रोहका मार्ग

प्रार्थना !

हे शान्त और सुखदायक ईश्वर ! जिस तेरे सुनियमके कारण सूर्य चन्द्रादि विविधलोक लोकान्तर एक दूसरेके साथ न टकराते हुए अपने मार्गसे भ्रमण करके कार्य कर रहे हैं, वह बल हमें दे । इस बलसे युक्त, उस विचारसे युक्त होते हुए हम एक दूसरेके साथ, आपसमें विरोध और लडाई न करते हुए और अपना संघबल बढाते हुए हम अपनी उत्तम रक्षा कर सकें । इसलिये ' अद्रोहका विचार ' हमारेमें स्थिर हो जावे ।

बलकी वृद्धि

हे ईश्वर ! जिस बलसे तू असुरों, राक्षसों और दस्युओंको नष्ट करता है; उस बलको दान करनेका आशीर्वाद हमें दो । अर्थात् वह बल हमें प्राप्त हो और इस बलके प्राप्त होनेसे हम पूर्वोक्त शत्रुओंको दूर कर सकें ।

हे ईश्वर ! जिस बलसे शत्रुओंके बलोंको रोका जाता है, वह बल हमें प्राप्त हो और उसके द्वारा हमें सुख प्राप्त हो ।

तीन उपदेश

इस सूक्तमें ' (१) आपसमें अद्रोहका व्यवहार करना, (२) अपना बल बढाना (३) और शत्रुओंके बलोंको रोकना अथवा अपना बल उनसे अधिक प्रभावशाली बनाना ये तीन उपदेश हैं । इससे निःसन्देह सुख प्राप्त हो सकता है । इस सूक्तमें इन बलोंकी प्रार्थना ईश्वरसे की है, इस कारण यह उत्तम प्रार्थनासूक्त है। इसमें बलवाचक दो शब्द हैं, ' सहः ' और ' ओजः ' । इनमें ' सहः ' शब्द मानसिक और आत्मिक बलका बोधक और ' ओजः ' शब्द शारीरिक अथवा पाशवी बलका वाचक है । अर्थात् अपना सब प्रकारका बल बढे, यह इस प्रार्थनाका भाव है ।

सत्यकी विजय

कां. ५, सू. १५

(ऋषिः- विश्वामित्रः । देवता- मधुला वनस्पतिः ।)

एका॑ च मे॒ दश॑ च मेऽपव॒क्तार॑ ओषधे । ऋत॑जात॒ ऋता॑वरि॒ मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः ॥ १ ॥
द्वे च॑ मे विं॑श॒तिश्च॑ मेऽपव॒क्तार॑ ओषधे । ऋत॑जात॒ ऋता॑वरि॒ मधु॑ मे मधु॒ला क॑रः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतजाते ओषधे) सत्यपालक और सत्यसे उत्पन्न औषधि ! तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधु करः) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर। (मे एका च दश च अपवक्तारः) मेरे सामने

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ४ ॥
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ७ ॥
अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ८ ॥
नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ९ ॥
दश च मे शतं च मेऽपवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १० ॥
शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे । ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

भले ही एक या दस । (द्वे विंशतिः च) दो और बीस, (तिस्रः त्रिंशत् च) तीन और तीस, (चतस्रः चत्वारिंशत् च) चार और चालीस, (पञ्च पञ्चाशत्) पांच और पचास, (षट् षष्टिः च) छः और साठ, (सप्त सप्ततिः च) सात और सत्तर, (अष्ट अशीतिः च) आठ और अस्सी, (नव नवतिः च) नौ और नब्बे, (दश शतं च) दस और सौ, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवक्तारः) निंदक क्यों न खडे हों और मुझे प्रतिबंध करनेका यत्न क्यों न करें, मैं सत्यमार्गसे ही उनका प्रतिकार करूंगा । इसलिये सर्वत्र मेरे लिये मधुरता फैले ॥ १-११ ॥

सत्यसे यश

इस सूक्तमें ऋतावरी ऋतजाता औषधिका नाम है । यह कौनसी औषधि है, इसका पता नहीं लगता । परंतु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहां कोई औषधि प्रयोग नहीं बताया है । अपितु जो निंदक शत्रु हैं उनको सत्यपालन और सत्य व्यवहारसे ही ठीक करना और सत्यका महत्त्व सिद्ध करना ही बताया है । सत्यपालन करनेवालेके लिये सब दिशाएं मधुरतायुक्त हो जाती हैं, अर्थात् उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता । सत्यपालन करनेवाला मनुष्य शत्रुरहित हो जाता है । मानो 'सत्यपालनका व्रत' ही सब दोषोंको धोनेवाली दोषधी अथवा औषधि है । इस सूक्तमें बताई गई संख्याओंका क्या भाव है वह समझमें नहीं आता ।

समृद्धिकी प्राप्ति

कां. ४ सू. ३९

(ऋषिः— अंगिराः । देवता— नाना देवताः, संनतिः ।)

पृथिव्याम॒ग्नये॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् । यथा॑ पृथि॒व्याम॒ग्नये॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नमः॒ सं न॑मन्तु ॥ १ ॥

अर्थ— (पृथिव्यां अग्नये समनमन्) पृथिवीपर अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, क्योंकि (सः आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा पृथिव्यां अग्नये समनमन्) जिस प्रकार पृथिवीमें अग्निके सन्मुख नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ १ ॥

भावार्थ— पृथ्वीपर अग्निको सन्मान मिलता है क्योंकि वह तेजस्वी है, जिस प्रकार पृथ्वीपर अग्नि संमानित होती है, उस प्रकार मैं तेजस्वी बन कर यहां संमानित होऊं ॥ १ ॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः । सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥२॥
अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥३॥
अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥४॥
दिव्यादित्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥५॥
द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः । सा मे आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥६॥

अर्थ— (पृथिवी धेनुः) भूमि धेनु है (तस्याः अग्निः वत्सः) उसका अग्नि बछडा है। (सा अग्निना वत्सेन) वह भूमि अग्निरूपी बछडेके साथ (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल इच्छाके अनुसार देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ २ ॥

(अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं क्योंकि (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध है । (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अन्तरिक्षमें वायुके सन्मुख सब नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) उस प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए मनुष्य नम्र हों ॥ ३ ॥

(अन्तरिक्षं धेनुः) अन्तरिक्ष धेनु है (तस्याः वत्सः वायुः) उसका बछडा वायु है। (सा वायुना वत्सेन) वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायुरूपी बछडेके साथ (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे, (स्वाहा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ४ ॥

(दिवि आदित्याय समनमन्) द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख सब नम्र होते हैं क्योंकि (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार द्युलोकमें आदित्यके सन्मुख नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आगे संमान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ५ ॥

(द्यौः धेनुः) द्युलोक धेनु है (तस्याः आदित्यो वत्सः) उसका सूर्य बछडा है । (सा मे आदित्येव वत्सेन) वह मुझे सूर्यरूपी बछडेके साथ (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तति, पुष्टि और धन अर्पण करे । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ— पृथ्वीरूपी गौका अग्नि बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें वायुका संमान होता है क्योंकि उसमें बल है । बलके बढनेसे जैसे वायुका संमान होता है, उसी प्रकार बलके कारण मेरा भी संमान बढे ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षरूपी धेनुका वायु बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ४ ॥

द्युलोकमें सूर्यका संमान होता है क्योंकि वह बडा प्रकाशमान् है । प्रकाशित होनेसे जैसे सूर्यका सम्मान होता है, उसी प्रकार तेजस्विताके कारण मेरा सम्मान बढे ॥ ५ ॥

द्युलोकरूपी धेनुका सूर्य बछडा है उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, संतान, पुष्टि, और धन प्राप्त हो ॥ ६ ॥

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत् ।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥७॥
दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः । ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥८॥
अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥९॥
हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम् ॥१०॥

अर्थ— (दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं । क्योंकि (स आर्ध्नोत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जैसे दिशाओंमें चन्द्रके सन्मुख नम्र होते हैं, (एव मह्यं संनमः सं नमन्तु) इसी प्रकार मेरे सन्मुख सन्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ७ ॥

(दिशः धेनवः) दिशाएं गौएं हैं (तासां चन्द्रो वत्सः) उनका बछडा चन्द्र है। (ताः मे चन्द्रेण वत्सेन) वे मुझे चन्द्ररूपी बछडेसे (इषं ऊर्जं कामं दुहां) अन्न और बल जितना चाहिये उतना देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन अर्पण करे । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूं ॥ ८ ॥

(अग्नौ अग्निः प्रविष्टः चरति) विशाल परमात्माग्निमें जीवात्मारूपी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है। वह (ऋषीणां पुत्रः) इंद्रियोंको पवित्र करनेवाला है और (अभिशस्ति-पा उ) विनाशसे बचानेवाला भी है । (ते नमसा नमस्कारेण जुहोमि) तुझे मैं नम्र नमस्कारोंसे आत्मार्पण करता हूं । (देवानां भागं मिथुया मा कर्म) देवोंके सेवनीय भागको मिथ्याचारसे कोई न बनावे ॥ ९ ॥

हे (जातवेदः) जन्मे हुए पदार्थोंको जाननेवाले देव ! तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब कर्मोंको जाननेवाला है । हे (जातवेदः) जाननेवाले ! (मनसा हृदा पूतं) हृदयसे और मनसे पवित्र किये हुए हव्यको (तव सप्त आस्यानि) जो तेरे सात मुख हैं (तेभ्यः जुहोमि) उनके लिये समर्पित करता हूं (सः हव्यं जुषस्व) उस हविको तू स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ— दिशाओंमें चन्द्रमाका संमान होता है क्योंकि उसमें शान्ति है । जिस शान्तिके कारण चन्द्रमाकी प्रशंसा सब दिशाओंमें होती हैं, उस शान्तिके कारण मेरा भी संमान होवे ॥ ७ ॥

दिशारूपी गौओंका चन्द्रमा बछडा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घायु, संतति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ८ ॥

परमात्मारूपी विशाल अग्निमें जीवात्मारूप छोटी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है । यह जीवात्माकी अग्नि इंद्रियोंकी पवित्रता करनेवाली और गिरावटसे बचानेवाली है । इंद्रियरूपी देवोंका जो कार्यभाग है, वह मिथ्या व्यवहारसे दूषित न हो इसलिये मैं उन अग्नियोंकी नमस्कार द्वारा उपासना करता हूं ॥ ९ ॥

हे सर्वज्ञ ईश्वर ! तू हमारे सब कर्मोंको जानता है । इस आत्माके सात मुखोंमें मन और हृदयसे पवित्र किये हुए पदार्थोंका हवन करता हूं, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर ॥ १० ॥

समृद्धिकी प्राप्ति

उन्नतिका मार्ग

मनुष्यकी उन्नति उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होनेसे ही हो सकती है। इन सद्गुणोंकी वृद्धि करनेके अनेक प्रकारके उपाय वेदने कहे हैं, इस सूक्तमें इसी उद्देश्यसे चार देवताओंके द्वारा सद्गुण बढानेका उपदेश दिया है। देवताओंमें जिन गुणोंकी प्रधानता होती है वे गुण मनुष्यमें बढने चाहिये। इन देवताओंके गुण देखिये—

लोक	देवता	गुण	मनुष्यमें रूप
पृथिवी	अग्नि	तेज, उष्णता	शब्द
अन्तरिक्ष	वायु	जल, जीवन	प्राण
द्यु	सूर्य	प्रकाश	दृष्टि
दिशा	चन्द्र	शान्ति	मन

लोक, देवता और गुण ये हैं। देवताओंके गुण अथवा बल मनुष्यके अंदर किस रूपमें दिखाई देते हैं इसका भी पता इससे ज्ञात हो सकता है। मनुष्यको यदि अपना प्रभाव बढाना हो तो इन गुणोंके सत्त्वको बढाना चाहिए, दूसरा कोई उपाय नहीं है। पृथिवी लोकमें अग्नि प्रतिष्ठाको इसलिये प्राप्त हुई है कि उसमें उष्णता और तेजस्विता बढी हुई है; वह अपनी दाहक शक्तिसे सबको जला सकती है, इसलिये उसका प्रभाव सब पर जमा हुआ है। यदि मनुष्यको अपना प्रभाव बढाना हो तो उसको भी अपने अन्दर तेजस्विता बढानी चाहिये। तेजस्विताके बढनेसे उसका सम्मान अवश्य बढेगा।

इसी प्रकार अन्तरिक्षमें वायुका महत्व विशेष है क्योंकि वह सबको जीवन, बल और गति देता है। मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर बल बढावे और अपना जीवन उत्तम करे। दूसरोंमें चेतना उत्पन्न करे और सब हलचलोंका प्राण बनकर रहे। जो मनुष्य अपनी शक्ति इस प्रकार बढावेगा वह सम्मानित हो जायगा।

द्युलोकमें सूर्यका सम्मान बहुत बडा है क्योंकि उसका प्रकाश सबसे अधिक होता है। इसके सन्मुख सब अन्य तेजस्वी पदार्थ निस्तेज हो जाते हैं। ऐसा प्रकाशमान होनेसे सूर्यका सम्मान सब करते हैं। जो मनुष्य अपना महत्व बढाना चाहता है उसको उचित है कि वह अपने दिव्य प्रकाश बढावे और सूर्यके समान ग्रहोपग्रहोंमें मुख्य बने।

इसी प्रकार चन्द्रमाकी प्रतिष्ठा उसकी शान्तिके कारण है। जिस मनुष्यमें शांति स्थिर होती है उसकी भी सर्वत्र प्रतिष्ठा बढती है। इस प्रकार इन देवताओंसे मनुष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है। उन्नतिका मार्ग अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करना ही है। इन सद्गुणोंकी वृद्धिसे ही अन्न, बल, दीर्घायुष्य, सन्तति, पुष्टि और धन जितना चाहिये उतना प्राप्त हो सकता है, परन्तु सबसे पहिले उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने अन्दर इन गुणोंकी वृद्धि करें; तत्पश्चात् धनादिकी प्राप्ति तो स्वयं होती रहेगी।

इस सूक्तके आठ मन्त्रोंमें यह उपदेश दिया है। आगेके नवम और दशम मन्त्रोंमें आत्मशुद्धि करनेका उपदेश है, उसका अब विचार किया जाता है—

परमात्माकी उपासना

आत्मशुद्धिके लिये परमात्माकी उपासना अत्यन्त सहायक है, इसलिये नवम मंत्रमें वह उपासना बतायी है—

अग्नौ अग्निश्चरति प्रविष्टः। (मं. ९)

'बडे विश्वव्यापक अग्निमें एक दूसरी छोटी अग्नि प्रविष्ट होकर चलती है अर्थात् अपने व्यवहार करती है।' यह बात उपासकको अपने मनमें सबसे प्रथम धारण करनी चाहिये। परमात्माकी विशाल अग्नि संपूर्ण जगत्में जल रही है और उसके अंदर अपनी एक चिनगारी है, वह भी उसके साथ ही चमक रही है। अपने अन्दर और चारों ओर बाहर भी उस परमात्माग्निका तेज भरा पडा है। जिस प्रकार अग्निमें तपता हुआ सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मामें तपनेवाला जीवात्मा शुद्ध हो रहा है। परमात्माके पूर्ण आधारमें मैं विराजता हूं, इसलिये मैं निर्भय हूं, मुझे डरानेवाला कोई नहीं है, यह विश्वास इस मन्त्रने उपासकके मनमें स्थिर करनेका यत्न किया है। यह आत्मा कैसी है और उसके गुण धर्म क्या हैं इसका वर्णन भी यहां देखने योग्य है—

ऋषीणां पुत्रः अभिशस्तिपा। (मं. ९)

'यह आत्मा ऋषियोंका पुत्र है और विनाशसे बचानेवाला है।' यह अनेक ऋषियोंका पुत्र है अर्थात् अनेक ऋषियोंने मिलकर इसकी खोज की और इसका आविष्कार किया इसलिये ऋषियोंका यह पुत्र है, ऐसा माना जाता है। यह इसका एक अर्थ है। इसका दूसरा भी एक अर्थ है और वह विशेष विचारणीय है। ऋषि शब्दका दूसरा अर्थ 'इंद्रिय' है। सप्त ऋषिका अर्थ 'सात इंद्रियां' है। इन इंद्रियरूपी

सप्त ऋषियोंको (पु-त्रः) नरकसे बचानेवाली यही आत्मा है, क्योंकि आत्मा ही सबको उच्च भूमिकामें ले जाती है और हीन अवस्थामें गिरनेसे बचाती है। इसलिये इसकी उपासना हरएकको करनी चाहिये।

नमस्कारसे उपासना

इस आत्माकी उपासना नमस्कारसे ही की जाती है। नम्र होकर, अपने मनको नम्र करके, नमस्कार द्वारा अपना सिर झुकाकर अर्थात् अपने आपको उसके लिये पूर्णतासे समर्पित करके ही अपने अन्तर्यामी आत्माकी उपासना करनी चाहिये–

नमसा नमस्कारेण जुहोमि। (मं. ९)

'नम्र नमस्कारसे आत्मसमर्पण करता हूं।' यहां 'जुहोमि' शब्द समर्पण अर्थमें है। यज्ञमें हवनका भी यही अर्थ है। अपने पदार्थोंका दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पित करनेका नाम हवन है। यहां नमस्कारसे हवन करना है, नमन द्वारा अपना सिर झुकाकर. आत्मसमर्पण करनेका भाव यहां है। इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्ममें मिथ्याव्यवहार होना नहीं चाहिये। क्योंकि मिथ्या व्यवहारसे ही सब प्रकारकी हानि होती है, इसलिये कहा है—

देवानां भागं मिथुया मा कर्म। (मं. ९)

'देवोंके प्रीति करनेके कार्य भागको मिथ्याचारसे दूषित मत करना।' यह आदेश हरएक देवयज्ञके विषयमें मनमें धारण करने योग्य है। कई लोग दंभसे संध्या करने बैठते हैं, तथा अन्य प्रकारके मिथ्या व्यवहार ढोंगसे रचते हैं। अपने ढोंगसे ये किसको ठगनेका विचार करते हैं? परमात्माको ठगना तो असंभव है, क्योंकि वह सब जानता ही है, वह सर्वज्ञ है। इसलिये ऐसे धर्म कर्मोंमें जो दूसरोंको ठगनेका यत्न करते हैं वे अन्तमें अपने आपको ही ठगते हैं और अपनी ही हानि करते हैं। इसलिये किसीको भी मिथ्या व्यवहार करना उचित नहीं है। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह हरएकके मनोगतको तत्काल ही जानता है, उससे छिपकर कोई कुछ कर नहीं सकता, इसलिये कहा है—

विश्वानि वयुनानि विद्वान्। (मं. १०)

'सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला ईश्वर है।' मनुष्य जो भी कर्म करता है वह उसी समय परमेश्वर जानता है। मनुष्यका कर्म बुद्धिमें, मनमें या जगत्में कहीं भी होवे, ईश्वर उसी क्षण उसको जानता है। इसलिये ऐसी अवस्थामें मनुष्यको मिथ्याव्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मनुष्यको उन्नति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हृदय और मनसे जितने पवित्र कर्म हो सकते हैं, उतने करने चाहिये—

हृदा मनसा पूतं जुहोमि। (मं. १०)

'हृदयसे और मनसे जितनी पवित्रता की जा सकती है, उतनी पवित्रतासे पवित्र पदार्थोंका ही सत्कर्ममें समर्पण करना चाहिये।' पवित्रतासे उन्नति और मलिनतासे अवनति होती है, यह उन्नति अवनतिका नियम हरएक मनुष्यको स्मरणमें अवश्य रखना चाहिये।

सप्त मुखी अग्नि

पूर्वोक्त स्थानमें परमात्मा और जीवात्मा इन दोनोंको अग्नि कहा है। अग्नि 'सप्तास्य' अर्थात् सात मुखवाला होता है। यहां भी उसके साथ मुखोंका वर्णन किया ही है। यह आत्मा सप्तमुखी है, यह सात मुखोंसे खाता है, पञ्च ज्ञानेंद्रिय और मन तथा बुद्धि ये इसके सात मुख हैं। बुद्धिसे ज्ञान, मनसे मनन और अन्य पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे पञ्च विषयोंका ग्रहण यह करता है, मानो, इस आत्माग्निमें ये पांच ऋत्विज हवन कर रहे हैं, अथवा इन सात मुखोंसे यह आत्मा अपना भक्ष्य खा रहा है, अथवा अपना भोग्य भोग रहा है। इस विविध प्रकारके कथनका एक ही तात्पर्य है। इसके सातों मुखोंमें हृदयसे और मनसे पवित्र पदार्थोंको अर्पण करना चाहिये।

तव सप्त आस्यानि तत्र हृदा मनसा पूतं जुहोमि। (मं. १०)

'तेरे सात मुख हैं, उनमें हृदय और मनसे पवित्र पदार्थोंको ही समर्पण करता हूं।' यह बडा भारी महत्त्वपूर्ण उपदेश है, आत्मशुद्धिके लिये इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। सातों मुखोंमें पवित्र हव्यका ही हवन करना चाहिये। अर्थात् बुद्धिमें पवित्र ज्ञान, मनमें पवित्र विचार, नेत्रमें पवित्र रूप, कानमें पवित्र शब्द, मुखमें पवित्र अन्न और वाणी, नाकमें पवित्र सुगन्ध और चर्ममें स्पर्शविषयका हवन होना चाहिये। इस प्रकार सभी पदार्थ अत्यन्त पवित्र रूपमें हमारे अन्दर जाने लग जाएं तो अन्दरका संपूर्ण वायुमण्डल परिशुद्ध हो जायगा और आत्मशुद्धि होती रहेगी। इस प्रकार यदि मनुष्यकी शुद्धि होती रही तो अपने परिशुद्ध आत्माके ऐश्वर्यका वर्णन ही क्या करना है! वह इससे शुद्ध बुद्ध और मुक्त होकर पूर्ण यशस्वी होगा और इसको इस सूक्तमें कहे गए ऐश्वर्य निःसन्देह प्राप्त होंगे।

स्वाहा

इस सूक्तमें 'स्वाहा' शब्द कई बार आया है। 'स्वाहा' का अर्थ है (स्व+आ+हा) दूसरोंकी भलाई अथवा उन्नतिके लिये अपनी शक्तिका समर्पण करना। इस

त्याग भावसे उन्नति होती है। अपनी शक्तिका जनताकी भलाईके लिये समर्पण करनेका भाव यहां है। सब प्रकारकी उन्नतिके लिये इस त्याग भावकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त पवित्रीकरणके साथ रहनेवाला यह त्याग भाव बडा ही उन्नति साधक होता है। वैयक्तिक क्या और राष्ट्रीय क्या, जो भी उन्नति होनी है वह इस त्यागभावके बढनेसे ही होगी। उन्नतिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। वेदमें 'स्वाहा' शब्द अनेक वार इसीलिये आया है कि वैदिकधर्मियोंके मनपर इस त्यागभावका पक्का प्रभाव पडे और इसके द्वारा वे इह लोक व परलोकमें अपना पूर्ण कल्याण प्राप्त कर सकें।

विपत्तियोंको हटानेका उपाय

कां. २, सू. १४

(ऋषिः— चातनः। देवताः— शालाग्निर्दैवत्यम्।)

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्। सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥
निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्। निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥
असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः। तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

अर्थ— (निःसालां) घरबार न होना, (धृष्णुं) भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, (एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं) निश्चयपूर्ण एक भाषण करनेवाली निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाली, तथा (चण्डस्य सर्वा नप्त्यः) क्रोधकी सबकी सब सन्तानें और (स-दान्वाः) दानवोंकी राक्षसवृत्ति आदि सब दरिद्रताका हम (नाशयामः) नाश करते हैं॥ १ ॥

(वः गोष्ठात् निः अजामसि) तुमको हम अपनी गोशालासे निकाल देते हैं, (अक्षात् निः) अपनी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, (उपानसात् निः) अन्नपानके गड्ढेके स्थानसे तुमको हटाते हैं, (मगुन्द्याः वः निः) मनके मोहसे तुमको हटाते हैं। हे (दुहितरः) दूर रहने योग्य! तुम्हें (गृहेभ्यः चातयामहे) घरोंसे हटाते हैं॥ २ ॥

(असौ यः अधरात् गृहः) यह जो नीच घराना है (तत्र अराय्यः सन्तु) वहां विपत्तियां रहें (तत्र सेदिः) वहां ही क्लेश (नि उच्यतु) निवास करे (सर्वाः यातुधान्यः) सब दुष्ट वहीं जांय॥ ३ ॥

भावार्थ— आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं उनमें कुछ ये हैं- (१) घरबार कुछ भी न होना, (२) सदा औरोंका भय प्रतीत होना या दूसरोंको डराना, (३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कभी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना, (४) मन सदा क्रोधवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तियां हैं, इनको पुरुषार्थसे हटाना चाहिये॥ १ ॥

जिस प्रकार पुत्रियोंको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं, उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पाससे दूर हटाना चाहिये। गोशालासे, घरोंसे, अपनी दृष्टिसे, अन्नपान या गाडी रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्तिसे विपत्तियोंको हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये॥ २ ॥

जो नीच वृत्तिवालोंके घर हैं वहीं विपत्ति, नाश तथा दुष्ट दुराचारी भी रहें॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः । गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥
यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः । यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥
परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् । अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

अर्थ— (भूतपतिः इन्द्रः) प्रजापालक राजा (सदान्वाः इतः निरजतु) राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे। (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरकी जडमें निवास करनेवाली दुष्टताएं (इन्द्रः वज्रेण अधितिष्ठतु) इन्द्र अपने वज्रसे हटा देवे ॥ ४ ॥

हे (स-दान्वाः) आसुरी वृत्तिसे होनेवाली पीडाओ ! (यदि क्षत्रियाणां स्थ) यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, (यदि वा पुरुषेषिताः) यदि मनुष्यकी प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो, (यदि दस्युभ्यः जाताः) यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब (इतः नश्यत) यहांसे हट जाओ ॥ ५ ॥

(आशुः गाष्ठां इव) जैसे घोडा अपने स्थानको पहुंचता है उसी प्रकार (आसां धामानि परि सरन्) इन विपत्तियोंके मूल कारणको ढूंढ कर निकाल दो। (वः सर्वान् आजीन् अजैषं) तुम्हारे सब संग्रामोंको जीत लिया है जिससे हे (स-दान्वाः) पीडाओ ! (इतः नश्यत) यहांसे हट जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासन द्वारा दूर करे किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥ ४ ॥

इन पीडाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होनेवाली पीडाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिस प्रकार घोडा अपना पांव उठा कर प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये। सब जीवनकलहोंमें अपनी विजय निःसन्देह हो, ऐसी अपनी तैयारी करनेसे और हरएक जीवनयुद्धमें जाग्रत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही सब पीडाएं हट सकती हैं ॥ ६ ॥

विपत्तियोंको हटानेका उपाय

विपत्तियोंका स्वरूप

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है, वह क्रमशः देखिये—

१ निः साला— शाला अर्थात् घरबार न होना, निवास स्थान न होना, विश्रामके लिये कोई स्थान न होना। (मं. १)

२ धृष्णु— सदा भयभीत रहना, दूसरेसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकड लेगा इसका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है। दूसरोंको भय दिखाना, डराना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना। इत्यादि (मं. १)

३ एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं— एक निश्चय करनेवाली बुद्धिका नाश करनेवाला घातपातका स्वभाव। बुद्धिसे कार्याकार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव। जिसकी निश्चयात्मक बुद्धि ही नहीं होती, जो सदा संदेहमें रहता है। (मं. १)

४ चण्डस्य सर्वा नप्त्यः— क्रोधकी सब संतानें। अर्थात् क्रोधसे उत्पन्न होनेवाली आपत्तियां। (मं. १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः)— असुरोंका नाम दानव है। दानवका अर्थ है घातपात करनेवाले; गीतामें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तारपूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घातपात करते हैं उनका यह नाम है। दानव भावसे युक्त होना यह भी बडी भारी आपत्ति ही है। (मं. १)

६ अ-राय्यः— कंजूसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव। (मं. ३)

७ सेदिः— क्लेश, महाक्लेश। शारीरिक कृशता, दुर्बलता। कुछ भी कार्य करनेका सामर्थ्य न होना। (मं. ३)

८ यातुधान्यः— धन्यता न होना। चोर डकैती करनेवाले लोग और उनके वैसे घृणित भाव। (मं. ३)

ये सब आपत्तियां हैं। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंशतः सब इनके क्लेशोंसे परिचित हैं। इसलिये सभी चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं—

तीन भेद

१ क्षेत्रियाः— अर्थात् कई आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जो मनुष्यके स्वभावमें क्षेत्रसे आयीं होती हैं, वंशपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं। (मं. ५)

२ पुरुषेषिताः— दूसरी आपत्तियां ऐसी होती हैं, कि जो (पुरुष-इषिताः) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणाओंके कारण होती हैं। (मं. ५)

३ दस्युभ्यः जाताः— तीसरी आपत्तियां ऐसी हैं कि जो दस्यु चोर डाकु आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं। (मं. ५)

आपत्तियोंके तीन भेद हैं- (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे पुरुषोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके कारण होनेवाली। इन सब आपत्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये।

कई आपत्तियां खानपान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं, जैसे रोगादि आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही उन्हें रोकना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये—

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि

१ गोष्ठात् निः अजामसि— गोशालासे हटाता हूं अर्थात् गोशालाके कुप्रबंधमें जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करता हूं। गोशालाकी पवित्रता करनेसे इन आपत्तियोंका नाश हो सकता है। (मं. २)

२ उपानसात् निः अजामसि— अन्नपानके गड्ढे अथवा वाहनादिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आपत्तियां आसकती हैं उनकी शुद्धतासे इन आपत्तियोंको मैं हटाता हूं। (मं २)

३ अक्षात् निः अजामसि— अपनी दृष्टिके दोषसे जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करके मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूं। इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतसी आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है। आत्मशुद्धिकी सूचना यहां मिलती है। (मं. २)

४ मगुन्द्याः निः अजामसि— (म-गुन्द्याः = मन+ गुन्द्र्याः) मनको मोहित करनेवाली वृत्तिसे तुमको हटाता हूं। मनकी मोहनिद्रा दूर करता हूं। यह मनकी शुद्धि है। (मं. २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोशालाकी शुद्धि, घरकी शुद्धि, गाडी आदि वाहन जहां रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करनेके द्वारा आपत्तियोंको दूर करनेका उपदेश है। इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख है उनसे जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे, उन सबका ग्रहण यहां करना उचित है। इसका तात्पर्य यही है कि जहांसे आपत्तियां उठती हैं और मनुष्योंको सताती हैं, उन स्थानोंकी शुद्धता करनी चाहिये। पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आपत्तियां हट जाती हैं। मलिनता आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आपत्तियोंको दूर करनेवाली है।

नीचतामें विपत्तिका उगम

विपत्तियोंका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उपदेश है। इसमें कहा है कि— 'जो यह (अधरात् गृहः) नीच घराना है वहीं सब कंजूसियाँ, विपत्तियाँ, नाश, क्लेश, कृशता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं।' नीच घरमें इनकी उत्पत्ति है। 'अधर' शब्द यहां नीचताका द्योतक है। जहां हीनता होगी वहीं आपत्तियोंका उगम होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

राजाका कर्तव्य

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि '(भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा अपने वज्रसे (सदान्वाः) सब डाकुओंको और (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरके अंदर छिपे हुए सब दुष्टोंको हटा देवे।' अर्थात् राजा अपने सुव्यवस्थित राजप्रबंधसे दुष्टोंको दूर करे और अपने राज्यको सज्जनोंके घर जैसा बनावे। इस प्रकार उत्तम राजशासन द्वारा दुष्टोंका प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग खुल जाता है। सुराज्य होना भी एक बडा साधन है कि जिससे आपत्तियां कम होती हैं, या दूर हो जाती हैं।

जीवनका युद्ध

आपत्तियोंके साथ झगडा करना विपत्तियोंसे लडना और उनका पराभव करके अपनी विजय संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती हैं। यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पडता है। शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकू तथा दुष्टोंसे लडना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल आदिसे युद्ध करना पडता है। इस छोटे मोटे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोटे युद्ध करने ही होते हैं। इन युद्धोंको किये विना और वहां अपनी विजय प्राप्त किये विना सुखमय जीवनका प्राप्त होना असंभव है। यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है—

वः सर्वान् आजीन् अजैषम्। (मं. ६)

' सब युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं। ' इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्यसंपन्न हो जाता है। प्रत्येक युद्धमें अपनी विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये।। अन्यथा विजय असम्भव है। शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति अधिक ही रहनी चाहिये तभी विजय प्राप्त हो सकती है अन्यथा पराजय होगी। पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी। इसलिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये। और अपनी विजय संपादन करनी चाहिये।

पहिले जितनी भी आपत्तियां गिनाई गई हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं। राज शासनका सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, बाह्यशुद्धि आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धिके उपायकी विशेषता है, यह बात भूलनी नहीं चाहिये।

जिस प्रकार घोडा चलकर अपने प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है। इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही पुरुषार्थसे सिद्धिको प्राप्त करे। प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुरुषार्थसे ही प्राप्त हो सकता है। पुरुषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियोंका दूर होना असंभव है।

वर्चःप्राप्ति-सूक्त

कां. १, सू. ९

(ऋषिः— अथर्वा। देवता— वस्वादयो नानादेवताः।)

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥
अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

अर्थ— (अस्मिन्) इस पुरुषमें (वसवः) वसु देवता तथा इन्द्र, पूषा, वरुण, मित्र, अग्नि ये देव (वसु) धनको (धारयन्तु) धारण करायें। आदित्य और विश्वे देव (इमं) इस पुरुषको (उत्तरस्मिन् ज्योतिषि) अति उत्तम तेजमें स्थापित करें ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (अस्य) इस पुरुषके (प्रदिशि) अधिकारमें ज्योति, सूर्य, अग्नि और हिरण्य (अस्तु) होवे। (सपत्नाः) शत्रु (अस्मत् अधरे) हमारे नीचे (भवन्तु) होवें और (इमं) इसको (उत्तमं नाकं) उत्तम सुखमें (अधि रोहय) तुम चढाओ ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥
एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने ।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) ज्ञानी उपदेशक ! (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम ज्ञानसे इन्द्रके लिये (पयांसि समभरः) दुग्धादि रस दिये जाते हैं (तेन) उस उत्तम ज्ञानसे, हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (इमं) इसको (इह) यहां (वर्धय) बढा और (एनं) इसको (सजातानां श्रैष्ठ्ये) अपनी जातिमें श्रेष्ठ स्थानमें (आ धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) तेजस्वी पुरुष ! (एषां) इनके यज्ञ, (वर्चः) तेज, (रायः पोषं) धनकी वृद्धि और (चित्तानि) आदिको (अहं आ ददे) मैं प्राप्त करता हूं । (सपत्नाः) शत्रु हमसे नीचेके स्थानमें रहें और (इमं) इस मनुष्यको उत्तम सुखसें (अधि रोहय) पहुंचा ॥ ४ ॥

वर्चःप्राप्ति-सूक्त

इस सूक्तका भावार्थ देखनेके पूर्व कई बातोंका स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सूक्तका भावार्थ समझमें ही नहीं आवेगा । सबसे प्रथम वर्णित देवताओंका मनुष्यसे क्या संबंध है इसका ठीक ठीक ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिये उसका विचार सबसे प्रथम करेंगे—

देवताओंका सम्बन्ध

जो ब्रह्माण्डमें है, वह पिण्डमें है, तथा जो पिण्डमें है वह ब्रह्माण्डमें है अर्थात् जो विश्वमें है, उसका सब सत्त्व एक व्यक्तिमें है और जो व्यक्तिमें है उसका विस्तार सब विश्वमें हैं, इसका विशेष ज्ञान निम्नलिखित कोष्टकसे हो सकता है—

व्यक्तिमें देवतांश	समाजमें देवता	विश्वमें देवता
निवासक शक्तियां	समाजस्थितिकी आठ शक्तियां	वसवः (अष्ट)
स्थूलशरीर	मातृभूमि	पृथ्वी
रक्तादि धातु	जल नदी नद आदि	आपः
शरीरका तेज	अग्नि, विद्युत् आदि	तेजः, ज्योतिः
प्राण	शुद्ध वायु	वायुः
कान	स्थान	आकाशः
अन्नपान	औषधि, वनस्पति धान्यादि	सोमः
प्रकाश	प्रकाश	अहः
इन्द्रिय गण	साधारण जनता	नक्षत्राणि, देवाः
ज्ञान	ब्राह्मण, ज्ञानी मनुष्य	ब्रह्म
क्षात्रतेज	क्षत्रिय वीर	इन्द्र
पुष्टि	राष्ट्रपोषक अधिकारी	पूषा
शांतभाव	जलाधिकारी	वरुणः
मित्रभाव	मित्र जन	मित्रः
वाणी	ज्ञानी उपदेशक	अग्निः
स्वातंत्र्य	स्वतंत्र विचारके लोग	आदित्याः
नेत्र, दर्शनशक्ति	दार्शनिक विद्वान्	सूर्यः
सब दिव्य गुण	सब विद्वान्, कारीगर	विश्वे देवाः
तेज	धन	हिरण्यं
दुष्ट विचार	शत्रु	सपत्नाः
आनंद	स्वाधीनता	नाकः (स्वर्ग)
तेजी	,,	उत्तमं ज्योतिः
सुख	,,	मध्यमं ,,
		अधमं ,,

*

' ब्रह्मचर्य ' पुस्तकमें अंशावतारका वैदिक भाव वर्णन किया है इस प्रसंगको और अधिक समझनेके लिए उसे अवश्य पढिए। (स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित। मूल्य १॥)

इस कोष्टकसे पाठकोंको पता लग जायगा कि सूक्तोक्त देवता शरीरमें किस किस रूपमें हैं, राष्ट्रमें किस किस रूपमें हैं और जगत्‌में किस किस रूपमें हैं। सूर्यदेव जगत्‌में कहां है यह सब जानते हैं, वही अंशरूपसे शरीरमें है जिसको नेत्र या दर्शनशक्ति कहते हैं, राष्ट्रमें भी जो पुरुष विशेष विचारसे राष्ट्रकी अवस्थाका विचार करते हैं वे दार्शनिक पुरुष राष्ट्रके सूर्य हैं क्योंकि उनके दर्शाये मार्ग पर चलता हुआ राष्ट्र उत्तम अवस्थामें पहुंच सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिए।

इस सूक्तमें प्रारंभमें ही 'अस्मिन्' पद है इसका अर्थ 'इस मनुष्यमें' ऐसा है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहां किस मनुष्यके उद्देश्यसे यह शब्द आया है? पूर्व सूक्तके साथ इस सूक्तका संबंध देखनेसे स्पष्टता-पूर्वक पता लगता है कि इस शब्दका संबंध पूर्व वर्णित 'नवप्रविष्ट शुद्ध हुए' मनुष्यके साथ ही है। जो मनुष्य मनकी वृत्ति बदलनेके कारण अपने धर्ममें प्रविष्ट हुआ है, उसकी सबसे अधिक उन्नति करनेकी इच्छा करना प्रत्येक मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य ही है। अपने धर्ममें जो श्रेष्ठसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य है, वह उसको शीघ्र प्राप्त हो, इस विषयकी इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये, अर्थात् उसको विशेष तेज प्राप्त हो ऐसी इच्छा करनी चाहिये यद्यपि इस सूक्तका पूर्वापर संबंध देखनेसे यह सूक्त नव प्रविष्टकी तेजवृद्धिके लिये है ऐसा प्रतीत होता है; तथापि हरएक मनुष्यके तेज वृद्धिके सामान्य निर्देश भी इसमें हैं और इस दृष्टिसे यह सामान्य सूक्त सब मनुष्योंके लिए उपयोगी भी है।

अब यहां पूर्वोक्त मंत्रोंका भावार्थ दिया जाता है और वह भावार्थ व्यक्तिमें जो देवतांश हैं उनको लेकर ही दिया जाता है।

उन्नतिका मूलमन्त्र

प्रथम मंत्र– 'इस मनुष्यमें जो निवासक शक्तियां है तथा क्षात्र बल, पुष्टि, शांति, मित्रता तथा वाणी आदिकी शक्तियां हैं, ये सब शक्तियां इसमें धन्यता स्थापित करें। इसके स्वतंत्र विचार और इसकी सब इंद्रियां इसको उत्तम तेजमें स्थापित करें ॥ १ ॥

मनुष्यमें अथवा जगत्‌के हरएक पदार्थमें कुछ निवासक (वसु) शक्तियां हैं जिनके कारण वह पदार्थ या प्राणी अपनी अवस्थामें रहते हैं। जिस समय निवासक वसु शक्तियां बढती रहती हैं, उस समय पोषण होता है और जिस समय घटती जाती हैं, उस समय क्षीणता होती है; तथा निवासक शक्तियोंके नाश होनेपर मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके बढने घटनेसे वे वे गुण बढते या घटते हैं। मनुष्यमें वसुशक्तियां आठ हैं और अन्य देवताओंसे प्राप्त अन्य शक्तियां भी हैं। इन शक्तियोंके विकसित रूपमें प्रकाशित होनेसे ही मनुष्य वसु अर्थात् धन प्राप्त करता है और अपने आपको धन्य कर सकता है। सारांश रूपसे उन्नतिका मूल मंत्र है। (१) अपनी निवासक वसु-शक्तियोंका विकास करना, तथा (२) अपने अंदर क्षात्र-तेज़की वृद्धि करना, (३) अपनी पुष्टि करना, (४) अपने अंदर समता और शांति रखना, (५) मनमें मित्रभाव बढाना और हिंसकभाव कम करना, तथा (६) वाणीकी शक्ति विकसित करना। इन छः शक्तियोंके बढ जानेसे मनुष्य हरएक प्रकारका धन प्राप्त कर सकता है और उससे अपने आपको धन्य बना सकता है। यहांका 'वसु' शब्द धनवाचक है परंतु यह धन केवल पैसाही नहीं, अपितु यह वह धन है, कि जिससे मनुष्य अपने आपको श्रेष्ठ पुरुषोंमें धन्य मान सकता है। इस वसुमें सब निवासक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त होनेवाली धन्यता आ जाती है। (१) 'निवासक शक्ति, (२) क्षात्रतेज, (३) पुष्टि, (४) समता, (५) मित्रभाव, (६) वक्तृत्व' इन छः गुणोंकी वृद्धि करनेकी सूचना इस प्रकार प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें दी है और दूसरे अर्धमें कहा है कि (७) इसके स्वतंत्र विचार और (८) इसकी इंद्रियां इसको उत्तमोत्तम तेजस्वी स्थानमें पहुंचायें। मनुष्यके स्वतंत्र विचार ही मनुष्यको उठाते या गिराते हैं, उसी प्रकार इंद्रियां स्वाधीन हों तभी वह संयमी मनुष्य श्रेष्ठ बनता है अन्यथा इंद्रियोंके आधीन बनकर दुर्व्यसनी बना हुआ मनुष्य प्रतिदिन हीन होता जाता है। मनुष्यकी निःसंदेह उन्नतिका यह अष्टविध साधन प्रथम मंत्रने दिया है। वह हरएक मनुष्यको देखने-योग्य है। अब दूसरा मंत्र देखिये—

विजयके लिये संयम

द्वितीय मंत्र– 'हे देवो! इस मनुष्यकी आज्ञामें तेज, नेत्र, वाणी और धन रहे। हमारे शत्रु नीचे हो जांय और इसको सुखकी उत्तम अवस्था प्राप्त हो ॥ २ ॥'

इस मंत्रमें '(अस्य प्रदिशि सूर्यः अस्तु) इसकी आज्ञामें सूर्य रहे' यह वाक्य है। पाठक जान सकते हैं कि किसी भी मनुष्यकी आज्ञामें सूर्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि वह मनुष्यकी शक्तिसे बाहर है; परन्तु सूर्यका अंश जो

शरीरमें नेत्र स्थानमें रहता है और जिसको नेत्र इन्द्रिय कहते हैं वह तो संयमी पुरुषके आधीन रह सकता है। इससे पूर्व कोष्टककी बात सिद्ध होती है कि व्यक्तिके विषयमें विचार करनेके समय देवताओंके शरीरस्थानीय अंश ही लेने चाहिये जैसा कि पहले मंत्रमें किया है और इस मंत्रमें भी करना है।

मनुष्यके अंदर बाह्य ज्योतिका अंश तेजी, सूर्यका अंश नेत्र, अग्निका अंश वाणीके रूपमें रहता है। इसी प्रकार अन्यान्य देवोंके अंश यहीं रहते हैं, वे ही इन्द्रिय शक्तियां हैं। मनुष्यकी स्फूर्ति, आंख और वाणी तथा उपलक्षणसे अन्य इन्द्रियां भी उसकी आज्ञामें रहें, अर्थात् इन्द्रियां स्वतंत्र न बनें। तात्पर्य यह कि मनुष्य इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह करके अपनी शक्तियोंको अपने आधीन रखे। अपनी इन्द्रियोंको अपने आधीन रखना आत्मविजय प्राप्त करना है। इस प्रकारका आत्मविजयी मनुष्य ही शत्रुओंको दबा सकता और उत्तम सुख प्राप्त कर सकता है। यदि जगत्में विजय पाना है, शत्रुओंको दबाना है, तथा उत्तम सुख कमाना है, तो अपनी शक्तियोंको सबसे प्रथम स्वाधीन करना चाहिये, यह महत्त्वपूर्ण उपदेश यहां मिलता है।

ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठताकी प्राप्ति

तृतीय मंत्र- 'जिस उत्तम ज्ञानसे क्षत्रियको उत्तमोत्तम रस प्राप्त होते हैं, हे धर्मोपदेशक! उसी उत्तम ज्ञानसे यहां इस मनुष्यकी वृद्धि कर और अपनी जातिमें इसे श्रेष्ठता प्राप्त हो ॥ ३ ॥

क्षत्रियको, इन्द्रको अथवा राजाको जिस ज्ञानने उत्तम भोग प्राप्त होते हैं और जिस ज्ञानसे वह सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, वह ज्ञान इस मनुष्यको प्राप्त हो और यह मनुष्य भी वैसा ही अपनी जातिमें अथवा अपने राष्ट्रमें श्रेष्ठ बने। राष्ट्रके हरएक पुरुषको श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करनेके सब साधन खुले रहने चाहिये। वह मनुष्य नूतन प्रविष्ट हो वा उसी जातिमें उत्पन्न हुआ हो। तथा हरएक मनुष्यमें यह महत्वाकांक्षा होनी चाहिये कि मैं भी उस ज्ञानको प्राप्त करके वैसा ही श्रेष्ठ बनूंगा, मैं अपनी जातिका नेता बनूंगा और अपने देशमें श्रेष्ठता प्राप्त करूंगा। यह मंत्रका आशय हरएकको नित्य स्मरणमें रखना उचित है।

जनताकी भलाई करना

चतुर्थ मंत्र- 'इन सबके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूं और इनके धनकी वृद्धि मैं करूंगा, तथा इनके सत्कर्म मैं फैलाऊंगा। हमारे शत्रु नीचे दब जांय और इसको उत्तम सुखका स्थान प्राप्त हो ॥ ४ ॥

(१) पहिले मंत्रके उपदेशानुसार आचरण करनेसे अपनी शक्तियोंकी उन्नति की, (२) दूसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपने इन्द्रिय संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त किया, (३) तीसरे मंत्रके उपदेशानुसार अपनी ज्ञानवृद्धि द्वारा प्रशस्त कर्म करके अपनी जातिमें बहुमान प्राप्त किया, तब (४) इस चतुर्थ मंत्रमें वर्णित जनताकी भलाई करनेके उत्तमोत्तम कर्म करने और करानेका योग्य अवसर प्राप्त होता है। पाठक यहां चार मंत्रोंमें वर्णित यह चार सीढियां देखें और विचारें तो पता लग जायगा कि यहां इस सूक्तमें वेदने थोडे शब्दोंमें मानवी उन्नतिका अत्यंत उत्तम उपदेश किया है।

उन्नतिकी चार सीढियां

अपनी शक्तियोंका विकास

प्रथम मंत्र- शरीरकी धारक शक्तियों, इन्द्रियों और अवयवोंकी सब शक्तियों, तथा मनकी विचार-शक्तियोंका उत्तम विकास करो।

स्वशक्तियोंका संयम

द्वितीय मन्त्र- अपने आधीन अपनी सब शक्तियां रखो, संयम द्वारा आत्मविजय प्राप्त करके शत्रुको दूर करो और सुखी हो जाओ।

ज्ञानवृद्धि द्वारा स्वजातिमें संमान

तृतीय मन्त्र- ज्ञानकी वृद्धि द्वारा विविध रस प्राप्त करो और अपनी वृद्धि द्वारा स्वजातिमें श्रेष्ठ बनो।

जनताकी उन्नतिके लिये प्रयत्न

चतुर्थ मन्त्र- लोगोंके चित्त अपनी ओर आकर्षित करो, लोगोंके धनोंकी वृद्धि करो और उनके प्रशस्त कर्मोंको फैला दो। इससे शत्रुओंको दूर करके सुखके स्थानमें विराजो।

ये चार मन्त्र महत्त्वपूर्ण चार आदेश दे रहे हैं (१) स्वशक्ति-संवर्धन, (२) आत्मसंयम, (३) ज्ञानके कारण स्वजातिमें श्रेष्ठत्व और (४) जनताकी भलाईके लिये प्रयत्न। इन चार मन्त्रोंपर चार विस्तृत व्याख्यान हो सकते हैं, इतना इनके उपदेशोंका विस्तार और महत्त्व है।

चतुर्थ मन्त्रमें 'एषां' शब्द है, यह 'इन सब लोगोंका' यह भाव बता रहा है। इन सब लोगोंके चित्त मैं अपनी ओर खींचता हूं, इनके धनोंकी वृद्धि करनेके उपाय मैं करता हूं, इनके प्रशस्त कर्मोंको बढाता हूं और इनके सब शत्रुओंको नीचे दबाकर इन सबका सुख बढानेका प्रयत्न करता हूं। यह इस चतुर्थ मन्त्रका भाव अति स्पष्ट और सुगम है।

इन सूक्तोंका स्मरणीय उपदेश

१ उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु– अधिक श्रेष्ठ तेजमें (इसकी) धारणा करें।

२ अस्य प्रदिशि ज्योतिः सूर्यः अग्निः उत हिरण्यं अस्तु– इसकी आज्ञामें तेज, सूर्य, अग्नि और धन रहें, (अर्थात्) इस (मनुष्य) की आज्ञामें जगत्के पदार्थ रहें और कभी मनुष्य उनकी आज्ञामें जाकर पराधीन न बने।

३ सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु– शत्रु हमारे नीचे रहे।

४ उत्तमं नाकमाधि रोहयैनम्– इसे उत्तम स्थानमें चढाओ।

५ सजातानां श्रेष्ठय आ धेह्येनम्– इसको अपनी जातिमें श्रेष्ठ बनाओ।

शुद्धिकी विधि

कां. २, सू. १९–२३

(ऋषिः– अथर्वा। देवता– अग्निः, वायुः सूर्यः, चन्द्रः, आपः।)

(१९) अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि० ॥ २ ॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२०) वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवताओ ! आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप) उसको तप्त करो (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिससे हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) दोष हरण करो जो हमसे द्वेष करता और जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

(२१) सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥२॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥३॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥४॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥५॥

(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥२॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥३॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥४॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन समतेजसं कृणु यो० ॥५॥

(२३) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥१॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो० ॥२॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो० ॥३॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो० ॥४॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो० ॥५॥

अर्थ— हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च) संदीपन करो जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच) शुद्ध करो जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (अतेजसं) तेजरहित करो जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि और तेज ये पांच शक्तियां हैं, इसलिये कृपा करके हमारे द्वेषकोंको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हरकर उनमें आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको अपने दिव्य तेजसे प्रभावित करके शुद्ध करो। जिससे वे कभी किसीसे द्वेष न करें और मिलजुल कर आनंदसे रहें ॥

शुद्धिकी विधि

पांच देव

इन पांच सूक्तोंमें पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्यमें उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है। ये पांच देवता ये हैं—

अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः।

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता और आप (जल) में पूर्ण शांति है। अर्थात् ये देवता इस व्यवस्थासे क्रमशः आए हैं कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल-जावे। अंतिम दो देव चंद्र और आप् पूर्ण शांति देनेवाले हैं। अग्नि और सूर्य तपानेवाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है।

पंचायतन

सूर्य (उषा प्रकाश)	→	चंद्र (सौम्य प्रकाश)
	वायु (गति)	
अग्नि (तप)		आप (शांति)
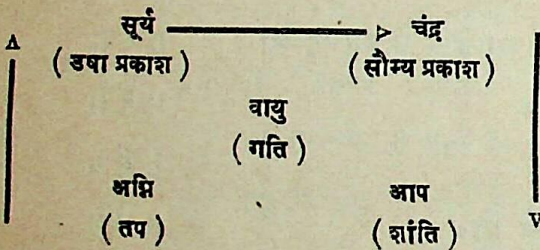
पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उसे रख देते हैं। उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्त्वकी पूर्ण शान्ति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है। शुद्ध होनेका यह मार्ग है। यह क्रम विशेष महत्त्व पूर्ण है। और इसीलिये इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इकट्ठा किया है।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ

पांच देवोंकी पांच शक्तियोंका इन सूक्तोंमें वर्णन किया हैं। उनके नाम ये हैं।

'तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः' ये पांच शक्तियां हैं। ये पांचों शक्तियां प्रत्येक देवके पास हैं। हरएककी ये शक्तियां भिन्न हैं। अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। इस लिये प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियां हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है। जैसा 'हरः' नामक शक्तिके विषयमें देखिये। हरः का अर्थ है 'हरण करना' हर लेना। यहां इस एक ही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये—

१ अग्नि— शीतताका हरण करता है, तपाता है।

२ वायु— आर्द्रताका हरण करता है, सुखाता है।

३ सूर्य— समयका हरण करता है, आयु घटाता है।

४ चन्द्र— मनस्तापका हरण करता है, मनकी प्रसन्नता देता है।

५ जल— शारीरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पदार्थ भिन्न हैं, इसी प्रकार 'तपन, हरण, अर्चन, शोचन और तेजन' के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका सुधार होता है। प्रत्येक देवताके ये पांच गुण हैं और पांच देवता हैं, इस लिये सुधार होनेके लिये पच्चीस छाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेसे सहज हीमें जान जायेंगे।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिये हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः— तपाना, तपना। इसका महत्त्व बडा भारी है। सुवर्णादि धातु अग्निमें तपनेसे ही शुद्ध होते हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है। तपन अनेक प्रकारसे होता है। तप बहुत प्रकारके हैं उन सबका उद्देश्य शुद्धि करना ही है।

२ हरः— हरण करना, हर लेना। दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना। सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है। इसी प्रकार अन्यान्य तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है।

३ अर्चिः— अर्च् धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है। पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासनाका प्रकाश उस मनुष्यके अंदर ढाला जाता है। दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं।

४ शोचिः— शुच् धातुका अर्थ शोधन करना है। शुद्धता करना। तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है। शोधनका अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना। स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः— तेजन करना है। तिज् धातुका अर्थ तेज करना और पालन करना है। शस्त्रकी धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां अभीष्ट है। तीखा करना, तेज करना बुद्धिकी तीव्रताका संपादन करना।

उदाहरणके लिये लोहा लीजिये। पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (अर्चिः) जाता है, नंतर (शोचिः) पानीमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस शस्त्रको तेज किया जाता है। यह एक चक्कू छुरी आदि बनानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है। फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इन की उपयोगिता अन्यान्य रीतियोंसे होगी ही इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता है? तात्पर्य 'तपन, हरण, अर्चन, शोधन और तेजन' यह पांच प्रकारकी शुद्धिकी विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। दुष्ट मनुष्यका सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है।

मनुष्यकी शुद्धि

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इस का विचार करना चाहिये। इस कार्यके लिये पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहां और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिये। इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धिकरण विधिका पता स्वयं लग सकता है। इसलिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहां और किस रूपमें विराजमान हैं, यह देखिये—

देवतापंचायतन

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र और आप् ये पांच देवताएं निम्नलिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्निः (अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्)= अग्नि वाणीका रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुई है। अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्निका रूप वाक् है।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्)= वायु प्राणका रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है। और यह प्राण एकादश विध होकर सब शरीरमें व्यापक है।

३ सूर्यः (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्)= सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्)= चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ बसा है।

आपः (आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशत्)= जल रेत बनकर शिश्नके स्थानपर बसा है।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढाल कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं। यह बात विशेष विस्तारपूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहां ही पाठक देखें। यहां जो वाक्य ऊपर लिये हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ. उ. १।२) मेंसे ही लिये हैं। इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है। अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंके अर्थ देखिये—

सूक्त १९ – (अग्नि–वाणी)= हे वाणी! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमसे द्वेष करता है। तथा जो तेरे अंदर हरणशक्ति है उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर शोधक गुण है उससे उसीकी शुद्धि कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥ १–५ ॥

सूक्त २० – [वायु–प्राण] – हे प्राण! जो तेरे अंदर तप दोष–हरण–शक्ति, दीपन शक्ति, शोधन शक्ति और तेजन-शक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबसे द्वेष करता है ॥ १–५ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है। प्रत्येककी पांच शक्तियां हैं और उनसे जो शुद्धता होनी है, उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है। जो बाह्य देवता हैं उनके अंश हमारे अंदर विद्यमान हैं; उन अंशोंकी अनुकूलता प्रतिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है। यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन हों उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है।

शुद्धिकी रीति

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्धि होनी चाहिये। तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। इसका संक्षेपसे वर्णन देखिये—

१ वाणीका तप–सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिये जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसको सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये। सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है। वाणीके अंदर जो दोष हों उनको भी दूर करना चाहिये। वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिये, जो बोलना है वह सावधानीसे परिशुद्ध

विचारोंसे युक्त ही बोलना चाहिये। इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उससे शब्द सुननेके लिये उत्सुक हो जाता है। (सू. १९)

२ प्राणका तप— प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धोंकनीसे वायु देनेसे अग्निका दीपन होता है, उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडियोंकी शुद्धता होकर तेज बढता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, शोधन होता है और तेजस्विता भी बढ जाती है। इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है। (सू. २०)

३ आंखका तप— आंख द्वारा दुष्ट भावसे किसी ओर न देखना और मंगलभावनासे ही अपनी दृष्टिका उपयोग करना नेत्रका तप है। अपनी आंखसे इस प्रकार पाप होते रहते हैं और इस प्रकार पतन होता है। इससे बचनेका यत्न हरएकको करना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंका संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है। अपने इंद्रियोंको बुरे पथसे हटाना और अच्छे पथ पर चलाना बडा महत्त्वपूर्ण तप है। इसीसे दोष हटते हैं, शोधन होता है और तेज भी बढता है। (सू. २१)

४ मनका तप— सत्य पालन करना मनका तप है। बुरे विचारोंको मनसे हटाना भी तप है। इस प्रकारके मनके तप करनेसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है। (सू. २२)

५ वीर्यका तप— (ब्रह्मचर्य) शिस्न इंद्रियका, वीर्यका अथवा कामका तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है। ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्युएँ दूर होती हैं और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं रोगादि भय दूर होते हैं और निसर्गका आरोग्य मिलता है। ब्रह्मचर्यके विषयमें सब लोग जानते ही हैं इसलिये इसके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्रके उद्धारका हेतु है। (सू. २३)

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण) सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्यकी शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवताकी पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटकर उसमें गुण बढते जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उत्पन्न होता जाता है।

द्वेष करना

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करनी चाहिये। दूसरोंसे द्वेष करना इतना बुरा है ! इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बडा भारी पतनका साधन है।

दो चार मित्र इकट्ठे बैठे या मिले तो उनकी जो बात चीत शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, अपितु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड दे, तो उसका बहुत कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरेसे द्वेष करना बडा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिये मनुष्य द्वेष ही करता जाता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तोंके प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि 'जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये।' क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंसे द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयं भी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जैसा चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। जो लोग दूसरोंसे द्वेष करते हैं, दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन उनके मनमें दुर्गुणोंकी संख्या बढती रहती है, किसी कारण भी वह कम नहीं होती। मन ही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव। यह नियम अटल है। जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः निन्दक मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है।

इसीलिये द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिये। अपनी शुद्धि करनी चाहिये। तथा आगेके लिये निन्दावृत्ति छोड देनी चाहिये। अन्यथा धोये हुए कपडोंको फिर कीचडमें फेंकनेके समान दुरवस्थाका सुधार हो ही नहीं सकता।

दुष्ट-दमन

कां. २, सू. १८

(ऋषिः- चातनः । देवता- अग्निः ।)

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥
सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥
सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ— तू (भ्रातृव्य-क्षयणं) वैरियोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ १ ॥

तू (सपत्नक्षयणं) सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २ ॥

तू (अ-राय-क्षयणं) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥

तू (पिशाच-क्षयणं) मांस चूसनेवालोंके नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥

तू (स-दान्वा-क्षयणं) आसुरी वृत्तियोंको दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं (स्वा-हा) आत्म-समर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— वैरी, शत्रु, कंजूस, खूनचूस और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, यह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आपको तेरे लिये अर्पित करता हूं ॥ १-५ ॥

दुष्ट-दमन

बलकी गणना

इन दो सूक्तोंमें आत्मसंरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं—

१ ओजः— स्थूल शरीरकी शक्ति, पुठ्ठोंका बल।

२ सहः— शीत, उष्ण अथवा अन्यान्य द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति। कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करना पडे उन कष्टोंको आनन्दसे सहन करना सह है। शत्रुके हमले होने पर उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोडना, अर्थात् अपने स्थानमें ठहरना यह भी एक सहनशक्ति ही है। सहज हीमें शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं अपितु शत्रुसे कभी पराजित ही न होना। शत्रुके हमले सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना, यह सब सह है।

३ बलं— सब प्रकारके बल। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि जितने भी बल मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल।

४ आयुः— दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु।

५ श्रोत्रं— कान आदि इंद्रियोंकी शक्तियां। श्रवणसे प्राप्त होनेवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या।

६ चक्षुः— चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तियां। प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान।

७ परिपाणं— परित्राणकी शक्ति। अपनी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति। (परि) सब प्रकारसे अपना (पाणं) संरक्षण करनेकी शक्ति।

८ भ्रातृव्य-क्षयणं— भ्रातृव्य शब्दका अर्थ यहां विशेष मननसे देखना चाहिये। दो भाईयोंके पुत्र आपसमें

भ्रातृव्य कहलाते हैं। यह घरमें भ्रातृव्यपन है। इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें (भ्रातृव्य) कहलाती है। इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं। ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिये तभी विजय होगी। अन्यथा पराभव होगा। राष्ट्रीय चतुरंग बलको सजानेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है। राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है।

९ सपत्नक्षयणं— एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं। इन पक्ष भेदोंका नाम ' सपत्न ' है क्योंकि ये एक ही पतिके शासनमें हैं। इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा स्वाभाविक है। इस स्पर्धामें अन्य सपत्नोंको हटाकर अपनी विजय प्राप्त करनी चाहिए। यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है।

१० अरायक्षयणं— राय शब्द धनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है। इस निर्धनताको सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है। वैश्यों और कारीगरोंके उत्कर्षसे यह बात साध्य हो सकती है।

११ पिशाचक्षयणं— रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है। (पिशिताच् = पिशाच) रक्त पीनेवाले रोग भी हैं जिनमें रक्त क्षीण होता है। मनुष्योंमें रक्तमांस भोजी पिशाच क्षयण होते हैं। इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर पिशाच कहलाते हैं। समाजसे इनको दूर रखना योग्य है।

१२ स-दान्वाक्षयणं— (स-दानव-क्षयणं) असुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना। यह पुराणोंमें ' देवासुर युद्ध ' नामसे प्रसिद्ध है। आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवासुरोंके झगडे चल ही रहे हैं और उनमें असुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है। यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

स्वाहा विधि

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये। इन बलोंके उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न होती है। दूसरोंके घात करनेके कार्यमें अपने बलका उपयोग करना तो सब जानते ही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बलोंका उपयोग ' स्वाहा ' विधिसे करनेको कहा है। ' स्वाहा ' विधिका तात्पर्य ' आत्मसर्वस्वका समर्पण ' करना है पूर्णकी भलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाका तात्पर्य है।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियां अपने अंदर बढ जांय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तोंमें विशेष महत्व रखता है।

स्व = अपना
हा = त्याग } = आत्म-सर्वस्व-समर्पण।

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है। विधि-शक्तियोंके उपयोग करनेकी ब्राह्मपद्धति बता रहा है। क्षात्रादि पद्धतिमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और ब्राह्मपद्धतिमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है। यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंग है। दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्रमें जो शक्ति मांगी है, उसके साथ ' स्वाहा ' का उल्लेख हुआ है। यह एक प्रचंड शक्ति है। यदि ये शक्तियां मनुष्यमें विकसित हो जांए और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढता जाए तो कितनी हानिकी संभावना है। एक ही शारीरिक शक्तिकी बात देखिये। कोई बडा मल्ल है, बडा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है। परंतु यदि वह मल्ल अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा, तो कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिये। आत्मसमर्पणसे ही शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है। और सच्चा हित भी हो सकता है।

इसलिये इन दो सूक्तोंमें बारह बार ' स्वाहा ' का उच्चारण करके आत्मसमर्पणका सबसे अधिक उपदेश किया है। जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग मैं आत्मसमर्पणकी विधिसे ही करूंगा ऐसा निश्चय मनुष्यको करना चाहिये। तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है।

चोर-नाशन-सूक्त

कां. १, सू. १६

(ऋषिः- चातनः । देवताः- अग्निः, इन्द्रः, वरुणः ।)

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः । अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥
सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति । सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥
इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः । अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् । तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ ४ ॥

अर्थ— (ये अत्त्रिणः) जो डाकू चोर (अमावास्यां रात्रीं) अमावसकी रात्रिके समय हमारे (व्राजं) समूहपर (उदस्थुः) हमला करते हैं, उस विषयमें (यातुहा सः तुरीयः अग्निः) चोरोंका नाशक वह चतुर्थ अग्नि (अस्मभ्यं) हमें (अधि ब्रवत्) सूचना दे ॥ १ ॥

(वरुणः सीसाय) वरुणने सीसेके विषयमें (अध्याह) कहा है। (अग्नि सीसाय) अग्नि सीसेको (उपावति) रक्षक कहता है। (इन्द्रः) इन्द्रने तो (मे सीसं) मुझे सीसा (प्रायच्छत्) दिया है। हे (अंग) प्रिय ! (तत् यातु-चातनम्) वह डाकू हटानेवाला है ॥ २ ॥

(इदं) यह सीसा (विष्कंधं) रुकावट करनेवालोंको (सहते) हटाता है। यह सीसा (अत्त्रिणः) डाकुओंको (बाधते) पीडा देता है। (अनेन) इससे (पिशाच्या या विश्वा जातानि) पिशाचोंकी जो जातियां हैं, उनको (ससहे) मैं हटाता हूं ॥ ३ ॥

(यदि नः गां हंसि) यदि हमारी गायको तू मारता है, (यदि अश्वं) यदि घोडेको और (यदि पूरुषं) यदि मनुष्यको मारता है (तं त्वा) तो उस तुझको (सीसेन विध्यामः) सीसेसे हम वेधते हैं, (यथा) जिससे तू (नः अ-वीर-हा असः) हमारे वीरोंका नाश करनेवाला न हो ॥ ४ ॥

भावार्थ— अमावास्याकी अंधेरी रात्रिके समय जो डाकू हमारे संघपर हमला करते हैं, उस विषयमें हमें ज्ञानीसे उपदेश मिला है ॥ १ ॥

जलके रक्षक तथा उपदेशक सीसेकी गोलीका प्रयोग करनेकी प्रेरणा देते हैं। शूर वीरने तो सीसेकी गोली हमें दे रखी है। हे बंधुओ ! यह डाकुओंको हटानेवाली है ॥ २ ॥

यह सीसेकी गोली डाकुओंको हटाती है और प्रतिबंध करनेवालोंको दूर करती है। इससे खून पीनेवाली सब जातियोंको दूर भगाया जाता है ॥ ३ ॥

हे चोर ! यदि तू हमारी गाय, हमारा घोडा अथवा मनुष्यका वध करेगा, तो तुझपर हम गोली चलावेंगे, जिससे तू हमारा नाश करनेके लिये फिर जीवित न रह सके ॥ ४ ॥

चोर--नाशन--सूक्त

सीसेकी गोली

इस सूक्तमें सीसेकी गोलीका प्रयोग डाकुओंपर करनेको कहा है। सूक्तमें केवल 'सीस' शब्द है, गोलीका वाचक शब्द नहीं है। तथापि 'सीसेन त्रिध्यामः' (सीसेके द्वारा वेध करेंगे) इस प्रयोगसे सीस शब्दसे सीसेकी गोलीका भाव समझना उचित है। केवल सीसेका उपयोग डाकुओंके नाशमें किसी अन्य प्रकार संभवनीय नहीं दीखता है। (विध्यामः) वेध करनेका भाव दूरसे चांदमारीके समान निशाना मारना है। आजकल सीसेकी गोली बंदूककी नलीमें रखकर उससे दूरसे शत्रुको वेधते हैं। बाण भी धनुष्यपरसे दूरसे ही निशानेपर फेंका जाता है। तात्पर्य यह कि इन मंत्रोंके शब्द बता रहे हैं कि सीसेकी गोलीसे दूरसे ही डाकुओंका वेध करना चाहिये। लाठी सोटीके समान इसका पाससे प्रयोग नहीं होता इतना ही यहां बताना है।

शत्रु

'अत्रिन् यातु' सब शब्द डाकू चोर लुटेरे अर्थात् समाजके शत्रुओंके वाचक हैं। इनसे भिन्न जिन शब्दोंका इससे पूर्व विचार नहीं हुआ उनका विचार यहां करते हैं—

१ विष्कम्भ– प्रतिबंध करनेवाला, रुकावटें उत्पन्न करनेवाला, हरएक बातमें विघ्न डालनेवाला।

२ पिशाच, पिशाची– रक्त पीनेवाले और कच्चा मांस खानेवाले क्रूर लोग, जो मनुष्यका मांस भी खाते हैं।

ये सब तथा (अत्रिन्) भूखे डाकू, (यातुः) चोर ये सब समाजके शत्रु हैं। इनको उपदेशद्वारा सुधारनेका विषय पूर्व आये हुए (कां. १, सू. ७, ८) धर्मप्रचारके सूक्तोंमें आचुका है। जो नहीं सुधरते उनको दंडके लिये क्षत्रियोंके आधीन करनेकी आज्ञा भी सप्तम सूक्तके अंतमें दी है। उपदेश और दण्ड इन दो उपायोंसे जो नहीं सुधरते उनपर सीसेकी गोलीका प्रयोग करनेका विधान इस सूक्तमें आया हैं। अपने संगठन करनेका उपदेश पूर्व सूक्तमें देनेके पश्चात् इस सूक्तमें शत्रुपर गोली चलानेकी आज्ञा है यह विशेष ध्यानसे देखना चाहिये। यदि आपसमें उत्तम रूपसे संगठित न हुए हुए लोग शत्रुपर हमला करेंगे, तो संभव है कि वे स्वयं ही नष्ट भ्रष्ट हो जायें। इसलिये 'प्रथम अपना संगठन और पश्चात् शत्रुपर चढाई करनी चाहिये।'

आर्य वीर

अग्नि, इन्द्र आदिके विषयमें सूक्त सातके प्रसंगमें वर्णन आया ही है। (अग्निः) ज्ञानी उपदेशक, (इन्द्रः) शूरवीर ये आर्यवीर हैं यह पहिले बताया है। इन दो शब्दोंसे ब्राह्मण और क्षत्रियोंका बोध होता है यह बात पहिले बतायी जा चुकी है।

इस सूक्तमें 'वरुण' शब्द आया है। वरुण समुद्र अथवा जलका अधिपति वेदमें तथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। जलस्थान, नदी आदि तथा समुद्र परसे जो शत्रुओंके हमले होते हैं उनसे रक्षा करनेका यह ओहदेदार है। जिस प्रकार 'अग्नि' शब्द ब्राह्मणत्ववाचक, 'इन्द्र' शब्द क्षात्रधर्मका बोधक है, उसी प्रकार 'वरुण' शब्द जलमार्गसे आनेजानेवाले और देशांतरोंमें व्यापार करनेवाले वैश्योंका अथवा वैश्यत्वका सूचक यहां प्रतीत होता है। इसलिये गोली चलानेके विषयमें (अग्नि) ब्राह्मण, (इन्द्र) क्षत्रिय और (वरुण) वैश्यने भी संमति दी है और (इन्द्र) क्षत्रियने तो सीसेकी गोलियां हमारे पास दे रखी हैं, इत्यादि द्वितीय मंत्रका भाव इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। सप्तम सूक्तमें दिये उपदेशानुसार ब्राह्मण प्रचारकोंने प्रयत्न किया और उन्होंने कहा कि ये डाकू सुधरते नहीं हैं, क्षत्रियोंने भी कहा कि अनेक वार देहदंड देनेपर भी इन दुष्टोंका सुधार नहीं हुआ, वैश्य तो लूटे जानेके कारण कहते ही रहे, इस प्रकार तीनों वर्णोंकी परिषद् जब गोली चलानेकी आज्ञा दे तब गोली चलायी जा सकती है।

डाकुओंकी असफलता

कां. २, सू. २४

(ऋषिः– ब्रह्मा । देवता– आयुष्यम् ।)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ १ ॥
शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ २ ॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (शेरभक शेरभ) वध करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ १ ॥

हे (शेवृधक शेवृध) घातपात करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ २ ॥

(हे म्रोक अनुम्रोक) हे चोर और चोरोंके साथी ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ ३ ॥

हे (सर्प अनुसर्प) हे सांपके समान छिपके हमला करनेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ ४ ॥

हे (जूर्णि) विनाशक ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ ५ ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनी ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ६ ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ७ ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (उपब्दे) चिल्लानेवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ ६ ॥

हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले ! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो ! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय । (यस्य स्थ) जिसके साथी तुम हो (तं अत्त) उसको खाओ । (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपना ही मांस खाओ ॥ ७ ॥

हे (भरूजि) नीच वृत्तिवाले ! तुम सबके (यातवः) अनुयायी और (हेतिः) शस्त्र तथा (किमीदिनीः) लूट करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जांय । जिसके अनुयायी तुम हो (तं अत्त) उसी को खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो ।)

भावार्थ— जो दुष्ट मनुष्य अथवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते हैं वे शस्त्रास्त्रोंसे सज्ज होकर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लूटमार करते और सज्जनोको सताते हैं । राजाकी सुव्यवस्थासे ऐसा प्रबंध किया जावे कि इन दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको लूट न सके । इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जायें, इनके शस्त्र व्यर्थ हों, ये डाकूसंघ भूखे मरने लगें । ये लोग कहीं भी सफलताको प्राप्त न कर सकें । विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरे स्वयं ही नष्ट हो जायें ॥ १–८ ॥

दुष्ट लोग

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें डाकू चोर लुटेरे रहते हैं । ये डाकू रात्रीके या दिनके समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं । इस प्रकार लूट पर ये अपना निर्वाह करते हैं ।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय, सफल मनोरथवाले न हो सकें । सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे । प्रतिसमय हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूखें मरने लगेंगे । पश्चात् आपसमें लडेंगे और आपसमें लड कर मर जायेंगे । इनके शस्त्रास्त्र जो दूसरोंके लिये थे वे उनपर ही गिरेंगे ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खायेंगे क्योंकि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होंगी ।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्थाका होना और चोर लुटेरेका भूखसे मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है । ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको डाकूके व्यवहारसे हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है ।

यक्ष्म-निवारण

कां. ९, सू. ८

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता- सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणम् ।)

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ २ ॥

यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ३ ॥

यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ४ ॥

अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्गयं विसल्पकम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ५ ॥

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम् । तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६ ॥

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके । यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ७ ॥

यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि । हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ८ ॥

अर्थ— (शीर्षक्तिं) मस्तकशूल, (शीर्षामयं) सिरदर्द, (कर्णशूलं) कर्णशूल, (विलोहितं) रक्तरहित होना, अथवा पाण्डुरोग, (ते सर्वं शीर्षण्यं रोगं) तेरा सब मस्तक विकार (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर करते हैं ॥ १ ॥

(ते कर्णाभ्यां) तेरे कानोंसे और (कंकूषेभ्यः) कानोंके भीतरी भागसे (विसल्पकं कर्णशूलं) विशेष कष्ट देनेवाले कर्णशूलको तथा (सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं) तेरे सब मस्तकका रोग हम (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर करते हैं ॥ २ ॥

(यस्य हेतोः) जिस कारण (यक्ष्मः कर्णतः आस्यतः प्रच्यवते) यक्ष्म रोग कानसे और मुखसे बहता है, उस (सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे) तेरे सिरके रोगको हम बाहर करते हैं ॥ ३ ॥

(यः प्रमोतं कृणोति) जो बहिरा बनाता है, तथा (पुरुषं अन्धं कृणोति) मनुष्यको अन्धा बनाता है, (सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिः निर्मन्त्रयामहे) उस सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर करते हैं ॥ ४ ॥

(अंग-भेदं) अंगोंको तोडनेवाले, (अंग-ज्वरं) अंगोंमें ज्वर उत्पन्न करनेवाले, (विश्वांग्यं विसल्पकं) संपूर्ण अंगोंमें पीडा करनेवाले (सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिः निर्मन्त्रयामहे) सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर हटा देते हैं ॥ ५ ॥

(यस्य भीमः प्रतीकाशः) जिसका भयंकर रूप (पुरुषं उद्वेपयति) मनुष्यको कंपाता है उस (विश्वशारदं तक्मानं) पूरे सालभर होनेवाले उष्णरोगको (बहिः निर्मन्त्रयामहे) हम बाहर करते हैं ॥ ६ ॥

(यः ऊरू अनुसर्पति) जो जंघाओंतक बढता है (अथो गवीनिके एति) और जो नाडियोंतक पहुंचता है, उस (यक्ष्मं ते अन्तरंगेभ्यः) रोगको तेरे आन्तरिक अंगोंसे हम (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर कर देते हैं ॥ ७ ॥

(यदि कामात्) यदि कामुकतासे अथवा यदि (अ-का-मात्) कामको छोडकर किसी अन्य कारणोंसे (हृदयात् परि जायते) हृदयके ऊपर उत्पन्न होता है, तो उस (बलासं) कफको (हृदः अंगेभ्यः) हृदयसे और अंगोंसे (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात् । यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥
आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत् । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १० ॥
बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात् । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ ११ ॥
उदरात्ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥
याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १४ ॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १५ ॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १६ ॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १७ ॥

अर्थ— (ते हरिमाणं) तेरा कामिला रोग–रक्तहीनताका रोग– (अंगेभ्यः) तेरे अवयवोंसे, (उदरात् अन्तः अप्वां) उदरके अन्दरसे जलोदर रोगको तथा (आत्मनः अन्तः यक्ष्मः–धां) अपने अन्दरसे यक्ष्मरोगको धारण करनेवाली अवस्थाको (बहिः निर्मन्त्रयामहे) बाहर हम निकालते हैं ॥ ९ ॥

(बलासः आसः भवतु) कफ थूकके रूपमें होवे और बाहर जावे । (आमयत् मूत्रं भवतु) आमदोष मूत्र होकर बाहर जावे । (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष (अहं त्वत् निरवोचं) मैं तेरे शरीरसे बाहर निकालता हूं ॥ १० ॥

(तव उदरात्) तेरे पेटसे (काहाबाहं विलं) शब्द करते हुए विष मूत्रनलिकासे (निर्द्रवतु) निकल जावे । (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब रोगोंका विष (अहं त्वत् निरवोचं) मैं तेरे शरीरसे बाहर निकालता हूं ॥ ११ ॥

(ते उदरात्) तेरे पेटसे (क्लोम्नः नाभ्याः हृदयात् अधि) फेफडोंसे नाभिसे और हृदयसे (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं निरवोचमहं त्वत्) सब रोगोंका विष मैं दूर करता हूं ॥ १२ ॥

(याः सीमानं विरुजन्ति) जो सीमा भागको पीडा देते हैं, और जो (मूर्धानं प्रति अर्षणीः) सिरतक बढते जाते हैं, वे रोग (अनामयाः अहिंसन्तीः) दोषरहित होकर न मारते हुए (बहिः विलं निर्द्रवन्तु) द्रवरूपसे रन्ध्रोंके बीचसे बाहर चले जावें ॥ १३ ॥

(याः हृदयं उप ऋषन्ति) जो हृदयपर आक्रमण करती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) पसलीकी हड्डियोंमें फैलती हैं वे सब पीडाएं (अनामयाः अहिंसन्तीः निर्द्रवन्तु बहिर्बिलं) दोषरहित होकर और मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूप होकर दूर हो जांय ॥ १४ ॥

(याः पार्श्वे उप ऋषन्ति) जो पृष्ठभाग पर आक्रमण करती हैं और (पृष्टीः अनु निक्षन्ति) पीठ पर फैलती हैं, वे सब पीडायें (अनामयाः अहिंसन्तीः) दोषरहित होकर न मारते हुए (बहिः विलं निर्द्रवन्तु) सब रन्ध्रोंसे द्रवरूप होकर दूर जाएं ॥ १५ ॥

(याः तिरश्चीः उप ऋषन्ति) जो तिरछी होकर आक्रमण करती हैं, और (ते वक्षणासु अर्षणीः) तेरी पसलियोंमें प्रवेश करती हैं वे (अनामयाः अहिंसन्तीः निर्द्रवन्तु बहिर्बिलं) सब दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे रोमरन्ध्रोंके द्वारा शरीरके बाहर चले जावें ॥ १६ ॥

(याः गुदाः अनुसर्पन्ति) जो गुदातक फैलती हैं, और (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आंतोंको रोकती हैं वे सब पीडाएं (अनामयाः अहिंसन्तीः निर्द्रवन्तु बहिर्बिलं) दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे शरीरके रोमरन्ध्रोंसे बाहर चली जावें ॥ १७ ॥

या मुज्ज्ञो निर्धयन्ति परूँषि विरुजन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥
ये अङ्गानि मुदयन्ति यक्ष्मासो रोपुणास्तव । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमुहं त्वत् ॥ १९ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालुजेः । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमुहं त्वत् ॥ २० ॥
पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ २१ ॥
सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ २२ ॥

अर्थ— (याः मज्ज्ञः निर्धयन्ति) जो मज्जाओंको रक्तहीन करती हैं, और (परूंषि विरुजन्ति च) जोडोंमें वेदना उत्पन्न करती हैं, वे सब रोग (अनामयाः अहिंसन्तीः निर्द्रवन्तु बहिर्बिलं) दोषरहित और अमारक होकर रन्ध्रोंसे बाहर द्रवरूप होकर निकल जावें ॥ १८ ॥

(ये यक्ष्मासः) जो यक्ष्मरोग (रोपणाः) व्याकुल करते हुए (तव अंगानि मदयन्ति) तेरे अंगोंको मद-युक्त करते हैं उन (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष (अहं त्वत् निरवोचं) मैं तुझसे हटाता हूं ॥ १९ ॥

(विसल्पस्य) पीडा, (विद्रधस्य) सूजन, (वातीकारस्य) वातरोग और (वा अलजेः) रोग इन सबके तथा (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) संपूर्ण रोगोंके विषको (अहं त्वत् निरवोचं) मैं तेरे शरीरसे हटाता हूं ॥ २० ॥

(पादाभ्यां ते जानुभ्यां) तेरे पांवोंसे और जानुओंसे, (श्रोणिभ्यां भंससः परि) कूल्होंसे और गुह्यभागसे (अनूकात् उष्णिहाभ्यः) रीढसे और गुदोंकी नाडियोंसे (अर्षणीः) फैलनेवाली पीडाओंको और (शीर्ष्णः रोगं) सिरकी पीडाका मैं (अनीनशं) नाश करता हूं ॥ २१ ॥

(ते शीर्ष्णः कपालानि) तेरे सिरके कपालभाग, (हृदयस्य च यः विधुः) और हृदयकी जो व्याधि है, उसे (उद्यन् आदित्यः रश्मिभिः) उगता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (शीर्ष्णः रोगं सं अनीनशः) सिरके रोगको नाश करता है और (अंगभेदं अशीशमः) अंगोंकी पीडाको शांत करता है ॥ २२ ॥

सिरदर्द

इस सूक्तमें सिरदर्दको हटानेके लिये सूर्यकिरण एक उपाय बताया है सूर्यकिरणोंमें शरीर सेकनेसे सिरका रोग, वर्णके रोग, पाण्डुरोग तथा अन्यान्य कई रोग दूर होते हैं। संभव है कि ये सूर्यकिरण विशेष प्रबंधसे उस रोगग्रस्त स्थानपर भी लेने योग्य हों। इस सूक्तमें यह चिकित्साकी विधि तो बतायी नहीं है, परंतु इतना कहा है कि सूर्यकिरणसे इस सूक्तमें कहे अनेक रोग दूर होते हैं।

कई सिरके रोग दृष्टिको मन्द करते हैं, अंधा बनाते हैं, बहिरा बनाते हैं, रक्त कम होनेसे कई सिरके रोग होते हैं, कानोंके दोषसे और आंखोंके दोषसे भी सिरकी पीडा होती है, कानसे और मुखसे पीप आदि बाहर निकलता रहता है जिससे सिरदर्द होता है, इस प्रकार अनेक लक्षण और हेतु सिरदर्दके इस सूक्तमें दिये हैं। इन सबका विचार वैद्य और डाक्टर करें और सूर्यकिरणोंका उपाय इन सबपर किस प्रकार करना चाहिए इसका भी निश्चय करें।

अथवा कोई अन्य उपाय यहां लक्षणासे बताया है, इसका भी निश्चय होना उचित है। यह सूक्त वस्तुतः अति सुबोध है, तथापि सिरदर्दका विषय अति शास्त्रीय होनेसे इस सूक्तके कई शब्द वैद्य और डाक्टर ही जान सकते हैं।

यक्ष्मरोगनाशन

कां. १२, सू. २

(ऋषिः– भृगुः । देवताः– अग्निः, मन्त्रोक्ताः, मृत्युः ।)

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥ १ ॥
अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च । यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ २ ॥
निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि ।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद्यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥ ३ ॥
यद्यग्निः क्रव्याद्यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥ ४ ॥

अर्थ— (नडं आरोह) नडपर चढ (ते अत्र लोकः न) तेरे लिये यहां स्थान नहीं है । (इदं सीसं ते भागधेयं) यह सीस तेरा भाग्य है । (एहि) तू इधर आ । (यः गोषु यक्ष्मः) जो गौवोंमें क्षयरोग है, (पुरुषेषु यक्ष्मः) जो मनुष्योंमें रोग है, (तेन साकं त्वं अधराङ् परा इहि) उस रोगके साथ तू नीचेकी ओरसे जा ॥ १ ॥

(अघशंस–दुःशंसाभ्यां तेन करेण अनुकरेण च) पापी और दुष्टके साथ उस कृति और अनुकरणके द्वारा (सर्वं यक्ष्मं मृत्युं च) सब रोग और मृत्युको भी (इतः निरजामसि) यहांसे दूर करते हैं ॥ २ ॥

(इतः मृत्युं निः) यहांसे मृत्युको (ऋतिं निः अरातिं निः अजामसि) दुःखको और शत्रुको दूर भगा देते हैं । हे अग्ने ! (यः नः द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है (तं अद्धि) उसको खा अर्थात् उसका नाश कर । (यं उ द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं उ ते प्रसुवामः) उसको तेरे पास भेज देते हैं ॥ ३ ॥

(यदि क्रव्यात् अग्निः) यदि मांस खानेवाला अग्नि और (यदि वा अनि–ओकाः व्याघ्रः) यदि घरबारसे रहित व्याघ्र–हिंसक– (इमं गोष्ठं प्रविवेश) इस गोशालामें प्रविष्ट हुआ है, तो (तं माषाज्यं कृत्वा) उसे माष–घीसे युक्त बनाकर (दूरं प्रहिणोमि) दूर भगा देता हूं (सः अप्सुषदः अग्नीन् गच्छतु) वह जलोंमें रहनेवाले अग्नियोंके पास जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— कोई भी रोग मनुष्योंके स्थानमें न रहे । किसी दूरके स्थानपर वह चला जाय । जो रोग मनुष्यों और पशुओंमें हो, वह एकदम दूर हो जाएं । सब मनुष्य और पशु नीरोग और स्वस्थ हों ॥ १ ॥

सब रोग पापियों और दुराचारियोंके साथ दूर चले जावें । वैसी ही कृति और अनुकृति होवे कि जिससे सब रोग दूर हो सकें ॥ २ ॥

यहांसे मृत्यु, दुःख, दरिद्रता और शत्रु दूर हों । हम सब इनसे द्वेष करते हैं, इसलिये ये हमारे पास न रहें ॥ ३ ॥

प्रेतदाहक अग्नि यदि किसीके घरमें प्रविष्ट हुई हो अर्थात् यदि किसीके घर किसीकी मृत्यु हुई हो, तो वहां माषाज्यविधि होनेके पश्चात् उस घरका वह मृत्युभय दूर होवे अर्थात् मृत्यु फिर यहां न आवे ॥ ४ ॥

यत्त्वा॑ क्रु॒द्धाः प्र॑च॒क्रुर्म॒न्युना॒ पुरु॑षे मृ॒ते । सु॒क॒ल्पम॑ग्ने॒ तत्त्वया॒ पुन॒स्त्वोद्दी॑पयामसि ॥ ५ ॥
पुन॑स्त्वादि॒त्या रु॒द्रा वस॑वः॒ पुन॑र्ब्र॒ह्मा वसु॑नीतिरग्ने ।
पुन॑स्त्वा॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॒राधा॑द्दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय ॥ ६ ॥
यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात्प्र॑वि॒वेश॑ नो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम् ।
तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दू॒रं स घ॒र्ममि॑न्धां पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥ ७ ॥
क्र॒व्याद॑म॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्ञो गच्छतु रिप्रवा॒हः ।
इ॒हायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वो दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥ ८ ॥
क्र॒व्याद॑म॒ग्निमि॑षि॒तो ह॑रामि॒ जना॑न्दृं॒हन्तं॒ वज्रे॑ण मृ॒त्युम् ।
नि तं शा॑स्मि॒ गार्ह॑पत्येन वि॒द्वान्पि॑तॄ॒णां लो॒केऽपि॑ भा॒गो अ॑स्तु ॥ ९ ॥

अर्थ— (मृते पुरुषे) मनुष्यके मरनेपर (यत् क्रुद्धाः मन्युना त्वा प्रचक्रुः) जो क्रुद्ध होकर क्रोधसे तेरा अन्याय करते हैं, हे अग्ने ! (त्वया तत् सुकल्पं) तेरे द्वारा वह अन्याय ठीक होने योग्य है । अतः (पुनः त्वा उत् दीपयामसि) फिरसे तुझे प्रदीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (आदित्याः, रुद्राः, वसवः) आदित्य, रुद्र और वसु, (वसु-नीतिः ब्रह्मा ब्रह्मणस्पतिः) धन देनेवाला ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति (शतशारदाय दीर्घायुत्वाय त्वा पुनः अधात्) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये तुझे पुनः स्थापित करते हैं ॥ ६ ॥

(यः क्रव्यात् अग्निः) जो मांसभक्षक अग्नि (इतरं जातवेदसं, पश्यन्) दूसरे जातवेदस् अग्निको देखता हुआ (नः गृहं प्रविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुई है, (तं पितृयज्ञाय दूरं हरामि) उस अग्निको पितृयज्ञके लिए दूर ले जाता हूँ (सः परमे सधस्थे घर्मं इन्धां) वह अग्नि परम धाममें उष्णता बढावे ॥ ७ ॥

(क्रव्यादं अग्निं दूरं प्रहिणोमि) मांसभक्षक अग्निको दूर ले जाता हूं । (रिप्रवाहः यमराज्ञः गच्छतु) दोष दूर करनेवाला वह यमराजके पास चला जावे । (इह अयं इतरः जातवेदाः) यहां यह दूसरा जातवेद अग्नि है वह (प्रजानन् देवः देवेभ्यः हव्यं वहतु) जानता हुआ देव देवोंके लिये हवनीय भाग ले जावे ॥ ८ ॥

(जनान् वज्रेण मृत्युं दृंहन्तं) लोगोंको वज्रके द्वारा मृत्युके प्रति ले जानेवाले (क्रव्यादं अग्निं इषितः हरामि) मांसभक्षक अग्निको इच्छापूर्वक ले जाता हूं । (विद्वान् गार्हपत्येन तं नि शास्मि) जानता हुआ मैं गार्हपत्य अग्निद्वारा उसका शासन करता हूं । उसका (पितॄणां लोके भागः अपि अस्तु) पितरोंके लोकमें भाग अवश्य रहे ॥ ९ ॥

भावार्थ— किसी घरमें किसीके मरनेपर उसको जलानेके लिये अग्नि क्रोधित उग्र अर्थात् प्रज्ज्वलित करते हैं । उससे आगे किसी प्रकार भय न हो । फिर अग्नि प्रदीप्त करनेपर सर्वत्र शान्ति हो जावे ॥ ५ ॥

घरमें यज्ञादि करनेके लिये जो अग्नि स्थापित करते हैं, उससे उन घरवालोंको सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है ॥ ६ ॥

एक प्रेतमांसभक्षक अग्नि है और दूसरी यजनकी अग्नि है । प्रेतदाहक अग्नि पितृयज्ञ करे और उस यज्ञको पितरोंके परले स्थानमें ले जावे ॥ ७ ॥

प्रेतमांसभक्षक अग्नि मनुष्यस्थानसे दूर रहे अर्थात् प्रेतोंका दहन मनुष्यस्थानसे दूर होवे । परंतु जो यह दूसरी जातवेद नामक अग्नि यजन करनेके लिये स्थापित की जाती है वह हवन द्वारा देवताकी तृप्ति करती रहे अर्थात् वह मनुष्योंके घरोंमें रहे ॥ ८ ॥

मनुष्योंके प्रेतोंको दहन करनेवाली अग्निके कार्यकी शान्ति गार्हपत्य अग्निसे अर्थात् विवाहके समयकी अग्निसे करते हैं । अर्थात् इनका कार्य परस्पर भिन्न है । एकसे वंशका नाश और दूसरेसे वंशवृद्धि होती है ॥ ९ ॥

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं१ प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः ।
मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम् ॥ १० ॥
समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥ ११ ॥
देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत् । मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः ॥ १२ ॥
अस्मिन्वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे । अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ १३ ॥
संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः । ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद्दूरमनीनशन् ॥ १४ ॥
यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु । क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

अर्थ— (उक्थ्यं शशमानं क्रव्यादं अग्निं) प्रशंसनीय गतिमान् मांसभक्षक अग्निको (पितृयाणैः पथिभिः प्रहिणोमि) पितृयानके मार्गोंसे दूर भगाता हूं । (देवयानैः पुनः मा आगाः) देवयानके मार्गोंसे पुनः यहां मत आ । (अत्र एव एधि) यहीं रह (त्वं पितृषु जागृहि) तू पितरोंमें जाग्रत रह ॥ १० ॥

(शुचयः पावकाः शुद्धाः भवन्तः) शुचि, पवित्र और शुद्ध होकर (स्वस्तये संकसुकं सं इन्धते) कल्याणके लिये विदाहक अग्निको प्रदीप्त करते हैं । वह (रिप्रं जहाति) दुष्टताको त्यागता है और (एनः अति एति) पापका अतिक्रमण करता है । (समिद्धः सुपुना अग्निः पुनाति) प्रदीप्त हुई पवित्रता करनेवाली अग्नि सबको पवित्र करती है ॥ ११ ॥

(संकसुकः देवः अग्निः) विदाहक अग्नि (दिवः पृष्ठानि आरुहत्) द्युलोकके ऊपर चढी है, वह (अस्मान् एनसः विमुच्यमानः) हम सबको पापसे छुडाती हुई (अ-शस्त्याः अमोक्) अप्रशस्ततासे मुक्त कर देती है ॥ १२ ॥

(अस्मिन् संकसुके अग्नौ) इस विदाहक अग्निमें (वयं रिप्राणि मृज्महे) हम सब अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं । इससे (यज्ञियाः शुद्धाः अभूम) हम पवित्र और शुद्ध होते हैं । वह (नः आयूंषि प्रतारिषत्) हमारी आयु बढावे ॥ १३ ॥

(संकसुकः विकसुकः) संघातक और विघातक (निर्ऋथः यः च निस्वरः) विनाशक और शब्दरहित अग्नि (ते ते यक्ष्मं) तेरे रोगको (स-वेदसः दूरात् दूरं अनीनशन्) ज्ञानवाले प्राज्ञके द्वारा दूरसे दूर करके नष्ट करे ॥ १४ ॥

(यः नः अश्वेषु, यः वीरेषु) जो हमारे घोडों और वीरोंमें, (यः नः गोषु अजाविषु) जो हमारी गौओंमें और भेडबकरियोंमें और (जनयोपनः अग्निः) लोगोंको कष्ट देनेवाली अग्नि है, उस (क्रव्यादं निः नुदामसि) मांसभक्षक अग्निको हम दूर करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— पितरोंके मार्गोंपर चलनेवाली (स्मशानमें) यह मांसभक्षक अग्नि है और देवोंके मंगल मार्गोंपर दूसरी यजनकी अग्नि है ॥ १० ॥

मनुष्य शुद्ध, पवित्र और मलरहित होकर अपने कल्याणके लिये इस अग्निको प्रदीप्त करते हैं । इससे सब दोष दूर होते हैं, पाप दूर होता है और पवित्रता बढती है ॥ ११ ॥

इसी अग्निके प्रदीप्त होने पर उसकी ज्वालाएं आकाशतक जाती हैं, और हमें पापसे बचाती हैं और अप्रशस्तमार्गसे हमारी रक्षा करती हैं ॥ १२ ॥

इस अग्निमें हम हवन करते हैं और हम अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं । इससे हम शुद्ध, पवित्र और यज्ञके योग्य बनकर अपनी आयुको बढाते हैं ॥ १३ ॥

अग्निमें संघातक, विघातक गुण हैं, इनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग करनेसे ज्ञानी योजक इसकी सहायतासे रोगोंको दूर कर सकता है ॥ १४ ॥

इस तरह घोडे, वीर, गौवें, भेड, बकरियां आदिको नीरोग करना संभव है ॥ १५ ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा। निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥
यस्मिन्देवा अमृजत यस्मिन्मनुष्या उत । तस्मिन्घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥ १७ ॥
समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः । अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥
सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत् । अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे ॥ १९ ॥
सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे । अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

अर्थ— (यः जीवितयोपनः अग्निः तं क्रव्यादं) जो जीवनाशक क्रव्याद् अग्नि है उसको (अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः गोभ्यः अश्वेभ्यः त्वा) अन्य मनुष्यों गौवों और घोडोंसे (निः नुदामसि) निःशेष रीतिसे दूर हटाते हैं॥ १६ ॥

हे अग्ने ! (यस्मिन् देवाः अमृजत) जिसमें देव शुद्ध हुए, (उत यस्मिन् मनुष्याः) और जिसमें मनुष्य भी शुद्ध हुए, (तस्मिन् घृतस्तावः मृष्ट्वा) उसमें घृत-आहुति देकर, शुद्ध होकर (त्वं दिवं रुह) तू स्वर्गपर चढ ॥ १७ ॥

(आहुत अग्ने !) आहुति दिये हुए अग्ने ! (समिद्धः सः नः मा अभि अपक्रमीः) प्रदीप्त होकर तू हमारा अतिक्रमण मत कर । (अत्र एव द्यवि दीदिहि) यहां द्युस्थानमें प्रकाशित हो (सूर्यं ज्योक् दृशे) सूर्यको हम निरंतर देखें ॥ १८ ॥

(यत् सीसे मृड्ढ्वं) जो सीसेमें लगा हुआ, जो (नडे मृड्ढ्वं) नडमें लगा हुआ और जो (संकसुके अग्नौ) विनाशक अग्निमें तपकर लगा हुआ है, (अथो रामायां अव्यां उपबर्हणे शीर्षक्ति) और जो काले रंगवाली भेडमें तथा सिरहानेमें लगा है, उस मलको शुद्ध करो ॥ १९ ॥

(सीसे मलं सादयित्वा) सीसेमें मल शुद्ध करके, (उपबर्हणे शीर्षक्ति) सिरहानेपर सिर रखकर, (असिक्न्यां अव्यां मृष्ट्वा) काली भेडमें शुद्ध करके (यज्ञियाः शुद्धाः भवत) पवित्र और शुद्ध हो जावो ॥ २० ॥

हे मृत्यो ! (देवयानात् इतरः यः ते एषः) देवयानसे भिन्न जो तेरा मार्ग यह है, उस (परं पन्थां अनुपरा इहि) परले मार्गसे दूर चला जा । (चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि) आंखवाले और सुननेवाले तुझे मैं यह कहता हूं। (इमे वीराः बहवः भवन्तु) ये वीर बहुत हों ॥ २१ ॥

भावार्थ— इनसे प्रेतदाहक अग्निको दूर करना योग्य है ॥ १६ ॥

यज्ञसे देवताओंकी शुद्धि हुई, याजक भी यज्ञसे शुद्ध बने । इस तरह यज्ञमें घृतकी आहुतियां देनेसे मनुष्य शुद्ध होकर उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥

यज्ञकी अग्नि प्रदीप्त होकर घरदारके ऊपर न आवे । अपनी यज्ञशालामें प्रदीप्त होकर रहे । उपासक सूर्यको प्रतिदिन देखे ॥ १८ ॥

जहां जहां मल लगा हुआ हो, वह स्थान शुद्ध और पवित्र करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

मृत्यु हम सबसे दूर रहे, हमारे पास न आवे । हमारे बालबच्चे हृष्टपुष्ट और नीरोग तथा दीर्घजीवी बनें ॥ २१ ॥

इमे जीवा वि मृतैरावंवृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥
इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ २३ ॥
आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ ।
तान्वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥ २४ ॥
यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तवं ऋतुभिर्यन्ति साकम् ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ २५ ॥

अर्थ— (इमे जीवाः मृतैः आ ववृत्रन्) ये जीवित लोग मरे हुओंसे घिरे हुए हैं। (नः देवहूतिः अद्य भद्रा अभूत्) हमारी ईशप्रार्थना आज कल्याणमयी हो गयी है। (नृतये हसाय प्राञ्चः अगाम) नृत्य और हास्यके लिये हम सब आगे बढें और हम (सुवीरासः विदथं आ वदेम) उत्तम वीर होकर युद्धका विचार करें ॥ २२ ॥

(जीवेभ्यः इमं परिधिं दधामि) जीवोंके लिये मैं यह मर्यादा देता हूं। (एषां अपरः एतं अर्थं मा नु गात्) इनमेंसे कोई भी इस अर्थके पार कभी न जावे। (शतं शरदः पुरूचीः जीवन्तः) अतिदीर्घ सौ वर्षोंका जीवन अनुभव करते हुए (पर्वतेन मृत्युं तिरो दधतां) पर्वतके द्वारा मृत्युको परे रखें ॥ २३ ॥

(जरसं वृणानाः आयुः आरोहत) वृद्धावस्थाको स्वीकार करते हुए दीर्घ आयुको प्राप्त करो। (अनुपूर्वं यतमानाः यति स्थ) एकके पीछे दूसरा सिद्धितक प्रयत्न करता रहे। (सुजनिमा सजोषाः त्वष्टा) उत्तम जन्म-वाला उत्साहवाला त्वष्टा (तान् वः जीवनाय सर्वं आयुः नयतु) आप सबको दीर्घजीवनके लिये संपूर्ण आयुतक ले जावे ॥ २४ ॥

(यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति) जैसे दिन एक दूसरेके पीछे आते हैं। (यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यन्ति) जैसे ऋतुयें ऋतुओंके साथ चलती हैं। (यथा पूर्वं अपरः न जहाति) जैसे पाहिलेको दूसरा नहीं छोडता, हे धाता! (एवा एषां आयूंषि कल्पय) इसी प्रकार इनकी आयुकी योजना कर ॥ २५ ॥

भावार्थ— यहां जो लोग जीवित हैं वे चारों ओरसे मृतोंसे घिरे हुए हैं अर्थात् उनके चारों ओर मृत जीव हैं। हम ईशप्रार्थना करके कल्याण प्राप्त करें। हम हास्यमें और नृत्यमें अपना मंगल समय व्यतीत करें। हम सब उत्तम वीर बनें और युद्धमें अपना शौर्य प्रकट करें ॥ २२ ॥

जीवोंके लिये आयुष्यकी मर्यादा निश्चित की हुई है। कोई मनुष्य इस दीर्घजीवनकी मर्यादा न तोडे अर्थात् अल्पायुमें न मरे। सब लोग अतिदीर्घ आयुतक जीवित रहें और मृत्युको दूर करें ॥ २३ ॥

वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर दीर्घ आयुको स्वीकार करें। एकके पीछे एक अर्थात् वृद्धके पश्चात् तरुण चले, वृद्धके पूर्व तरुण न मरे। दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करनेका यत्न प्रत्येक करे। ईश्वर सब यत्न करनेवालोंको दीर्घायु देवे ॥ २४ ॥

जैसे दिनके पीछे दिन, ऋतुके पीछे ऋतु और जैसे पहिलेके पीछे दूसरा आता है, वैसे ही वृद्धके पीछेसे तरुण चले जावें, वृद्धोंके पूर्व कोई न मरे अर्थात् सब लोग वृद्ध होकर ही पूर्ण आयुकी समाप्तिपर मरें ॥ २५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥ २६ ॥
उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् ।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥ २७ ॥
वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥ २८ ॥
उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान्परेभिः ।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन्पदयोपनेन ॥ २९ ॥

अर्थ— (अश्मन्वती रीयते) पत्थरोंवाली नदी वेगसे बह रही है । (संरभध्वं) संभलो, (वीरयध्वं) वीरता धारण करो, और (सखायः प्रतरत) हे मित्रो ! तैर जाओ । (ये दुरेवा असन् अत्र जहीत) जो दुःखदायी हों उनको यहीं फेंक दो । (उत्तरेम अनमीवान् वाजान्) यदि हम पार हो जांयगे तो नीरोग अन्न प्राप्त करेंगे ॥ २६ ॥

हे (सखायः) मित्रो ! (उत्तिष्ठत प्रतरत) उठो और तैरो । (इयं अश्मन्वती नदी स्यन्दते) यह पत्थरों-वाली नदी वेगसे बह रही है । (ये अशिवाः असन् अत्र जहीत) जो अशुभ हों उनको यहीं ही फेंक दो । (उत्त-रेम शिवान् स्योनान् अभि) यदि हम तैर जायेंगे तो हम शुभ और सुखदायक अन्नोंको प्राप्त करेंगे ॥ २७ ॥

(शुद्धाः शुचयः पावकाः भवन्तः) शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर (वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं) कल्याणके लिये विश्वदेवकी उपासना आरंभ करो । (दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः) पापके स्थानोंको दूर करते हुए (सर्ववीराः शतं हिमाः मदेम) सब वीरोंके समेत हम सौ वर्ष तक आनंदसे रहें ॥ २८ ॥

(वायुमद्भिः उदीचीनैः परेभिः पथिभिः) वायुवाले ऊपरके श्रेष्ठ मार्गोंसे (अवरान् अतिक्रामन्तः) नीचोंका अतिक्रमण करते हुए (परेताः ऋषयः त्रिःसप्त कृत्वः) दूर पहुंचे हुए ऋषि तीन वार सात इक्कीस वार तपस्या करके (पदयोपनेन मृत्युं प्रत्यौहन्) अपने पदविन्यासले मृत्युको दूर करते रहे हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ— यह संसार एक बडीभारी पत्थरोंवाली नदी है, अर्थात् इसमें दुःखोंके और कष्टोंके बडे बडे पत्थर हैं। इस नदीका वेग भी बडा भारी है । इसलिए इस नदीसे पार करनेके लिए सावधानीसे वीरतायुक्त संगठन करना चाहिये । हे मनुष्यो ! इस तरह यदि मिलकर चलोगे तो पार कर सकोगे, आपसमें फूट बढाओगे तो इस नदीमें बह जाओगे । जो चीजें तुम्हारे पास अनावश्यक हैं उन सबको यहीं फेंक दो, जब तुम तैरकर पार हो जाओगे तब वहीं उत्तम-उत्तम चीजोंको प्राप्त कर सकोगे । परंतु यदि अनावश्यक चीजोंका भार अपने ऊपर रखोगे, तो तुम उस भारके कारण ही डूब जाओगे ॥२६–२७॥

शुद्ध, पवित्र और मलरहित बनो और ईश्वरकी भक्ति करो । पापके स्थानमें अपना कदम न रखो । इस तरह निर्दोष बनकर आनंदसे सौ वर्ष जीवित रहो ॥ २८ ॥

प्राणायामका अभ्यास करके प्राणका स्वाधीन करनेवाले योगी स्थूल शरीरको निर्दोष बनाकर अपने आधीन करते हैं। ये ही ऋषि तपस्याके द्वारा मृत्युको दूर करके दीर्घजीवी बनते हैं ॥ २९ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥ ३० ॥
इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ ३१ ॥
व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि ।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥ ३२ ॥
यो नो अग्निः पितरो हृत्स्व१न्तरामिवेशामृतो मर्त्येषु ।
मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान्द्विक्षत मा वयं तम् ॥ ३३ ॥

अर्थ— (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्युके पांवको दूर करते हुए (आयुः द्राघीयः प्रतरं दधानाः) इस आयुको दीर्घ और श्रेष्ठ बनाकर धारण करते हुए (एत) आगे बढो, और (आसीनाः मृत्युं नुदत) आसनादि करते हुए मृत्युको दूर करो। हम (अथ जीवासः सधस्थे विदथं आवदेम) जीवित रहकर अपने घरमें यज्ञकी बात करें ॥ ३० ॥

(इमाः नारीः सुपत्नीः अविधवाः) ये स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियाँ बनें और कभी विधवा न हों। (आञ्जनेन सर्पिषा संस्पृशन्तां) तथा अञ्जन और घृत शरीरको लगावें। तथा (अनमीवाः अनश्रवः सुरत्नाः) रोगरहित अश्रुरहित होकर उत्तम रत्नोंसे युक्त हों। ऐसी (जनयः अग्रे योनिं आरोहन्तु) स्त्रियाँ प्रथम अपने घरमें ऊँचे स्थानपर चढें ॥ ३१ ॥

(अहं एतौ हविषा व्याकरोमि) मैं इन दोनोंको हविसे विशेष उन्नत करता हूं। (ब्रह्मणा अहं विकल्पयामि) ज्ञानसे मैं इसको विशेष शक्ति सम्पन्न करता हूं। (पितृभ्यः अजरां स्वधां कृणोमि) पितरोंके लिये मैं अविनाशी अपनी धारण शक्ति बढाता हूं। (इमान् दीर्घेण आयुषा संसृजामि) इनको दीर्घ आयुसे युक्त करता हूं ॥ ३२ ॥

हे (पितरः) पितरो ! (नः यः अमृतः अग्निः) हमारी जो अमर अग्नि (मर्त्येषु हृत्सु अन्तः आविवेश) मर्त्य हृदयोंमें आवेश उत्पन्न करती है (तं देवं अहं मयि परिगृह्णामि) उस दिव्य अग्निको मैं अपनेमें धारण करता हूं। (सः अस्मान् मा द्विक्षत) वह हमसे द्वेष न करे, तथा (तं वयं मा) उससे हम द्वेष न करें ॥ ३३ ॥

भावार्थ— इस रीतिसे मृत्युका पांव अपने सिरपरसे दूर करते हुए अपनी आयुको अतिदीर्घ बनाकर आसन प्राणायामादि द्वारा मृत्युको दूर करके और दीर्घ जीवन प्राप्त करके उत्तम स्थानमें विराजकर अपना जीवन यज्ञरूप बनाओ ॥ ३० ॥

स्त्रियां उत्तम धर्मपत्नियां बनें, ये कभी विधवा न बनें। वे सौभाग्ययुक्त होकर अपने शरीरको अञ्जन आदिके द्वारा सुशोभित करें। नीरोग बनें, शोकरहित होकर अश्रुरहित रहें और उत्तम आभूषणोंसे सुशोभित रहें। अपने घरमें ये स्त्रियां सुपूजित होती हुई महत्वका स्थान प्राप्त करें ॥ ३१ ॥

हवन द्वारा मृत और जीवितोंको अर्थात् दोनोंको लाभ पहुंचता है। ज्ञानसे ही इसकी विशेष कल्पना हो सकती है। हवनसे मृतोंको स्वत्वधारक बल प्राप्त होता है और जीवितोंको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यह अमरधर्मयुक्त अग्नि मनुष्योंका हितकर्ता होनेसे सबको प्रिय है। इसको मनुष्य प्रज्वलित करें और उसकी सहायतासे उन्नति प्राप्त करें ॥ ३३ ॥

अपावृत्य गार्हपत्यात्क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥ ३४ ॥
द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या । अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥
यत्कृषते यद्वनुते यच्च वस्नेन विन्दते । सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥ ३६ ॥
अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे । छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद्यं क्रव्यादनुवर्तते ॥ ३७ ॥
मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्ति मर्त्यो नीत्य । क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति ॥ ३८ ॥

अर्थ— (गार्हपत्यात् अपावृत्य दक्षिणा क्रव्यादा प्रेत) गार्हपत्य अग्निसे हटकर दक्षिणकी ओर प्रेतमांसभक्षक अग्निके प्रति चलो । और (पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मभ्यः प्रियं कृणुत) पितरोंके लिये, अपने लिये तथा ब्राह्मणोंके लिये प्रिय करो ॥ ३४ ॥

(यः अनिराहितः क्रव्यात् अग्निः) जो न बुझायी गई प्रेतमांसभक्षक अग्नि होती है, वह अग्नि (ज्येष्ठस्य पुत्रस्य द्विभागं धनं आदाय) बडे भाईको धनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी (अवर्त्या प्रक्षिणाति) दारिद्र्यसे उसकी क्षीणता करती है ॥ ३५ ॥

(क्रव्यात् अनिराहितः चेत्) प्रेतमांसभक्षक अग्नि यदि न बुझायी जाय, तो वह (मर्त्यस्य तत् सर्वं न अस्ति) मर्त्यका वह सब नष्ट करती है कि जो (यत् कृषते) जो खेतीसे मिलता है, (यत् वनुते) जो अपने संविभागसे प्राप्त होता है और (यत् च वस्नेन विन्दते) जो कारीगरीसे मिलता है ॥ ३६ ॥

वह मनुष्य (अयज्ञियः हतवर्चाः भवति) अपवित्र और निस्तेज होता है, (एनेन हविः अत्तवे न) इसका दिया हुआ अन्न खाने योग्य नहीं होता, (कृष्याः गोः धनात् छिनत्ति) कृषि गौ और धनसे वह छीना जाता है, (यं क्रव्यात् अनुवर्तते) जिसके साथ शवमांसभक्षक अग्नि चलती है ॥ ३७ ॥

(यान् अन्तिकात् क्रव्यात् अग्निः) जिनको यह शवमांसदाहक अग्नि (विद्वान् अनु वितावति) जानकर पीछे पीछे पडती है, वह (मर्त्यः आर्तिं नीत्य) मनुष्य कष्टको प्राप्त होकर (गृध्यैः मुहुः प्रवदति) प्रलोभनोंके साथ वारंवार पुकारता रहता है अर्थात् रोता रहता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ— मनुष्योंको ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे अपना हित हो, ज्ञानियोंका संमान बढे और पितरोंका यश वृद्धिंगत होवे । गृहस्थधर्मसे लेकर अंत्येष्टितक मनुष्य यही करता रहे ॥ ३४ ॥

प्रेतदाहक अग्निको अच्छी तरह विधिपूर्वक शान्त न किया जाय तो पितृधनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी ज्येष्ठ पुत्रको दारिद्र्यके कष्ट भोगने पडते हैं, इसलिये अन्त्येष्टिकी अग्निको विधिपूर्वक शान्त करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कृषिसे, कारीगरीसे तथा पैत्रिक विभागसे प्राप्त हुआ धन भी नष्ट होता है, यदि अन्त्येष्टिकी अग्निकी शान्ति न की जाय ॥ ३६ ॥

अंत्येष्टिकी अग्नि सतत मनुष्यके साथ रहनेसे मनुष्य अपवित्र और निस्तेज होता है । उसका अन्न अभक्ष्य होता है, उसकी कृषि, गौवें और धन नष्ट होते हैं । इसलिये उसकी शान्ति करके मनुष्यको स्नानादिसे पवित्र बनना चाहिये ॥ ३७ ॥

जिनके घरमें अथवा जिन मनुष्योंमें यह अन्त्येष्टिकी अग्नि बार बार प्रज्ज्वलित होती है अर्थात् जिनके घरमें वारंवार मृत्यु होती है उनको बहुत कष्ट होते हैं और वे लोग वारंवार रोते पीटते हुए मरे हुओंके लाभोंका वर्णन करते हुए पुकारते रहते हैं ॥ ३८ ॥

❀

ग्राह्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः । ब्रह्मैव विद्वानेष्यो॒ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥ ३९ ॥
यद्रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम् । आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ॥ ४० ॥
ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन्प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः ।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः ॥ ४१ ॥
अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥ ४२ ॥
इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात् । व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥ ४३ ॥
अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

अर्थ— (यत् स्त्रियाः पतिः म्रियते) जब स्त्रीका पति मर जाता है, तब (गृहाः ग्राह्याः सं सृज्यन्ते) घर पीडाओंसे युक्त होते हैं। उस समय (विद्वान् ब्रह्मा एव एष्यः) ज्ञानी ब्राह्मण ही बुलाने योग्य है, (यः क्रव्यादं निरादधत्) जो शवमांसभक्षक अग्निको हटा सकता है ॥ ३९ ॥

(यत् रिप्रं शमलं) जो पाप और मलिनता तथा (यत् च दुष्कृतं चकृम) जो दुराचार हमने किया है (तस्मात् संकसुकात् अग्नेः) उस विघातक अग्निसे (आपः मा शुंभन्तु) जल मुझे पवित्र करें ॥ ४० ॥

(ताः अधरात् उदीचीः) वे नीचेसे ऊपरकी ओरसे जाती हुई (प्रजानतीः देवयानैः पथिभिः आववृत्रन्) ज्ञान प्राप्त कर देवयानके मार्गोंसे वारंवार चलती है। (वृषभस्य पर्वतस्य अधिपृष्ठे) जहां वृष्टि बहुत होती है ऐसे पर्वतके उपर (पुराणीः सरितः नवाः चरन्ति) पुरानी नदियां नवीन होकर चलती हैं ॥ ४१ ॥

हे अग्ने ! तू (अक्रव्याद् क्रव्यादं निः नुद) मांसभक्षक न बनकर मांसाहारीको दूर कर। और (देवयजनं वह) देवोंके यजन करनेवालेको पास कर ॥ ४२ ॥

(इमं क्रव्यात् आविवेश) इसके पास मांसभक्षक आ गया है। और (अयं क्रव्यादं अन्वगात्) यह मांसभक्षकके पास चला गया है। (व्याघ्रौ नानानं कृत्वा) इन क्रूर श्वापदोंको विभिन्न बनाकर (तं शिवापरं हरामि) उस अशुभको मैं दूर करता हूं ॥ ४३ ॥

(देवानां अन्तर्धिः) देवोंको अपने अंदर रखनेवाला (मनुष्याणां परिधिः) मनुष्यका संरक्षणकर्ता (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (उभयान् अन्तरा श्रितः) दोनोंके मध्यमें रहता है। ॥ ४४ ॥

भावार्थ— जब किसी स्त्रीका पति मर जाता है तब उस घरमें बडी पीडा होती है। उस समय विद्वान् ब्राह्मणको बुलाकर उस प्रेतदाहक अग्निकी शान्ति करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

जो पाप, दोष और दुराचार प्रेतदाहक अग्निके कारण होता है, उससे शुद्धि जलस्नानसे होती है ॥ ४० ॥

नदियां पर्वतोंपरसे नीचेकी ओर चलती हैं, वे गर्मीके दिनोंमें कृश होती और वृष्टिके दिनोंमें नवीन होकर चलती हैं। (इसी तरह) मनुष्य मरनेके पश्चात् दूसरा शरीर धारण करके नवीनसा बनकर विचरता है ॥ ४१ ॥

जिसमें देवोंके उद्देश्यसे हवन होता है, वह अग्नि प्रेतदाहक अग्निको दूर करे, अर्थात् घर घरमें इष्टियां हों और मनुष्य दीर्घायु हों ॥ ४२ ॥

एक अग्नि प्रेतदाहक है और दूसरी देवयाजक है। दोनोंमें भक्षक भाव है, परंतु एक शिव है और दूसरी अशिव है। मनुष्य ऐसा आचरण करे कि जिससे शुभ अग्नि सदा प्रदीप्त रहे और अशुभको प्रदीप्त करनेका कभी अवसर न आवे ॥ ४३ ॥

देवोंके अन्दर रहनेवाला मनुष्योंका रक्षणकर्ता गार्हपत्य अग्नि दोनों जन्म और मृत्युकी अग्नियोंमें रहती है ॥ ४४ ॥

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥
सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥ ४६ ॥
इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद्दुरितादवद्यात् ।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ ४७ ॥
अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद्दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥ ४८ ॥
अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत्क्षेम्यस्तिष्ठन्प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ॥ ४९ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (त्वं जीवानां आयुः प्रतिर) तू जीवोंकी आयु निर्विघ्नताके साथ पार करा तथा (ये मृताः पितॄणां लोकं अपि गच्छन्तु) जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जावें । (सुगार्हपत्यः अरातिं वितपन) उत्तम गार्हपत्य अग्नि शत्रुको ताप देवे । (उषां उषां अस्मै श्रेयसीं धेहि) प्रत्येक उषःकाल इसके लिये कल्याण धारण करे ॥ ४५ ॥

हे अग्ने ! (सर्वान् सपत्नान् सहमानः) सब शत्रुओंको परास्त करता हुआ तू (एषां रयिं ऊर्जं अस्मासु धेहि) इनका धन और बल हमारे अंदर स्थापित कर ॥ ४६ ॥

(इमं इन्द्रं वह्निं पप्रिं अन्वारभध्वं) इस ऐश्वर्ययुक्त पालकको अनुकूलतापूर्वक शुरू करो । (सः वः अवद्यात् दुरितात् निः वक्षत्) वह हमें निंदनीय पापसे छुडावे । (तेन आपतन्तं शरुं अपहत) उसके द्वारा हमला करनेवाले घातकका नाश करो । (तेन रुद्रस्य अस्तां परिपात) उसकी सहायतासे रुद्रके अस्त्रसे सब ओरसे अपने आपको सुरक्षित करो ॥ ४७ ॥

(अनड्वाहं प्लवं अन्वारभध्वं) बलवान् नौकाको तैयार करो । (सः वः अवद्यात् दुरितात् निर्वक्षत्) वह तुम्हें निंद्य पापसे बचावे । (एतां सवितुः नावं आरोहत) इस सविताकी नौकापर चढो । हम (षड्भिः उर्वीभिः अमतिं तरेम) छः बडी विशाल नौकाओंसे दुष्टबुद्धिवाले शत्रुके भयसे पार हों ॥ ४८ ॥

तू (अहोरात्रे क्षेम्यः प्रतरण) दिनरात सुख देकर दुःखसे पार करानेवाला (सुवीरः बिभ्रत् तिष्ठान् अन्वेषि) उत्तम वीरोंसे युक्त धनादिका धारण करनेवाला स्वयं स्थिर होकर अनुकूल रहता है । हे (तल्प) पलंग, हे बिछोने ! तू (सुमनसः अनातुरान् बिभ्रत्) उत्तम मनवाले नीरोग मनुष्योंको धारण करता है, ऐसा तू (ज्योक् एव पुरुषगंधिः नः एधि) सदा मनुष्योंके सुगंधसे युक्त होकर हमारे पास रह ॥ ४९ ॥

भावार्थ— अग्निमें हवन करनेसे मनुष्योंकी आयु दीर्घ होती है । इसी हवनसे मृतोंको पितृलोक प्राप्त होता है । गार्हपत्य अग्नि शत्रुको दूर करती है, और प्रतिदिन कल्याण प्राप्त कराती है ॥ ४५ ॥

अग्नि सब शत्रुओंको परास्त करे और उनके धन और अन्न हमारे पास लाकर रखे ॥ ४६ ॥

यह अग्नि धनदाता, सुखके पास पहुंचानेवाली और सब कामानाओंको पूर्ण करनेवाली है । उससे मनुष्य पापसे बचता है । इससे शत्रुका नाश करना योग्य है और उसीसे घातपातके शस्त्रास्त्रोंसे बचाव भी हो सकता है ॥ ४७ ॥

बलवती नौका तैयार करो और उससे भयानक जलाशयके पार हो जाओ । इस नौकापर चढो, ऐसी छः नौकाओंकी सहायतासे दुर्मति शत्रुका पराभव करें । (अर्थात् यज्ञरूपी नौकासे मृत्युको दूर करें) ॥ ४८ ॥

घर-घरमें पलंग रहता है, सब उसपर सोते हैं, उससे सुख प्राप्त करते हैं, वीर पुत्रोंका पालन उनपर होता है । सदा सर्वदा ऐसे पलंगोंपर उत्तम बिछोने रखकर मनुष्य सोवें और आनंद प्राप्त करें (यज्ञरूपी विश्रामदायी पलंग सब घरोंमें हो) ॥ ४९ ॥

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा । क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥ ५० ॥
येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते । ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥ ५१ ॥
प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः । क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति ॥ ५२ ॥
अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः ।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥ ५३ ॥
इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम् । तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ ५४ ॥
प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान्पन्थां वि ह्याविवेश ।
परामीषामसून्दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥ ५५ ॥

अर्थ— (ते देवेभ्यः आवृश्चन्ते) जो देवोंसे अपने आपको अलग करते हैं वे (सर्वदा पापं जीवन्ति) सदा पापका जीवन व्यतीत करते हैं। (यान् क्रव्यात् अग्निः अन्तिकात् अनुपवते) जिनका मांसभक्षक अग्नि पाससे उसी प्रकार नाश करती है (अश्वः इव नडं) जैसे घोडा घासका ॥ ५० ॥

(ये अश्रद्धाः धनकाम्याः) जो श्रद्धाहीन परंतु धनलोभी हैं (क्रव्यादा सं आसते) मांसभक्षणके लिये एकत्र बैठते हैं, (ते वै अन्येषां कुम्भीं सर्वदा पर्यादधति) वे निश्चयसे दूसरोंकी हांडीपर सदा मन रखते हैं ॥ ५१ ॥

(मनसा प्र पिपतिषति इव) वे मनसे मानो गिरना चाहते हैं, (पुनः मुहुः आवर्तते) और फिर लौटना चाहते हैं, (यान् विद्वान् क्रव्यात् अग्निः अन्तिकात् अनु वितावति) जिनको जानती हुई मांसभक्षक अग्नि पास जाकर पीछे पडती है ॥ ५२ ॥

हे (क्रव्यात्) मांसभक्षक अग्ने ! (पशूनां कृष्णा अविः ते भागधेयं) पशुओंमें काली भेड तेरा भाग्य है। तथा (सीसं चन्द्रं अपि ते आहुः) सीस और लोह भी तेरा ही कहते हैं। (पिष्टाः माषाः ते हव्यं भागधेयं) पिसा उडद तेरा हव्यभाग है। अतः तू (अरण्यान्या गव्हरं सचस्व) वनके गहरे भागमें रह ॥ ५३ ॥

हे इन्द्र ! (जरती इषीकां) अतिजीर्ण मुंजको (तिल्पिंजं दण्डनं नडं इष्ट्वा) तिलोंका पुंज, समिधा और नडकी आहुति देकर अर्थात् (तं इध्मं कृत्वा) इसको ईंधन बनाकर (यमस्य अग्निं निरादधौ) यमकी अग्निका आधान करे ॥५४॥

(प्रत्यञ्चं अर्कं प्रत्यर्पयित्वा) अस्त होनेवाले सूर्यको सत्कार समर्पण करके (पन्थां प्रविद्वान् हि वि आविवेश) सन्मार्गका जाननेवाला धर्मपथमें विशेष रीतिसे प्रविष्ट होता है। (अमीषां असून् परादिदेश) यह मृतोंके प्राणोंको परम गतिको भेजता है और (इमान् दीर्घेण आयुषा सं सृजामि) मैं इन जीवितोंको दीर्घ आयुसे संयुक्त करता हूं ॥५५॥

भावार्थ— जो अपने आपको देवोंसे अलग करते हैं वे पापमार्गसे प्रवृत्त होते हैं और उनका वैसे नाश होता है जैसे घोडा खेतका नाश करता है ॥ ५० ॥

जो श्रद्धाहीन और धनलोभी होते हैं, वे सदा दूसरोंके पकाये अन्नपर अपनी दृष्टि रखते हैं, वे दुर्गति पाते हैं और वे शवदाहक अग्निके भक्ष्य होते हैं, अर्थात् अल्पायु होते हैं ॥ ५१ ॥

जिनके पास सदा शवदाहक अग्नि रहती है अर्थात् जिनके घरमें वारंवार मृत्यु होती है, वे वारंवार दुःखी कष्टी और मलिन होते हैं। इनको उचित है कि वे प्रयत्न करके अपना बचाव करनेका उपाय करें ॥ ५२ ॥

पिसे उडदका हव्य बनाकर उसका हवन अग्निमें किया जावे। काली भेडका दूध या घृतका हवन किया जावे। इस तरहकी शवदाहक अग्नि मनुष्य स्थानसे दूर वनमें प्रदीप्तकी जावे। अर्थात् प्रेतका दहन नगरसे दूर हो ॥ ५३ ॥

इस शवदाहक अग्निमें जीर्ण इषिका, तिलकी पुञ्ज, समिधा और सरकंडेकी आहुतियां दी जावें। इस साधनसे इस समयकी अग्निका आधान किया जावे ॥ ५४ ॥

सन्मार्गको जाननेवाला मनुष्य अस्तंगत सूर्यकी अर्चना करके अपने आपको धर्ममार्गके योग्य पवित्र बना सकता है। मृतोंको परम गतिकी ओर हवनद्वारा प्रेरित करके जीवित मनुष्योंको उसी हवनसे दीर्घायु करना चाहिए ॥ ५५ ॥

यक्ष्मरोगनाशन

इस द्वितीय सूक्तमें मुख्य विषय यक्ष्मरोगके दूर करनेका है। परमेश्वरकी प्रार्थनासे मुख्यतः इस रोगको दूर करनेका उत्तम उपदेश यहां है। ईश्वरप्रार्थनासें बडा भारी बल है। जो मन एकाग्र करके प्रार्थना करते हैं और अपना हृदय ईश्वरके सामने खोल देते हैं, अनन्य होकर आत्मनिवेदन करते हैं, उनको ही इस बलका अनुभव हो सकता है।

नीचेके मार्ग

पहले मंत्रका कथन यह है-जैसे बाण दूर चला जाता है, वैसे मनुष्यमें जो रोग है वह नीचेके मार्गसे शीघ्र चला जावे। अर्थात् दूर चला जावे, मनुष्यके पास न रहे। नीचेके मार्गसे (अधराङ्) जानेका तात्पर्य यह है कि सब रोगबीजोंको दूर करनेका उपाय नीचेके मार्ग खुले रखना ही है। मूत्र-मार्ग, पुरीषमार्ग (पाखाना अथवा शौच होनेका मार्ग), पसीनेका मार्ग (अर्थात् संपूर्ण रोमरंध्रोंका मार्ग), नासिका मार्ग (जिसमें श्लेष्मा द्वारा मल दूर होते हैं) ये सब मार्ग परमेश्वरने किये हैं। शरीररूपी मंदिरकी ये सब मोरियां हैं, जिनमेंसे मल बाहर निकाला जाता है।

पापाचार और दुष्ट विचार

द्वितीय मंत्रमें 'अघशंस और दुःशंस' अर्थात् पापाचारी और दुष्टविचारी ये दोनों मृत्युके दरबारतक पहुंचानेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट सूचित किया है। अतः मनुष्योंको पापसे और दुष्टविचारसे बचना चाहिए। दुष्टविचार और पापाचार ये परस्पर साथी हैं। दुष्ट विचार पहिले आता है और पश्चात् पापका आचरण होता है। इसलिये मनुष्यको बडी साव-धानताके साथ रहना और इनसे बचना चाहिये।

मनुष्य जो पतित होता है वह 'कृति और अनुकृति' के द्वारा ही होता है। मनुष्य प्रथम दूसरेके दुष्ट विचार सुनता है और उन विचारोंकी अनुकृति (अनुकरण) करता है। पहिले केवल अनुकरणकी ही इच्छा होती है, परंतु अनुकरण करते करते वैसे ही विचार करने लगता है। इसी तरह पापके आचरण पहले देखता है और फिर उसी प्रकार करनेकी चेष्टा करता है। इसमें प्रथम केवल अनुकरणकी इच्छा ही प्रबल रहती है। परंतु अभ्यास होनेपर वही इच्छा स्वभाव बन जाता है। इसलिये अनुकरण करनेके विषयमें भी बडी सावधानता धारण करनी चाहिए।

सत्पुरुषोंकी, अच्छे आचारविचारकी अनुकृति और कृति करनी चाहिए इससे मनुष्यकी उन्नति होगी। परंतु मनुष्य अच्छी बातोंका अनुकरण नहीं करता, प्रत्युत मनुष्यको बुरेका ही अनुकरण करना पसंद होता है। इसलिये वेद सावधान करता है कि देखो ऐसे बुरेका अनुकरण करोगे तो मृत्युका डर है। यदि मनुष्य इस विषयमें सावध रहेगा तो मृत्युका भय दूर होगा।

कंजूसी, दारिद्र्य और मृत्यु

मृत्यु, दरिद्रता और कंजूसी इनको दूर करनेकी सूचना तीसरे मंत्रमें है। कंजूसीसे दरिद्रता आती है और दारिद्र्यसे और मृत्युका भय होता है। ये एक दूसरेके साधक हैं। उदारता संपन्नता और अखंड जीवन यह मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। यही अखंड जीवन अमरपन है, जो सबको प्राप्त करना चाहिए।

यदि किसी स्थानपर व्याघ्रके समान सबका भक्षणकर्ता प्रेतदाहक अग्नि पहुंचती है अर्थात् यदि किसीके कुटुंबमें मृत्यु हो गई हो तो वहांसे उस मृत्युको हर प्रकारसे दूर करना चाहिये यह चतुर्थ मंत्रका उपदेश है। इस स्थानपर 'माषाज्य' विधिका उल्लेख है। माषका रस लेकर उसको घीके साथ खानेसे माषाज्य बनता है। एक दिन पूर्व माष जलमें भिगो लेवे। उसमें जल पर्याप्त डालना चाहिये, तीन चार घण्टे दूसरे दिन पकाकर उनका जल लेवे और उसमें घृत नमक आदि डालकर सेवन करे यह बलवृद्धि करनेवाला होता है। इसमें अन्यान्य पदार्थ भी डाले जा सकते हैं। यह माषाज्य पेय है। इसके सेवन करनेसे दुर्बल मनुष्य भी सबल हो सकता है। इसकी संपूर्ण विधि उत्तम वैद्योंको खोजकर निकालनी चाहिये। यह एक ऐसा विषय है कि जिससे अनेक मनुष्योंको लाभ हो सकता है। यह पेय तो बडा सस्ता, मधुर और बडा पौष्टिक है। ज्ञानी वैद्य इसका खोज करके निर्णय करें।

घरमें किसी मनुष्यकी मृत्यु होनेके पश्चात् घरमें दुःखके कारण हवन बंद रहता है। परंतु प्रेताग्निका शमन करके हवनाग्निका प्रदीपन करना चाहिये, क्योंकि यही हवनाग्नि आरोग्यवर्धन करनेवाली है। यह पंचम मंत्रका उपदेश है। अर्थात् खानेमें माषाज्य मिल जाए और हवनके लिये अग्नि प्रदीप्त की जाए, तो मृत्यु दूर हो सकती है।

षष्ठ मंत्रमें सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये हवनाग्निको घरमें स्थापित करनेका विधान है, वह प्रत्येक गृहस्थीको देखने योग्य है।

पितृयज्ञ

किसीके घरमें मृत्यु हो गयी हो तो उस प्रेतका दाह-संस्कार (पितृयज्ञाय दूरं हरामि) अर्थात् पितृयज्ञ करनेके लिये दूर स्थान नियत करना चाहिये। घरके, ग्रामके या मानवोंकी बस्तीके समीप प्रेतदाहसंस्कार करना नहीं चाहिये। क्योंकि इस दाहसे जो दुर्गंधयुक्त विषमय वायु बाहर आती है, वह जीवित मनुष्योंमें अनेक रोग उत्पन्न करती है। इसलिये सप्तम और अष्टम मंत्रमें प्रेतदाह बस्तीसे दूर करनेका आदेश दिया है।

जो प्रेतका दहन करती है उस अग्निका वैदिक नाम है 'क्रव्याद्' अर्थात् मांस खानेवाली अग्नि। दूसरी अग्नि है 'जातवेदाः' यह घरोंमें प्रदीप्त रहती है, यह हवि सब देवताओंको पहुंचाती है और हवनकर्ताको आरोग्य देती है। सब दोष दूर करके सबको आनंद देनेवाली यह अग्नि है। जो प्रेतदाहक अग्नि है वह मृतकको यमराजके आधीन करती है और हवनाग्नि देवताओंके साथ संबंध जोडती है। इस तरह इन दोनों अग्नियोंके कार्य हैं।

यही बात नवम मंत्रमें कही है। प्रेतदाहक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि ऐसी दो अग्नियां हैं। इनका ध्येय भिन्न है। प्रेतदाहक अग्नि प्रेतको जलाकर मृतको पितरोंके स्थानमें पहुंचाती है और दूसरी जो गार्हपत्य अग्नि है, वह यहांके निवासियोंको आरोग्य प्रदान करती है। इसीलिये प्रेतदाहक अग्निका कार्य सतत नहीं चलता रहना चाहिये। दैवताग्नि ही मनुष्योंके घरोंमें प्रतिदिन प्रदीप्त होनी चाहिये। नवम मंत्रका भी यही भाव है।

इसी आशयको दशम मंत्रमें प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि पुनः पुनः यहां न आवे। वह पितृलोकमें प्रदीप्त होती रहे। मनुष्योंके स्थानमें तो यही जातवेद अग्नि ही प्रदीप्त होनी चाहिये। जातवेद अग्निका मार्ग देवयान है और प्रेतदाहक अग्निका मार्ग पितृयान है।

हवन-अग्नि

ग्यारहवें मंत्रमें कहा है कि शुद्ध, पवित्र और निर्मल होकर इस हवनाग्निको लोग प्रदीप्त करते हैं। इस हवनसे सब दोष दूर होते हैं और यह हवनाग्नि सब प्रकारकी पवित्रता करती है, लोगोंको आरोग्य और दीर्घायु देती है। वैदिक धर्मियोंके घरकी यह अग्नि एक महत्वका स्थान रखती है। इसीको केन्द्र बनाकर वैदिक धर्मियोंके सब संस्कार होते हैं।

बारहवें मंत्रमें कहा है कि यह हवनाग्नि (एनसः मुच्यमानः) पापसे छुडाती है, दोषको दूर करती है, (अशस्त्याः अमोक्) अप्रशस्त अवस्थाको हटाती है और सब प्रकारकी (आरुहत्) उन्नति करती है। तेरहवें मंत्रमें कहा है कि इसी अग्निमें हम (अस्मिन् अग्नौ रिपाणि मृज्महे) संपूर्ण दोषोंका हवन करते हैं। अर्थात् हमारे संपूर्ण दोष, इस अग्निमें हवन सामग्रीके डालनेसे दूर भाग जांयगे। और हम (शुद्धाः पूताः) बाहरसे शुद्ध और अन्दरसे पवित्र बनेंगे जिसका परिणाम (प्र ण आयूंषि तारिषत्) हमारी आयुकी वृद्धि होगी, क्योंकि दोषोंके रहनेसे ही शीघ्र मृत्यु होती है और पवित्रता होनेसे मृत्यु दूर होती है।

चौदहवें मंत्रमें कहा है कि यही हवनाग्नि यक्ष्मबीजोंको दूरसे दूरतक ले जाती है अर्थात् हवनकर्ताके घरमें रोगबीज नहीं रहते इसलिये उनको नीरोगता और दीर्घायु प्राप्त होती है। इस तरह घोडे, गौवें, बालबच्चे, भेडबकरियाँ आदिमें जो रोगबीज और मृत्युका भय रहता है वह सब इस हवनाग्निके द्वारा दूर किया जा सकता है। यह आशय पंद्रहवें और सोलहवें मंत्रका है।

सत्रहवें मंत्रमें भी यह विषय पुनः अन्य रीतिसे आया है। जिस अग्निमें (घृतस्तावः मृष्ट्वा) घृतकी शुद्धिकारक आहुतियां डाली जाती हैं; उसी हवनाग्निकी सहायतासे (रुह) उन्नति प्राप्त करना संभव है। अठारहवें मंत्रमें कहा है कि जहां ऐसा हवन होता है, वही स्वर्गलोक है। मनुष्य हवनसे ही इस भूमिको स्वर्गधाम बना सकता है।

सूर्यप्रकाशका महत्त्व।

आरोग्यकी दृष्टिसे सूर्यप्रकाशका अत्यंत महत्त्व है। सूर्यप्रकाशसे ही संपूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये वेदमें (ज्योक् च सूर्यं दृशे) निरंतर सूर्यदर्शन होता रहे, ऐसी प्रार्थनाएं आती हैं। सूर्यदर्शन करना ही मनुष्यके लिए आह्लादका स्थान है। प्रत्यक्ष सूर्यदर्शन करनेसे आंखोंके रोग दूर होते हैं, युक्तिसे सूर्यदर्शनका अभ्यास बढानेसे ऐनक लगानेकी भी आवश्यकता नहीं रहती। सूर्यातपस्नानसे संपूर्ण शरीरका तेज बढता है, आरोग्य बढता है और रक्तसंचार यथायोग्य होकर बहुतसे रोग दूर होते हैं। सूर्यप्रकाश ही आरोग्यदाता है।

शुद्धिका उपाय

मंत्र १९ और २० वें कुछ शुद्धिका उपाय कहा है। परंतु (शुद्धाः यज्ञियाः भवत) शुद्ध और पवित्र बनो

इतने संकेतसे ये मंत्र शुद्धिके विषयमें आदेश दे रहे हैं ऐसा पता लगता है, परंतु जो शुद्धिके साधन इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे क्या हैं और उनका उपयोग कैसे करना चाहिये यह बात अनेकबार विचार करनेपर भी अबतक हमारी समझमें नहीं आयी है। इन मंत्रोंमें जो शुद्धिके साधन कहे हैं वे (सीस) सीसा, (नड) नल, (संकसुक) हवनीय अग्नि, (रामा=असिक्नी अवी) काली भेड, (उपबर्हण) सिरहाना ये हैं। इनमें हवनाग्निसे शुद्धता होनेका कुछ ज्ञान हमें है। परंतु अन्य साधनोंके विषयमें हमें इस समयतक कोई पता नहीं लगा। मनुष्यके नीरोग और दीर्घजीवी होनेके लिये इन शुद्धियोंकी आवश्यकता है, अतः इस विषयका महत्त्व बहुत है। इन शब्दोंके ये ही अर्थ हैं अथवा दूसरे कुछ अर्थ हैं, इसकी भी खोज होनी चाहिये।

१ अवि— अवि शब्दका अर्थ 'कुलित्थ,' कुलथी है। यह चक्षुष्य अर्थात् नेत्रके दोष दूर करनेवाली वनस्पति है, ऐसा रत्नमाला नामक वैद्यक ग्रंथमें कहा है।

२ (नड)— नल, देवनल यह एक प्रकारकी बडी घास है। इसके गुण वैद्यग्रंथमें ये दिये हैं– (रुचिकरः) मुखकी रुचि बढानेवाला, (मधुरः) मीठा, (रक्तपित्तघ्नः) रक्तदोष दूर करनेवाला, (दीपनः) क्षुधा प्रदीप्त करनेवाला, (बलदः) शक्ति देनेवाला, (वृष्यः) वीर्य बढानेवाला, (वीर्याधिकः) वीर्य अधिक करनेवाला। (देखो राजनिघण्टु व. ८)

३ सीस— सीस, सीसा, शीशा, सीषक। यह (मेहनाशनं) मेह रोगका नाश करनेवाला, (नागशततुल्यबलं दधाति) सौ हाथियोंके समान शक्ति देता है, (व्याधिं नाशयति) रोग दूर करता है, (जीवितं आतनोति) दीर्घजीवी बना देता है। (वह्निं प्रदीपयति) क्षुधा प्रदीप्त करता है, (कामबलं करोति) कामका बल बढाता है, (मृत्युं च नाशयति) मृत्युको दूर करता है, (वेदनाहरः) पीडा हरता है, (रक्तरोधकः) रक्त–स्राव बंद करता है। कुष्ठ, गुल्म, पाण्डु, प्रमेह, अग्निमांद्य, सूजन, भगन्दर आदि रोगोंको दूर करता है॥ (भाव० पू० १ म० धा० व० देखो)

४ रामा— एक औषधी है जिसके गुण राजनिघण्टु व. ४, १०, १२ और १३ में दिये हैं।

५ असिक्नी— एक औषधि है जो नेत्रको लाभदायी है।

६ शीर्ष (शीर्षक्ति)— अगुरुवृक्ष, जिसके जलानेसे वायुशुद्धि होती है।

इन मंत्रोंमें आये शुद्धिसाधनोंके ये वैद्यशास्त्रोक्त अर्थ हैं। इनका उपयोग कैसे करना और इनसे शुद्धि किस रीतिसे करनी चाहिये इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्य ही कर सकते हैं।

इक्कीसवें मंत्रमें प्रार्थना है कि इस तरह मृत्यु दूर होते और अपने घरके बालबच्चे हृष्टपुष्ट, आनंदित और उत्साही हों, अर्थात् कोई न मरे। यह उपदेश (चक्षुष्मते शृण्वते) देखने और सुननेवालेके लिये कहा है। अर्थात् जो विचारसे देखता है और सुनकर समझता है उसीके लिये यह सब कहा है। जो देखेंगे नहीं और सुनेंगे नहीं उनके लिये कहनेसे क्या लाभ होगा?

नृत्य और हास्य

बाईसवें मंत्रमें कहा है कि ये जो हमलोग यहां जीवित हैं उनके चारों ओर (मृतैः आववृत्रन्) मृत जीव हैं, अर्थात् ये इस अंतरालमें भ्रमण करते हैं। वे हमारे चारों ओर आते होंगे, परंतु उनका स्थूल देह नष्ट हो जानेसे वे हमें दिखाई नहीं देते। वे तो मृत हो चुके हैं। जो जीवित हैं उनके (नृतये हसाय) नाचने और हंसनेके लिये अर्थात् उनकी आनन्दप्रसन्नताके लिये ही यत्न करना चाहिये।

मनुष्यके आरोग्यके लिये नृत्य और हास्यकी अत्यंत आवश्यकता है। हास्यसे मनकी प्रसन्नता रहती है और शरीरके पुट्ठोंमें उत्साह बढता है। नाच एक बडा उत्तम व्यायाम है और आनंदके साथ किया जाता है। आर्योंको नाच सीखना चाहिये और उससे बडा लाभ प्राप्त करना चाहिये। आजकल नाचको बुरा मानते हैं, परंतु नाच कोई बुरी चीज नहीं है, नाच करनेवालोंमें कई लोग बुरे होंगे। परंतु नाच आरोग्यवर्धक होनेसे बडा लाभकारी है।

(सुवीरासः विदथं आवदेम) हम उत्तम वीर बनें और शत्रुको दूर करनेका ही विचार करें। इस तरह जो जिस क्षेत्रका शत्रु हो उसको दूर करना चाहिये। ऐसे सब शत्रु दूर हो जाएं तो पूर्ण आरोग्य, उत्तम स्वास्थ्य, अतुल आनंद और पूर्ण सुख प्राप्त होगा। यही मनुष्यका साध्य है। जबतक किसी स्थानपर शत्रु रहेगा तबतक किसी प्रकार सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये शत्रुके साथ ऐसा बर्ताव करना चाहिये कि वह दूर हो और उससे हम स्वतंत्र रहें। यही (भद्रा देवहूतिः) कल्याणकारक प्रार्थना हम करते हैं। अर्थात् हरएक मनुष्यको उचित है कि वह इस कल्याणमयी प्रार्थनाको करे और अपना कल्याण प्राप्त करे।

मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा

तेईसवें मंत्रमें कहा है कि मनुष्योंकी (जीवेभ्यः परिधिः) आयुष्यकी मर्यादा, जीवोंकी आयुष्यमर्यादा, प्रत्येक योनिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंकी आयुष्यमर्यादा निश्चित है। मनुष्योंकी आयुष्यमर्यादा (शतं शरदः) सौ वर्षकी है। यह निश्चित मर्यादा है अर्थात् सुनियमोंके पालनसे यह बढ सकती है और अनियमोंके अवलंबन करनेसे घट भी सकती है। यह मनुष्यके आधीन है मनुष्य चाहे योगादि साधनोंके अनुष्ठानसे अपनी आयुष्यमर्यादा बढा सकता है अथवा व्यभिचारादि द्वारा घटा भी सकता है। इस तरह दोनों बातें संभव हैं, इसलिये मंत्रमें उपदेश है (मृत्युं अन्तर्दधतां) " मृत्युको अन्तर्हित करो, अर्थात् मृत्युको बाहर आनेका अवसर न दो, वह छिपा पडा रहे, वह उठकर किसीकी अपने वशमें न कर सके। तुम ऐसा व्यवहार करो कि जिससे वह मृत्यु दूर हो जावे। "

चौबीसवें मंत्रमें कहा है कि वृद्धावस्थाको स्वीकार करते हुए दीर्घायु (आरोहत आयुः) धारण करो। अर्थात् अल्प आयुमें न मरो। ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करते हुए मृत्युको दूर करो। (यतमानाः यति स्थ) दीर्घायु प्राप्तिका यत्न करते हुए अपने सुनियमोंमें रहो। उन धर्मनियमोंका उल्लंघन न करो। ऐसा करोगे तो (जीवनाय सर्वं आयुः नयतु) दीर्घजीवनके लिये पूर्ण आयुतक जानेकी संभावना होगी।

यहां दीर्घजीवनके पहिले नियमको ' सुजनिमा ' शब्द द्वारा प्रकट किया है। सुजनिशास्त्र (युजेनिक्स) का यथायोग्य पालन होना चाहिये। जननशास्त्रके नियम जानकर और उनका यथायोग्य पालन करके संतान उत्पन्न करनी चाहिये। मातापिता वैषयिक अत्याचारसे अपने आपको बचावें। सुसंतान निर्माण द्वारा राष्ट्रका यश वृद्धिंगत करना अपना कर्तव्य है, यही मनमें धारण करें और सुप्रजा–जनन करें। दूसरा नियम ' सजोषाः ' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है। प्रीतिके साथ, उत्साहके साथ, एक जीवनके भावके साथ स्त्रीपुरुषका संबंध होना चाहिये। इसी तरह राष्ट्रमें सबका जीवन एक हो और सब लोग उत्साहके साथ अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार करते रहें। यह परस्पर व्यवहारका उपदेश है। तीसरा नियम ' त्वष्टा ' शब्द द्वारा बताया है। त्वष्टाका अर्थ है कारीगर, कुशल कर्म करनेवाला, कर्ममें कुशल। मनुष्य जो दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहता है, वह किसी कारीगरीमें निपुण होवे। क्योंकि कारीगरीसे मनकी तल्लीनता प्राप्त होती है और इसी कारण जागतिक दुःखोंसे मुक्तता होती है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको किस तरह बर्ताव करना चाहिये, इसका निर्देश इन तीन शब्दों द्वारा इस मंत्रने यहां दिया है।

पच्चीसवें मंत्रमें बताया है कि यथाक्रम मनुष्यको मृत्यु प्राप्त हो अर्थात् वृद्ध मनुष्य पहिले मरें, उनसे पीछे आयुके क्रमसे मनुष्य मरें। वृद्धोंके पूर्व तरुण अथवा बालक न मरें। सब लोगोंका यथायोग्य जनन, पालन और पोषण होता रहेगा तो अकालमृत्यु दूर होगी और यथाक्रम मृत्यु होगी।

नदीका प्रचंड वेग

आगेके (२६ और २७ इन) दो मंत्रोंमें संसाररूपी प्रचंड वेगवाली महानदीका उत्तम काव्यमय वर्णन है। ये मंत्र सबको ध्यानमें धारण करने चाहिये। इस प्रचंड वेगवती नदीसे ही हम सबको पार होना है। यह (अश्मन्वती) पत्थरोंवाली भयानक नदी है। इसमें स्थानस्थानपर पत्थर हैं, अतः मार्ग अच्छी प्रकार नहीं मिलता। इसपर चलनेसे पत्थरोंसे ठोकर लगती है। और गढेमें पडनेकी संभावना रहती है। यह नदी (स्यंदते रीयते) बडे प्रचंड वेगसे चल रही है, इस वेगके कारण पार होनेवालेका पांव किसी स्थानपर नहीं ठहरता। यहां बडा भय है। इससे पार हुए बिना कार्य नहीं चलेगा। पार तो होना ही चाहिये। अतः हरएकको पार होनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

कैसे पार हो सकते हैं ? क्या अकेला अकेला मनुष्य इस नदीसे पार हो सकता है ? कभी नहीं ? इस नदीसे पार होनेके लिये कहा है कि (उत्तिष्ठत, संरभध्वं) उठो ! अपनी अपनी चीजोंको संभालो, अपने जीवनको संभालो। असावधानतासे ही सर्वस्वनाश होगा, ध्यान रखो। समय बडा ही कठिन है, सबको बडी सावधानी धारण करके तैयार होना चाहिए। (वीरयध्वं प्रतरत) वीरता धारण करो, डरनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। डरोगे तो भी मरना है और न डरोगे तो भी मरोगे, परंतु संभलकर मिलकर युक्तिसे उपाय करोगे तो ही पार हो सकते हो। यहां रहकर रोतेपीटते जाओगे तो कोई लाभ नहीं होगा। रोना पीटना डरना छोड दो, (प्रतरत) तैरनेका यत्न करो, मिलकर तैरनेका यत्न बडी सावधानीसे करो, तभी कुछ बन सकता है। नहीं तो कोई दूसरा उपाय नहीं है।

परंतु तुम्हारे पास व्यर्थकी चीजोंका भार बहुत है। यह सब भार अपने पास रखोगे तो निश्चयसे बीचमें ही डूब

मरोगे। ये व्यर्थकी चीजें तुमने अपने पास क्यों रखी हैं? (अत्र जहीत ये असन् दुरेवा अशिवाः) अतः इनमेंसे जो चीजें अनावश्यक हैं, व्यर्थ हैं, जिनका कोई उपयोग नहीं हैं, उनको यहीं फेंक दो। इतना भार नदीके बीचमें संभाला नहीं जायगा। अतः ये अनावश्यक पदार्थ आप यहीं छोड दीजिये। इससे अपने पासका बोझा कम होगा और हम आनंदसे पार हो सकेंगे। अतः अनावश्यक पदार्थोंका लोभ छोड दो।

यदि हम (उत्तरेम) नदी पार हो जांयगे तो उस परले तीरपर बडा क्षेत्र है, वहां जो जो आवश्यक वस्तुएं होंगी, ले लेंगे। उसकी चिन्ता यहां करनेकी क्या आवश्यकता नहीं है। वहां उतरनेपर (अनमीवान् शिवान् स्योनान् वाजान् अभि) नीरोग, शुभ, सुखदायी भोग अवश्य प्राप्त करेंगे। परंतु इन अनावश्यक पदार्थोंका भार सिरपर रखोगे तो परले तीरपर पहुंचना असंभवनीय है।

यहां काव्यमयी भाषासे बडा मनोहर उपदेश दिया है। हरएक स्थानपर कष्टका समग्र दूर करनेके लिये यही उपदेश अत्यंत उपयोगी है।

सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु

अट्ठाईसवें मंत्रमें (शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम) सौ वर्षतक सब बालबच्चोंके समेत हम आनंदसे रहें, ऐसा कहा है। कैसे सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कर सकेंगे? अपमृत्युको किस तरह दूर कर सकेंगे? इसका उत्तर यह है कि (दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः) पापोंके स्थानोंका अतिक्रमण करनेसे यह सब हो सकेगा। पापके स्थान अनेक हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकेगी। परंतु जो पापका स्थान हो, वहां नहीं जाना, उस कार्यमें भाग नहीं लेना और पापमार्गपर पांव नहीं रखना यही एक उपाय है कि जिससे निश्चयसे दीर्घायु प्राप्त हो सकेगी।

पापके मार्गसे न जानेसे ही (शुद्धाः शुचयः पावकाः) शुद्ध पुनीत और पवित्र होना संभव है। शुद्ध और पवित्र होनेसे ही दीर्घायु संभव है। इसकी साधनाके लिये (वर्चसे वैश्वदेवीं आरभध्वं) सब देवताओंको अपने अन्दर धारण करना चाहिये और इनकी प्रार्थना करनी चाहिये। सब देवता तो अपने शरीरमें हैं ही उनको जानकर उनका यथायोग्य स्वागत करना चाहिये। सब देवताओंका निवास वेदमंत्रोंमें भी है, उस दैवी वाणीको धारण करनेसे मनुष्य पवित्र और शुद्ध हो सकता है।

*

यदि उन्नति करनेकी इच्छा है तो २९ वें मंत्रमें कहा है उसके अनुसार (अवरान् अतिक्रामन्तः) नीचे मार्गोंका अतिक्रमण करना चाहिये। कभी नीचमार्गसे एक भी कदम आगे बढाना नहीं चाहिये, यहां बडा दृढनिश्चय लगता है, क्योंकि नीच मार्गसे गिरना बडा आसान है। ऊंचे मार्गपर चढना ही प्रयाससे साध्य होनेवाली बात है। (उदीचीनैः पथिभिः) उच्च स्थानके मार्गोंसे जाना चाहिये, तभी उन्नति होगी। (ऋषयः परेतः) इसी तरह अपनी उन्नति करते हुए ऋषिलोग उच्च धामको पहुंच सके हैं। उन्होंने बडे बडे यत्न करके तीन तीन बार और सात सात बार तप (त्रिः सप्तकृत्वः) करके अपनी उन्नति की है। इसी साधनासे (मृत्युं प्रत्यौहन्) वे मृत्युको दूर करनेमें समर्थ हुए। यही मार्ग दीर्घजीवन प्राप्त करनेका है।

(मृत्योः पदं योपयन्तः) अपने सिरपर जो मृत्युका पांव है, उसको अपने प्रयत्नसे दूर करो। तुम प्रयत्न करोगे तो वह पांव दूर हो सकता है। तुमने प्रयत्न न किया तो उस पांवके नीचे तुम्हारा सिर दब जायगा। अतः अपमृत्यु दूर करनेके लिये तुम्हें प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिये। (द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः) यह सौ वर्षकी पूर्ण आयु अधिक दीर्घ बनाकर धारण करो। पहिले तुम्हारी सौ वर्षकी आयु है, यह तो स्वाभाविक मर्यादा है। इस मूल धनकी वृद्धि करना तुम्हारे आधीन है, तुम्हारे प्रयत्नसे ही इस आयुरूपी धनकी वृद्धि हो सकती है। (आसीनाः मृत्युं नुदतः) आसनादि योगसाधन तत्परताके साथ करते हुए तुम सब अपमृत्युको दूर करो। यम नियम आसन प्राणायाम आदि योगसाधन करनेसे शरीरस्वास्थ्य उत्तम प्राप्त होता है, ध्यान धारणासे उत्तम मानसिक स्वास्थ्य मिलता है, इस तरह मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेसे मनुष्यकी आयु बढती है। मनुष्य इस तरह जीवित रह कर ही (विदथं आवेदम) ज्ञानको फैलानेका विचार कर सकते हैं।

आगे ३१ वें मन्त्रमें कहा है कि 'स्त्रियां विधवा न हों' अर्थात् उनके पति अल्प आयुमें न मरें। स्त्रियां सौभाग्यसे युक्त हों और (अञ्जनेन) आंखमें काजल-अञ्जन लगाकर, तेल आदि सिरमें मलकर आभूषण धारण करके सुन्दर रहें। ये घरके भूषण हैं। ये देवियां हैं, अतः इनकी पूजा घरघरमें होती रहे। स्त्रियां किसी भी घरमें न (अन्-अश्रवः) रोवें वे आनन्दप्रसन्न रहें तथा वे (अन् अमीवाः) नीरोग रहें और (सु-रत्नाः) उत्तम रत्नोंके आभूषण धारण करके

अपना सौंदर्य बढाती रहें। अर्थात् घरमें स्त्रियोंको उदास नहीं रहना चाहिए। ऐसी स्त्रियाँ पतिके साथ आनन्दप्रसन्नता-पूर्वक गृहस्थधर्मका पालन करें।

घरमें रहनेवाले सभी लोग हवन करते रहें। प्रतिदिन आनन्दप्रसन्न होकर हवन करें। इस हवनसे पितरोंको स्वधा-शक्ति मिलेगी और जीवित मनुष्योंको दीर्घायु प्राप्त होगी। (मंत्र ३२)

३३ वें मन्त्रमें इतना ही कहा है कि हवनाग्निके साथ कोई द्वेषभाव अथवा विरुद्धभाव न रखे। सब लोग आदरके साथ हवन करें। ३४ से ३६ तकके तीन मन्त्रोंमें कहा है कि प्रेत-दाहक अग्नि सतत जलती न रहे, इसके लिये यत्न करना चाहिये। अर्थात् मनुष्योंको अपनी दीर्घायुके लिये यत्न करना चाहिये। हरएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह (पितृभ्यः) पितरोंके लिये अपने (ब्रह्मभ्यः) ज्ञानी विद्वानोंके लिये और (आत्मने) अपने लिये जो हितकारक हो, वही करे। इनका अहित कभी न करे।

आगेके ३ मन्त्रोंमें भी वही क्रव्याद अग्निकी ही बात कही है। जिनके घरमें मृत्यु होती है, वे घर (अ-यज्ञियाः) अपवित्र होते हैं, (हतवर्चाः) निस्तेज होते हैं, शोभारहित होते हैं। कृषि, गौ और धनसे हीन होते हैं। (ग्राह्याः गृहाः) वे घर पीडासे युक्त होते हैं। सब लोग क्लेशसे युक्त होते हैं। वहां कोई भी मनुष्य आनन्दप्रसन्न नहीं रहता है, जहां पुरुषकी मृत्यु होती है, वहां स्त्री विधवा होती है और वह घर सुखदायक नहीं रहता है। इसीलिये हरएकको दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। ३१ वें मंत्रका विचार इन मन्त्रोंके साथ करनेसे प्रतीत होता है कि विधवा स्त्रियां न अञ्जन आंखमें डालती हैं, न माथेपर तेल मलती हैं, न अच्छे कपडे पहनती हैं, न जेवर पहनती हैं, वे तो सदा रोती रहती हैं, आंसू बहाती हैं और दुःखके कारण कृश होती हैं और रोगी भी होती हैं।

आगे ४० वें मन्त्रमें कहा है कि जो (रिप्रं) पाप और (शमलं) दोष मनुष्य करता है, जो (दुष्कृतं) कुकर्म मनुष्य करता है, उसकी शुद्धि जलसे होगी। जलप्रयोग शुद्धता करनेवाला है। सब रोगबीज जलके प्रयोगसे दूर होते हैं; शरीर निर्मल होनेसे दीर्घजीवी होता है। ४१ वें मन्त्रमें पर्वतशिखरपर (पर्वतस्य अधिपृष्ठे) वास करनेसे बडा लाभ होता है ऐसा कहा है। पर्वतके शिखरपर वायु शुद्ध होती है और उसके सेवनसे मनुष्य नीरोग हो जाता है। यह अनुभवकी बात है। यहां 'पर्वत' को 'वृषभ' कहा है, यहां वृषभका अर्थ बल बढानेवाला है। पर्वतशिखरपर शुद्ध वायु बल बढानेवाली ही होती है। वायु ही प्राणका रूप धारण करके मनुष्योंमें जीवनशक्ति बढाती है। यहां पर्वतसे (नवाः सरितः) नूतन झरने चलते हैं, उनका जल भी आरोग्यवर्धक होता है। व्यायाम, शुद्ध वायु, उत्तम जल और परिशुद्ध वायुमंडल इतनी बातें पर्वत शिखरपर होती हैं, इस-लिए पर्वतशिखर दीर्घायु देनेवाला होता है।

मंत्र ४२ और ४३ में क्रव्याद् अग्निको रखनेका ही विधान है। क्रव्याद् अग्निको दूर करनेका ही अर्थ मृत्युको दूर करना है। आगेके तीन मंत्रोंमें मुख्यतया यह कहा है कि गृहस्थी लोग घर घरमें अग्नि प्रदीप्त करके हवन करें। इस हवनसे मनुष्योंको दीर्घ आयु प्राप्त हो। जो मर चुके हैं वे पितृलोक में चले जावें और जो जीवित हैं उनको कल्याण धन और यश प्राप्त हो और वे दीर्घजीवी बनें। सब शत्रु दूर हो जांय और जनताको सुख और शान्ति मिले।

आगेके ४६ से ४९ तकके मंत्रोंमें कहा है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें हवनाग्नि प्रदीप्त करें। यह अग्नि उनको शुभ अवस्थाको प्राप्त करा देगी। गृहस्थी लोग यज्ञरूप नौकाके द्वारा अपने दुःख दूर करें, सूर्य प्रकाशसे लाभ उठावें अपने रोग और व्याधि दूर करें और नीरोगता प्राप्त करके आनन्दके साथ दीर्घायुका आनंद भोगें।

जो लोग पापमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अप-मृत्युके दुःख भोगते हैं। अतः मनुष्योंको उचित है कि वे पाप न करें और सदा पुण्यमार्गमें ही दत्तचित्त रहें। यह आशय ५० वें मंत्रका है। इक्यावनवें मंत्रमें कहा है कि जो श्रद्धाहीन, धनलोभी, मांसभक्षी लोग हैं और जो दूसरोंके सिरपर चढकर उनको खाते हैं, या लूटते या उनको दुःख देते हैं, वे सदा पापभागी होते हैं। उनके पाप अनगिनत होते हैं और उस कारण उनके दुःख भी बहुत ही होते हैं। अतः मनुष्य पापसे बचे रहें जिससे वे सुखी हो सकते हैं। बावनवें मंत्रमें ऐसा कहा है कि जो वारंवार पाप मार्गसे ही चलते हैं उनको दुःख भोगना ही पडता है। अतः दुःख और मृत्युसे बचनेका एक मात्र उपाय यह है कि वे पापसे बचे रहें। पापसे बचनेसे ही केवल दुःखसे और अपमृत्युसे बचना संभव है।

आगे तिरेपनवें मंत्रमें कहा है कि (कृष्णा अविः) काली भेड अथवा कुलथी (सीसं) सीसा, (चन्द्रं) लोहा, (माषा पिष्टाः) पिसे उडद यह सब भाग्यका साधन है।

वैद्य लोग इन शब्दोंका विचार करें और इनसे किस तरह भाग्य प्राप्त हो सकता है, इसकी विधि निश्चित करें। यह मंत्र बडा महत्वका है और खोज करने योग्य है। आगे ५४ वें मंत्रमें भी (इषीकां) इषिका मूंज (तिलपिंज) तिल-डंठल नड आदि शब्दों द्वारा कुछ महत्वका प्रयोग कहा है। यह भी अन्वेषणीय है। इसका विचार सुविज्ञ वैद्य करें। यह यज्ञशास्त्रका विषय है और आरोग्यके साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। अतः इसकी पद्धति सुविज्ञ वैद्यों द्वारा निश्चित होनी उचित है।

आगे ५५ वें मंत्रमें कहा है कि सूर्यदर्शन आदरपूर्वक मनुष्य करें। यह तो आरोग्यका एक साधन अपूर्वताके साथ मनुष्यके पास आया है। मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करें और लाभ उठावें। जो मनुष्य मर चुके हैं वे तो पितृलोकके मार्गके पथिक बन चुके हैं। परंतु जो जीवित हैं उनको यहां रहकर ऐसा कार्य करना चाहिये कि जिससे उनको दीर्घ आयु प्राप्त होवे।

इस तरह इस सूक्तमें केवल प्रार्थनाएं ही हैं, परंतु उनमें भी बडा बोधप्रद उपदेश दिया है!

यक्ष्म-चिकित्सा

कां. ६, सू. ८५

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- वनस्पतिः ।)

व॒र॒णो वा॑रयाता अ॒यं दे॒वो वन॒स्पतिः॑ । यक्ष्मो॒ यो अ॒स्मिन्नावि॑ष्ट॒स्तमु॑ दे॒वा अ॑वीवरन् ॥ १ ॥
इन्द्र॑स्य॒ वच॑सा व॒यं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य च । दे॒वाना॒ं सर्वे॑षां वा॒चा यक्ष्मं॑ ते वारयामहे ॥ २ ॥
यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः । ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं देवः वरणः वनस्पतिः) यह दिव्य वरण नामक औषधि (वारयातै) रोगनिवारण करती है। (अस्मिन् यः यक्ष्मः आविष्टः) इसमें जो रोग घुसा हुआ था (तं उ देवाः अवीवरन्) उसका देवोंने निवारण किया ॥ १ ॥

(इन्द्रस्य, मित्रस्य वरुणस्य, वचसा) इन्द्र, मित्र, वरुण इनके वचनसे तथा (सर्वेषां देवानां वाचा) सब देवोंकी वाणीसे (ते यक्ष्मं वारयामहे) तेरा यक्ष्मरोग दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यथा वृत्रः) जैसे वृत्रने (विश्वधा यतीः आपः तस्तम्भ) चारों ओर बहनेवाले जलप्रवाहोंको रोक दिया था (एवा) उसी प्रकार (ते यक्ष्मं) तेरे रोगका (वैश्वानरेण अग्निना वारये) वैश्वानर अग्नि द्वारा निवारण करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वरण वृक्षके उपयोग करनेसे यक्ष्मरोग दूर होता है ॥ १-३ ॥

वरुण वृक्ष

वेदमें जिसका नाम ' वरण ' है उसी वृक्षको संस्कृत भाषामें ' वरुण ' कहते हैं। वरण वृक्षकी औषधिसे यक्ष्मरोग दूर होता है। इसको हिंदीमें ' बिलि ' वृक्ष कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

कटुः उष्णः रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्धः आग्नेयः विद्रधिवातघ्नश्च ॥ (रा. नि. व. ९)
वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान् ।
निहन्ति गुल्मवातास्रक्रिमींश्चोष्णोऽग्निदीपनम् ।
कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः ॥ (भा०)

' यह वरुण औषधि रक्तदोष दूर करनेवाली, सिरस्थानीय वातदोष दूर करनेवाली है, कटु उष्ण स्निग्ध तथा आग्नेय गुणयुक्त है। श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, क्रिमिदोष इन रोगोंको दूर करती है। '

इस औषधिके ये गुण हैं। इसका नाम ' आग्नेय ' ऊपर दिया है अतः तृतीय मंत्रमें—

वैश्वानरेण अग्निना यक्ष्मं वारये। (मं. ३)

कहा है। यहां अग्नि पदका अर्थ ' वरुण ' वृक्ष करना उचित है। अर्थात् इस मंत्रका अर्थ ' वरुण वृक्षके प्रयोगसे यक्ष्म रोग दूर करता हूं ' ऐसा करना चाहिये। इस औषधि प्रयोगका विचार वैद्योंको करना चाहिये।

यक्ष्म-नाशन

कां. २, सू. ३३

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यम्।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि। यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्। यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्। यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि। यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥४॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्य१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

अर्थ— (ते अक्षीभ्यां नासिकाभ्यां) तेरी आंखों और दोनों नाकोंसे (कर्णाभ्यां छुबुकात् अधि) कानों और ठोडीसे (ते मस्तिष्कात् जिह्वायाः) तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे (शीर्षण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) सिर सम्बन्धी रोगको हटाता हूँ ॥ १ ॥

(ते ग्रीवाभ्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गले और गुर्देकी नाडियोंसे (कीकसाभ्यः अनूक्यात्) पसलीकी हड्डियों और रीढसे और (ते अंसाभ्यां, ते बाहुभ्यां) तेरे कंधों और भुजाओंसे (दोषण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) दोषोंको और रोगोंको हटाता हूँ ॥ २ ॥

(ते हृदयात्, क्लोम्नः, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदय, फेफडे और पित्ताशयसे (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखोंसे (ते मतस्नाभ्यां) तेरे गुर्दोंसे (प्लीन्हः यक्नः) तिल्ली और जिगरसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोगको हटाता हूँ ॥ ३ ॥

(ते आन्त्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी आंतों और गुदासे (वनिष्ठो उदराद् अधि) मलस्थान और उदरसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कोखों, अन्दरकी थैली और नाभिसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग हटाता हूँ ॥ ४ ॥

(ते ऊरुभ्यां अष्ठीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे (पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्यां) एडियों और पैरोंसे (ते श्रोणिभ्यां) तेरे कूल्होंसे (भंससः, भसद्यं, भासदं) गुह्यस्थानसे कटिके सम्बन्धके गुह्य (यक्ष्मं वि वृहामि) रोगको मैं हटाता हूँ ॥ ५ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः । यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६॥
अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥७॥

अर्थ— (ते अस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावस्यः धमनिभ्यः) पुट्ठोंसे और नाडियोंसे (ते पाणिभ्यां अंगुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ, अंगुलि और नाखूनोंसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोगको हटाता हूँ ॥ ६ ॥

(यः ते) जो तेरे (अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग, प्रत्येक लोम और प्रत्येक जोडमें (ते त्वचस्यं विष्वंचं यक्ष्म) तेरी त्वचासम्बन्धी फैलनेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य विबर्हेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटा देते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— आंख, नाक, कान, बाहू आदि स्थूल शरीरके बडे अवयवोंसे, हृदय, प्लीहा, यकृत् आदि आन्तरिक अवयवोंसे हड्डी, मज्जा आदि धातुओंसे अथवा जहां जहां रोग हो, वहांसे उसे कश्यपकी विद्यासे हम उन रोग जन्तुओंको दूर करते हैं ॥ १-७ ॥

सूक्त अस्पष्ट होनेसे इसके विषयमें कुछ लिखना अशक्य है ।

कफक्षयकी चिकित्सा

कां. ६, सू. १२७

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवताः- यक्ष्मनाशनं, वनस्पतिः ।)

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते । विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥१॥
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ । वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥२॥

अर्थ— हे (वनस्पते) औषध ! (बलासस्य विद्रधस्य) कफक्षय, फोडे फुन्सी, (लोहितस्य विसल्पकस्य) रुधिर गिरना और विसर्प अर्थात् त्वचाके विकारका (पिशितं मा चन उच्छिषः) मांस बिलकुल शेष न रहे ॥ १ ॥

(बलास) कफरोग ! (ते यौ मुष्कौ कक्षे अपाश्रितौ) तुझसे बनी जो दो गिल्टियां, कांखमें उठी हैं । (तस्य भेषजं अहं वेद) उसकी औषध मैं जानता हूं । उसका (अभि चक्षणं चीपुद्रुः) उपाय चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

भावार्थ— खांसी, कफक्षय, फोडे, फुन्सी और त्वचापर बढनेवाला विसर्प रोग, खांसीसे रक्त गिरना, और मांसमें दोष उत्पन्न होना, यह सब इस चीपुद्रु नामक औषधीसे दूर होता है ॥ १ ॥

जिस रोगसे गिल्टियां बढती हैं, उसका भी औषध यही चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः । वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥ ३ ॥

अर्थ—(यः अंग्यः) जो अंगोंमें, (यः कर्ण्यः) जो कर्णमें, (यः अक्ष्योः) जो आंखोंमें, (यः विसल्पकः) विसर्प रोग है, (विसल्पकं विद्रधं हृदयामयं) उस विसर्प, फोडे और हृदयरोगको (विवृहामः) नष्ट करते हैं । (तं अज्ञातं यक्ष्मं) उस अज्ञात यक्ष्म रोगको (अधराञ्चं परा सुवामसि) नीचेकी गतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो अंगोंके, कानोंके, आंखोंके, हृदयके, रक्तके अथवा मांसके रोग होते हैं, जो विसर्प रोग है और फोडे फुंन्सीका रोग है, अथवा इस प्रकारका जो अज्ञात रोग है, उसको इस औषधि द्वारा हम निम्नगतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

'चीपुद्रु' एक औषधि है । यह नाम वेदमें है अन्य ग्रंथोंमें नहीं मिलता । इस सूक्तमें इसका बहुत वर्णन है, परंतु यह वनस्पति इस समय अज्ञात ही है । इस कारण इस विषयमें अधिक लिखना असंभव है । इस औषधिकी खोज करनी चाहिये । इसका कोई दूसरा नाम आर्यवैद्यकग्रंथोंमें हो तो उसका भी पता लगाना चाहिये ।

क्षयरोगनिवारण

कां. ६, सू. १०

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता- यक्ष्मनाशनम् ।)

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति ।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ १ ॥
नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते ।
नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥ २ ॥
अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि ।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने ॥ ३ ॥

अर्थ—(दहतः शुष्मिणः अस्य अग्नेः इव) जलानेवाले इस बलवान् अग्निके तापके समान यह ज्वर (एति) आता है । (उत मत्तः इव विलपन् अपायति) और उन्मत्तके समान बडबडाता हुआ चला जाता है । (अव्रतः असत् अन्यं कं चित् इच्छतु) यह अनियमवाले मनुष्यको आनेवाला ज्वर हमसे भिन्न किसी दूसरे मनुष्यको ढूंढ लेवे । (तपुः-वधाय तक्मने नमो अस्तु) तपाकर वध करनेवाले इस ज्वरको नमस्कार हो ॥ १ ॥

रुद्र, (तक्मने) ज्वर, (त्विषीमते) तेजस्वी राजा वरुण (दिवे पृथिव्यै ओषधिभ्यः नमः) द्युलोक भूलोक और औषधियाँ, इन सबके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

(अयं यः अभिशोचयिष्णुः) यह जो शोक बढानेवाला है, (विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि) सब रूपोंको पीला और निस्तेज बनाता है, (तस्मै ते अरुणाय बभ्रवे) उस तुझ लाल, भूरे और (वन्याय तक्मने नमः कृणोमि) वनमें उत्पन्न ज्वरको नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

क्षयरोग निवारण

ज्वरके लक्षण और परिणाम

इस सूक्तमें ज्वरके लक्षण और परिणाम कहे हैं, देखिये उनके सूचक शब्द ये हैं—

१ अग्निः इव दहन्— अग्निके समान जलाता है, ज्वरके आनेके बाद शरीर अग्निके समान उष्ण होता है और वह उष्णता रक्तको जलाती है। (मं. १)

२ शुष्मिन्— शोष उत्पन्न करता है, सुखा देता है। शरीरको सुखाता है। (मं. १)

३ मत्तः इव विलपन्— पागल जैसे रोगीको बनाता है, इस कारण वह रोगी बडबडाता रहता है। (मं. १)

४ अव्रतः— यह ज्वर व्रतहीन अर्थात् नियम पालन न करनेवालेको ही आता है। अर्थात् नियमानुकूल व्यवहार करनेवालेको नहीं सताता। (मं. १)

५ तपुः वधः— यह ज्वर तपाके वध करता है। (मं. १)

६ तक्मा— बडे कष्ट देता है। (मं. १)

७ रुद्रः— यह रुलानेवाला है। (मं. २)

८ अभिशोचयिष्णुः— शोक बढानेवाला है। (मं. ३)

९ विश्वा रूपाणि हरिता कृणोति— शरीरको हरा, पीला अर्थात् निस्तेज बनाता है। ज्वर आनेवालेका शरीर फीका होता है। (मं. ३)

१० वन्यः— वनमें इसकी उत्पत्ति है। (मं. ३)

इस सूक्तमें इतने ज्वरके कारण, लक्षण और परिणाम कहे हैं। व्रत पालन अर्थात् नियम पालन करनेसे यह ज्वर नहीं आता और आया हुआ हट जाता है। इसलिये इसको 'अव्रत' कहा है। पृथ्वी भूमि, औषधी, वरुणराजाके सब जलस्थान, रुद्रके रुद्रसूक्तोक्त स्थान और रूप इनकी सुव्यवस्थासे यह ज्वर हट जाता है।

रुद्र सूक्तमें रुद्रका जो वर्णन है उसका विचार करनेसे पता लगता है कि यह ज्वर रुद्रका रूप है। रुद्रके दो प्रकारके रूप हैं, एक घोर (उष्ण) और एक शिव (शान्त)। इनके सम रहनेसे मनुष्यको आरोग्य प्राप्त होता है और विषम होनेसे रोग सताते हैं। इस प्रकार योजना द्वारा ज्वर दूर करनेका उपाय जाना जा सकता है।

क्षयरोगका निवारण

कां. ६, सू. १४

(ऋषिः– बभ्रुपिंगलः। देवता– बलासः।)

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम्। बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा। छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥

निर्बलासेतः प्र पताशुंगः शिशुको यथा। अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

अथ— (अस्थिस्रंसं परुस्रंसं) हड्डियों और जोडोंमें ढीलापन लानेवाले (आस्थितं हृदयामयं) शरीरमें रहनेवाले हृदयके रोगको अर्थात् (सर्वं बलासं) सब क्षय रोगको और (यः अंगेष्ठाः च पर्वसु) जो अवयवों और जोडोंमें रहते हैं, उन सब रोगोंको (नाशय) नष्ट कर दे ॥ १ ॥

(यथा मुष्-करं) जिस प्रकार चोरी करनेवालेको दूर किया जाता है। (बलासिनः बलासं निःक्षिणोमि) उसी प्रकार क्षयरोगको दूर करता हूं। (उर्वार्वाः मूलं इव) जैसे ककडीके जडको काटते हैं (अस्य बंधनं छिनद्मि) उसी प्रकार इस रोगके संबंधको छेद डालता हूं ॥ २ ॥

हे (बलास) क्षयरोग ! (यथा आशुंगः शिशुकः) जिस प्रकार शीघ्रगामी बछडा जाता है। (इतः निः प्रपत) उसी प्रकार यहांसे हट जा। (हायनः इटः इव) जैसे प्रतिवर्ष उगनेवाला घास नाशको प्राप्त होता है (अथो अवीरहा अप द्राहि) उसी प्रकार वीरोंका नाश न करनेवाला तू यहांसे भाग जा ॥ ३ ॥

कफक्षय

इस सूक्तमें 'बलास' शब्द है, इसका अर्थ कफ और कफक्षय है। यह शरीरके पर्वों, जोडों, हृदय और अन्यान्य अवयवोंमें रहता है और रोगीका नाश करता है। इसको दूर करनेका वर्णन इस सूक्तमें है। इसमें जिस उपायका वर्णन है, उसका पता नहीं चलता। इसलिये क्षयरोग निवारणका जो उपाय इस सूक्तमें कहा है उसके विषयमें कुछ अधिक कहना, विना अधिक खोज किये, कठिन है। हमारे विचारसे तो यह सूक्त मानसचिकित्साका सूक्त है। अपने मनके स्वास्थ्यप्रभावपूर्ण विचारोंसे रोगीके रोग दूर होते हैं। इसका यहां संबंध प्रतीत होता है।

खांसीको दूर करना

कां. ६, सू. १०५

(ऋषिः— उन्मोचनः। देवता— कासा।)

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा आशुमत् मनः) जिस प्रकार शीघ्रगामी मन (मनस्केतैः परा पतति) मनके विषयोंके साथ दूर जाता है, (एवा) इसी प्रकार, हे (कासे) खांसी आदि रोग ! (त्वं मनसः प्रवाय्यं अनु प्र पत) तू मनके प्रवाहके समान दूर भाग जा ॥ १ ॥

(यथा सुसंशितः बाणः) जिस प्रकार अतितीक्ष्ण बाण (आशुमत् परापतति) शीघ्रतासे दूर जाकर गिरता है (एवा) इसी प्रकार, हे (कासे) खांसी ! (त्वं पृथिव्याः संवतं अनु प्रपत) तू पृथ्वीके निम्न स्थलमें गिर जा ॥२॥

(यथा सूर्यस्य रश्मयः) जिस प्रकार सूर्यकिरण (आशुमत् परापतन्ति) वेगसे दूर भागते हैं, (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खांसी ! तू (समुद्रस्य विक्षरं अनु प्रपत) समुद्रके प्रवाहके समान दूर गिर ॥ ३ ॥

भावार्थ— मन, सूर्यकिरण और बाण इनका वेग बडा है। जिस वेगसे ये जाते हैं, उस वेगसे खांसीकी बीमारी दूर होवे ॥ १–३ ॥

(संभवतः खांसी निवारणका उपाय मनके नीरोग संकल्प और सूर्यकिरणके संबंधमें होगा।)

श्वासादि-रोग-निवारण-सूक्त

कां., १ सू. १२

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता— यक्ष्मनाशनम्।)

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

अर्थ— (वात+भ्र+जाः) वायु और मेघसे उत्पन्न होकर (प्रथमः जरायु+जः) पहिली जेरीसे उत्पन्न होनेवाला (उस्रियः वृषा) तेजस्वी बलवान् सूर्य (वृष्ट्या स्तनयन्) वृष्टिके साथ गरजता हुआ (एति) चलता है। (स ऋजुगः) वह सीधा चलनेवाला और (रुजन्) दोष दूर करनेवाला (नः तन्वे) हमारे शरीरको (मृडाति) सुख देता है। (यः) जो (एकं ओजः) एक सामर्थ्यको (त्रेधा) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) प्रकाशित करता है ॥ १ ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम ।
अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥
मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य ।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥
शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे । शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम ॥ ४ ॥

अर्थ— (अंगे अंगे) प्रत्येक अवयवमें (शोचिषा शिश्रियाणं) अपने तेजसे रहनेवाले (त्वा) तुझको (नमस्यन्तः) नमन करते हुए (हविषा विधेम) तेरी अर्पण द्वारा पूजा करते है। (यः) जो (ग्रभीता) ग्रहण करनेवाला (अस्य पर्व) इसके जोडको (अग्रभीत्) ग्रहण करता है उसके (अंकान् समंकान्) चिन्होंको और मिले हुए चिन्होंको (हविषा विधेम) हवनके अर्पणसे पूजें ॥ २ ॥

(शीर्षक्त्याः) सिरदर्दसे (उत) और (यः कासः) जो खांसी है उससे (एनं मुञ्च) इसको छुडा। तथा (अस्य) इसके (परुः परुः) जोड जोडमें जो रोग (आविवेश) घुस गया है उससे भी छुडा। (यः अभ्रजाः) जो मेघोंकी वृष्टिसे उत्पन्न हुआ है अथवा जो (वात+जाः) वायुसे उत्पन्न हुआ है तथा जो (शुष्मः) उष्णताके कारण उत्पन्न हुआ है, उसको दूर करनेके लिये (वनस्पतीन् पर्वतान् च) वृक्ष, वनस्पति और पर्वतोंके साथ (सचतां) संबंध करें ॥ ३ ॥

(मे परस्मै गात्राय शं) मेरे श्रेष्ठ अवयवोंका कल्याण हो। (अवराय शं अस्तु) मेरे साधारण अवयवोंका कल्याण हो। (मे चतुर्भ्यः अंगेभ्यः शं) मेरे चारों अंगोंको आरोग्य प्राप्त हो। (मम तन्वे शं अस्तु) मेरे शरीरके लिये सुख होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— वायु और मेघसे प्रकट होकर मेघोंके आचरणसे प्रथम बाहर निकला हुआ तेजस्वी वृष्टि और मेघगर्जनाके साथ आ रहा है। वह अपनी सीधी गतिसे दोषों अथवा रोगोंको दूर करता हुआ हमारे शरीरोंकी निरोगता बढाता है और हमें सुख देता है। वह सूर्यका एक ही तेज तीन प्रकारसे कार्य करता है ॥ १ ॥

वह शरीरके प्रत्येक अंगमें अपने तेजके अंशसे रहता है, उसका महत्त्व जानकर, हम हवन द्वारा उसका सत्कार करते हैं। जो मनुष्यके हरएक जोडमें रहता है उसके प्रत्येक चिन्हका भी हवन द्वारा हम सत्कार करते हैं ॥ २ ॥

इसकी सहायतासे सिरदर्द हटाओ, खांसी हटाओ, जोडके अंदरकी पीडाको हटाओ। जो रोग मेघोंकी वृष्टिसे अर्थात् कफसे, वायुके प्रकोपसे अर्थात् वातसे और गर्मीके कारण अर्थात् पित्तसे होते हैं उनको भी हटाओ। इसके लिये वनस्पतियों और पर्वतोंका सेवन करो ॥ ३ ॥

इससे मेरे उत्तम अंग, साधारण अंग तथा मेरे चारों अंग अर्थात् मेरा सब शरीर नीरोग होवे ॥ ४ ॥

श्वासादि-रोग-निवारण सूक्त

यह ‘ तक्मनाशन गण ’ का सूक्त है अर्थात् रोगादि-नाशक भाव इसमें है।

महत्त्वपूर्ण रूपक

सबसे पहले प्रथम मंत्रमें वर्णित महत्त्वपूर्ण रूपक विचार करने योग्य है। यहां सुपुत्रका वर्णन बडे महत्त्वपूर्ण रूपकसे किया है। इस रूपकमें सूर्य ही ‘ पुत्र ’ है सूर्यके पुत्र होनेका वर्णन वेदमें अनेक स्थानमें आया है। यहांका यह वर्णन समझनेके लिये कुछ निसर्गकी ओर ध्यान देनेकी आवश्य-कता है।

बरसातके दिनोंमें जब कई दिन आकाश मेघोंसे आच्छादित रहता है और सूर्यदर्शन नहीं होता, वृष्टि होती है, वायु चलती है, बिजली चमकती है तब कभी कभी ऐसा होता है कि थोडी

वायु चलनेसे बीचका आकाश मेघरहित हो जाता है और स्वच्छ सूर्य-मंडल दिखाई देता है। मानो यही पुत्र-दर्शन है। पुत्रजन्मके समयमें भी प्रसूति होते ही गर्भके उपर जेरी आदिका वेष्टन होता है, जलादि प्रवाह प्रसूतिके समय होते हैं, यह सब मानो सूर्यपर वेष्टित मेघ और उनकी वृष्टि है। इस प्रकार इस उपमामें साम्य देख सकते हैं।

बहुत दिनोंतक मेघाच्छादित आकाशके पश्चात् जब सूर्य दर्शन होता है, हवा साफ हो जाती है तब मनुष्योंको अत्यंत आनंद होता है, मनुष्य प्रसन्न चित्तसे उत्सव मनाते हैं। इसी प्रकार जब गर्भिणी स्त्रीके पुत्र प्रसव होता है, उसपरकी जेरी अलग की जाती है, उसको स्वच्छ किया जाता है, तब उसका मुखरूपी सूर्य देखकर जो आनंद माताके हृदयमें चमक उठता है उसका वर्णन क्या कभी शब्दोंसे होना संभव है ? माताका आनंद इन्हीं शब्दोंसे व्यक्त हो सकता है कि ' यह पुत्र घरका सूर्य है, यह माताके हृदयकी ज्योति है, यही माताकी आंखोंका प्रकाश है।' जिस प्रकार सूर्य अंधेरा हटाता है, उसी प्रकार पुत्र घरको, कुलको और जातिको उज्ज्वल बनाता है।' इस प्रकार बालकके मुखकी रोशनीका वर्णन माता अपने शब्दरहित भावोंसे ही कर सकती है। परंतु यहां नूतनोत्पन्न बालकका वर्णन ही करना नहीं है, किंतु जीवनदाता सूर्यका ही वर्णन अर्थात् सूर्यके जीवन-पोषक रश्मि-रसायनका वर्णन करना है।

प्रायः प्रसूतिके समय तथा पश्चात् स्त्रियोंमें अशक्तता आ जाती है और नाना रोगोंके उत्पन्न होनेकी संभावना उत्पन्न होती है। इसलिये इस कष्टको दूर करना सुगमतासे किस रीतिसे साध्य होता है, यही बताना सूक्तका मुख्यतया विषय है। मानो इस मिषसे आरोग्यका विषय इस सूक्तमें प्रदर्शित किया है।

आरोग्यका दाता

सूर्य ही आरोग्यका दाता है यह बात इस सूक्तके प्रथम-मंत्रके उत्तरार्धमें स्पष्ट कही है।

तन्वे स नो ऋजुगो रुजन् मृडाति। (मं. १)

' सीधे जानेवाले दोषोंका नाश करके वह (सूर्य) हमारे शरीरोंको आरोग्य देता है, ' इस मंत्र भागका स्पष्ट आशय यह है कि वह सूर्य दोषोंको दूर करता है और आरोग्य बढावा है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि सूर्य प्रकाश जहां नहीं पहुंचता वहां आरोग्यका रहना संभव ही नहीं है। प्रसूतिके स्थानमें भी विपुल प्रकाश आना चाहिये, तभी माता और नूतन उत्पन्न बालकका स्वास्थ्य उत्तम रह सकता है। यदि घरके कमरोंमें विपुल प्रकाश आता रहेगा तो घरवालोंका स्वास्थ्य ठीक रहेगा। इस प्रकार वेद कहता है कि सूर्य प्रकाश सबके स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है।

प्रथम मंत्रका अंतिम कथन है कि (एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे) अर्थात् एक ही शक्ति तीन प्रकारसे प्रकाशित हो रही है। यह बात कई स्थानोंमें सत्य है। सूर्यका ही तेज द्युलोकमें सूर्य प्रकाशसे, अंतरिक्षमें विद्युत् रूपसे और भूलोकमें अग्निके रूपसे प्रकाशित हो रहा है। यही बात शरीरमें मस्तिष्कमें मज्जारूपमें, हृदयमें पाचनशक्तिके रूपमें और सब शरीरमें उष्णताके रूपमें सूर्यका तेज प्रकाशता है और विविध कार्य करता है। आरोग्यका विचार करनेके समय इस बातका अवश्य विचार करना चाहिये। सूर्य प्रकाशसे इन तीनों शारीरिक स्थानोंमें योग्य परिणाम होकर शरीरका आरोग्य होता है, बुद्धिका तेज बढता है और सुखकी वृद्धि होती है। यह है संक्षेपसे सूर्यका हमारे आरोग्यसे संबंध।

इस रीतिसे प्रथम मंत्रमें आरोग्यका मूलमंत्र बताया है और उपमासे यह भी कहा है कि जिस प्रकार घरमें बालक-रूपी सूर्यका उदय होता है, उसी प्रकार विश्वमें दिवस्पुत्र सूर्यका उदय होता है। घर एक छोटा विश्व है तथा विश्व ही एक बडा घर है। इसलिये इस घरके सूर्यका और विश्वके सूर्यका संबंध देखना चाहिये। आरोग्यके लिये तो इस घरके सूर्यका विश्वके साथ संबंध करना चाहिये अर्थात् जहांतक हो सके वहांतक बालकको घरमें बंद न रखते हुए विश्वसूर्यके खुले प्रकाशमें शनैः शनैः लानेका यत्न करना चाहिये, जिससे घरका सूर्य भी नीरोग और बलवान् बन सके।

सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा

आगे द्वितीय मंत्रमें कहा है कि (अंगे अंगे शोचिषा शिश्रियाणं) शरीरके प्रत्येक अंगमें तेजके अंशसे यह सूर्य रहता है, उनको (नमस्यन्तः) नमन करना चाहिये, अर्थात् उसका आदर करना चाहिये, सूर्यके तेजसे अपने तेजको बढाना चाहिये। जो लोग घरके अंधेरे कमरेमें अपने आपको बंद रखते हैं वे निस्तेज होते हैं, परंतु जो खुली हवामें घूमते हुए सूर्यप्रकाशसे अपना तेज बढाते हैं वे तेजस्वी होते जाते हैं।

शरीरके प्रत्येक (पर्व) जोडमें यह अंश रहता है, इस सूर्यके अंशने इस स्थानपर (ग्रभीता) अपना अधिकार

जमा रखा है। हरएक अवयवमें इसके (अंकान्) चिन्हों-को पहचानना चाहिये और (समंकान्) मिले जुले चिन्हों को भी पहचानना चाहिये। जैसे आंखमें तेजरूपसे सूर्यका निवास है, अन्य स्थानोंमें अन्य अंशोंसे है। यह सब जानना चाहिये। और जिस स्थानमें अनिरोग्य या बीमारी हुई हो उस स्थानका आरोग्य सूर्य-प्रकाशका उचित रीतिसे प्रयोग करके प्राप्त करना चाहिये। सबेरेके मंद सूर्यके प्रकाशमें खुली आंखसे सूर्यका बिंब देखनेसे प्रायः नेत्ररोग दूर हो जाते हैं। विशेष नेत्ररोगोंके लिये विशेष युक्तिसे सूर्य-किरणका प्रयोग करना चाहिये। विशेष अंगके लिये भी विशेष युक्तिसे ही सूर्यकिरणका प्रयोग करना होता है साधारण आरोग्यके लिये वह विशेष अवयव सूर्यकिरणोंमें तपानेसे भी बहुतसा कार्य हो जाता है। इस युक्तिसे केवल सूर्य-किरणचिकित्सासे बहुतसे रोगोंको दूर करना संभव है। यदि सूर्यके सहन होने लायक उष्ण प्रकाशमें नंगा शरीर कुछ देरतक तपाया जाय तो भी सर्वसाधारण शरीरकी नीरोगता बढती है। शीतकालमें यह करना उत्तम है, परंतु गर्मीके दिनों और उष्ण देशोंमें विचारसे और युक्तिसे ही इसका प्रयोग करना चाहिये। नहीं तो आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य भी हो सकता है इसलिये यह सब अभ्यास युक्तिसे ही बढाना चाहिये।

तृतीय मंत्रमें (शीर्षक्त्याः) सिरदर्द, (कासः) खांसी, (परुः) संधिस्थानके रोगोंका उक्त भी प्रकार हटानेका उपाय बताया है। (वातजाः) वात, (शुष्मः) पित्त, (अभ्रजाः) कफके प्रकोपके कारण उत्पन्न हुए अन्य रोगोंका भी उसी युक्तिसे दूर करनेका मार्ग तृतीय मंत्रमें बताया है। (पर्वतान् सचतां) तथा पर्वतों पर रहकर (वनस्पतीन् सचतां) उचित वनौषधियोंका सेवन करनेका भी उपदेश इसी मंत्रमें है। वनौषधियोंका सेवन करनेका भी उपदेश इसी मंत्रमें है। वनौषधियोंका सेवन दो प्रकारसे होता है, एक वृक्षादिकोंके नीचे रहनेसे और दूसरे योग्य औषधियोंके रसादिका उपयोग करनेसे पर्वतोंके उच्च शिखरोंपर निवास करना और वृक्षोंके नीचे बैठना उठना बडा आरोग्यदायक है, यह बातें हमने कई रोगियोंपर युक्तिसे आजमाई हैं और हमारे अनुभवसे बडी लाभदायक सिद्ध हुई हैं।

चतुर्थ मंत्रमें सिर आदि उत्तमांग तथा पांव आदि अधरांग तात्पर्य सब शरीरका स्वास्थ्य-पूर्वोक्त रीतिसे प्राप्त उपाय करनेका प्रार्थना मंत्रद्वारा बताया है।

सर्वसाधारण उपाय

इस सूक्तसे सर्व साधारणके लिये भी बडा बोध प्राप्त हो सकता है। मुख्य बात है कि जो नंगे होकर सूर्यकी किरणोंमें घूमते हैं अर्थात् अपने शरीरको सूर्यकिरणोंसे तपाते हैं उनको चर्म रोग, खांसी, दमा तथा क्षय आदि रोग होते ही नहीं। ये सब रोग उनको होते हैं कि जो नंगे शरीरपर सूर्यकिरण नहीं लेते, अर्थात् सदा वस्त्रोंसे वेष्टित होकर तंग मकानोंमें रहते हैं। वेदमें इसीलिये घरका नाम ही 'क्षय' आता है।

विष-चिकित्सा

कां. ७, सू. ५६

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- वृश्चिकादयः, वनस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः।)

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्। तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥ १ ॥

अर्थ— (तिरश्चि-राजेः असितात्) तिरछी रेखावाले, काले और (पृदाकोः कंकपर्वणः) नाग जैसे पर्ववाले सांपके (संभृतं तत् विषं) इकट्ठे हुए उस विषको (इयं वीरुत् परि अनीनशत्) यह वनस्पति नष्ट करती है॥ १ ॥

भावार्थ— जिसपर तिरछी लकीरें होती हैं और जिसके पर्व होते हैं ऐसे सांपके विषको मधु नामक वनस्पति दूर करती है ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुंजाता मधुश्चुन्मधुला मुधूः । सा विह्रुतस्य भेषज्यथौ मशकुजम्भनी ॥ २ ॥

यतो दुष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि । अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥ ३ ॥

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि ।

तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥ ४ ॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः । विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः । अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥ ६ ॥

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः । सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥ ७ ॥

अर्थ—(इयं वीरुत् मधु-जाता मधुला) यह वनस्पति मधुरताके साथ उत्पन्न हुई, मधुरता देनेवाली (मधुश्चुत् मधूः) मधुरताको चुआनेवाली और स्वयं भी मधुर है । (सा विह्रुतस्य भेषजी) वह कुटिल सांपके विषकी औषधि है और वह (मशक-जम्भनी) मच्छरोंका नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

(यतः दष्टं) जहां काटा गया है, (यतः धीतं) जहांसे खून पिया गया है, (ततः) वहांसे (तृप्रदंशिनः अर्भस्य मशकस्य) तीक्ष्णतासे काटनेवाले छोटे मच्छरके (अरसं विषं निः ह्वयामसि) रसहीन विषको हम हटा देते हैं ॥ ३ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानके स्वामिन् ! (यः अयं वक्रः वि-परुः) जो यह टेढा और संधिस्थानमें शिथिल और (व्यंगः) कुरूप अंगवाला हुआ है और जो (मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि) मुखोंको टेढे मेढे और विरूप करता है, (तानि त्वं इषिकां इव सं नमः) उनको तू मुञ्जके समान सीधा कर ॥ ४ ॥

(अरसस्य नीचीनस्य उपसर्पतः) नीरस और नीचेसे आनेवाले (अस्य शर्कोटस्य विषं) इस बिच्छू या सर्पके विषको मैं (आ अदिषि) खण्डित करता हूं, (अथो एनं अजीजभं) और इसको मार डालता हूं ॥ ५ ॥

हे बिच्छू ! (ते बाह्वोः बलं न अस्ति) तेरी बाहुओंमें बल नहीं है और (नः शीर्षे उत न मध्यतः) न सिरमें और ना मध्य भागमें ही है । (अथ किं अमुया पापया) तब फिर क्यों इस पापवृत्तिसे (पुच्छे अर्भकं बिभर्षि) पुच्छमें थोडासा विष धारण किए रहता है ? ॥ ६ ॥

(पिपीलिकाः त्वा अदन्ति) चीटियां तुझे खाती हैं, (मयूर्यः विवृश्चन्ति) मोरनियां तुझे काट डालती हैं । (सर्वे भल ब्रवाथ) सब भली प्रकार कहते हैं कि (शार्कोटं विषं अरसं) बिच्छुका विष खुष्की करनेवाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह वनस्पति मीठे रसवाली है, मिठासके लिये प्रसिद्ध है, इसका नाम मधु है । वह विषबाधासे टेढेमेढे हुए रोगीके लिये उत्तम औषधि है । इससे मच्छर भी दूर होते हैं ॥ २ ॥

जहां काटा गया है और जहांसे रक्त पिया गया है, वहांसे मच्छर आदिके विषको उक्त औषधिके प्रयोगसे हटा देते हैं ॥ ३ ॥

विषबाधासे जो रोगी टेढा मेढा, विरूप अंगवाला, ढीले संधियोंवाला हो गया है और जो अपने मुख टेढे मेढे करता है, उस रोगीको इस औषधि द्वारा ठीक किया जा सकता है ॥ ४ ॥

नीचेसे आनेवाले खुष्की पैदा करनेवाले, सांपके या बिच्छूके विषको हम इससे दूर करते हैं और उनको हम मार भी देते हैं ॥ ५ ॥

बिच्छूका बल बाहुओंमें, सिरके अथवा मध्यभागमें नहीं है । केवल पूंछके अग्रभागमें उसका विष रहता है ॥ ६ ॥

चींटियां, मोरनियां या मुर्गियां उसको (बिच्छू और सांपको भी) खा जाती हैं । इनका विष शुष्कता उत्पन्न करनेवाला है इस वनस्पतिसे यह विष निर्बल हो जाता है ॥ ७ ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च । आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यः पुच्छेन च आस्येन च उभाभ्यां) तू पूंछ और मुख दोनोंसे (प्रहरसि) प्रहार करता है परन्तु (ते आस्ये विषं न) तेरे मुखमें विष नहीं है, (किं उ पुच्छधौ असत्) फिर पूंछमें क्यों है ? ॥ ८ ॥

भावार्थ— बिच्छू पूंछसे प्रहार करता है, मुखसे भी काटता है। पर इसके मुखमें विष नहीं है केवल पूंछमें ही है ॥८॥

इसमें सर्पविष अथवा बिच्छूका विष दूर करनेके लिये मधुनामक औषधिका उपयोग करनेको कहा है। यह औषध शर्तिया इलाज है। परंतु यह कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। विषबाधासे शरीरपर जो परिणाम होता है, उसका वर्णन चतुर्थ मंत्रमें है। भयंकर सर्पविषसे मनुष्य कुरूप और टेढामेढा हो जाता है। इस सूक्तमें कहा हुआ अन्य भाग सुबोध है। इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

विषको दूर करना

कां. ४, सू. ६

(ऋषिः— गरुत्मान् । देवताः— तक्षकः ।)

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः । स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे ।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत् । नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

अर्थ— (प्रथमः दशशीर्षः दशास्यः ब्राह्मणः जज्ञे) सबसे प्रथम दस सिर और दस मुखवाला ब्राह्मण हुआ। (सः प्रथमः सोमं पपौ) उसने पहले सोमरसका पान किया और (सः विषं अ-रसं चकार) उसने विषको रसरहित बना दिया ॥ १ ॥

(यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा) जहांतक द्युलोक और भूलोक फैले हुए हैं और (सप्त सिन्धवः यावत् वितष्ठिरे) सात नदियां फैली हुई हैं, वहांतक (विषस्य दूषणीं तां वाचं) विषको दूर करनेवाली उस वाणीको (इतः निरवादिषं) यहांसे मैंने कह दिया है ॥ २ ॥

हे विष ! (गरुत्मान् सुपर्णः) वेगवान् गरुडपक्षीने (प्रथमं त्वा आवयत्) प्रथम तुझे खाया। उसे (न अमीमदः) न तूने उन्मत्त किया और (न अरूरुपः) न बेहोश ही किया। (उत अस्मै पितुः अभवः) पर इसके विपरीत तू उसके लिए अन्न बन गया ॥ ३ ॥

भावार्थ— ज्ञानी ब्राह्मणने सोमपान करके विषको दूर किया ॥ १ ॥

यह विष दूर करनेके उपायकी मैं घोषणा करता हूँ, यह सब जगत्में फैल जावे ॥ २ ॥

गरुडपक्षीको विषकी बाधा नहीं होती, वह विष खाता है परन्तु वह न तो पागल होता है और ना ही बेहोश होता है, क्योंकि विष तो उसके लिए अन्न जैसा है ॥ ३ ॥

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः । अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥
शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः । अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥
अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम् । उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥
ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन् । सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥
वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे । वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यः पंचांगुरिः) जिस पांच अंगुलियोंसे युक्त वीरने (वक्रात् चित् धन्वनः अधि) टेढे धनुषके (अपस्कंभस्य शल्यात्) बंधनसे निकाले गए बाणसे (ते विषं अहं निरवोचं) विषको मैंने दूर किया है ॥ ४ ॥

(शल्यात् प्राञ्जनात् उत पर्णधेः) शल्यसे, नीचेके भागसे और पंखवाले स्थानसे (विषं निरवोचं) मैंने विष हटाया है, (अपाष्ठात, शृंगात , कुल्मलात्) फालसे, सींगसे और बाणके अन्य भागसे (अहं विषं निरवोचं) मैंने विष दूर किया है ॥ ५ ॥

हे (इषो) बाण ! (ते शल्यः अरसः) तेरे बाणके आगेका हिस्सा निस्सार है, (अथो ते विषं अरसं) और तेरा विष भी साररहित है, हे (अरस) रसरहित शुष्क ! (उत अरसस्य वृक्षस्य ते धनुः) साररहित वृक्षका तेरा धनुष (अरसं) निस्सत्व हो जाए ॥ ६ ॥

(ये अपीषन्) जिन्होंने पीसा है, (ये अदिहन्) जिन्होंने जलाया है, (ये आस्यन्) जिन्होंने फेंका है, (ये अवासृजन्) जिन्होंने लक्ष्यपर बाण छोडा है (सर्वे ते वध्रयः कृताः) वे सब निर्बल कर दिए गए हैं, (विषगिरिः वध्रिः कृतः) विषके पर्वत भी निर्बल कर दिए गए हैं ॥ ७ ॥

हे (ओषधे) विषकी औषधि ! (ते खनितारः वध्रयः) तेरे खोदनेवाले निःसत्त्व हुए, (त्वं वध्रिः असि) तू भी निःसत्त्व हो गई है । (यतः इदं विषं जातं) जहांसे यह विष उत्पन्न हुआ है । (स पर्वतः गिरिः वध्रिः) वह पर्वत और पहाड भी निर्वीर्य हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ— वीर लोग जो विषसे पूर्ण बाण चलाते हैं, उससे हम विषको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

बाणके आदि मध्य और अग्रभागसे हम विषको दूर करते हैं ॥ ५ ॥

इस प्रकार सब बाण हम विषसे रहित करते हैं ॥ ६ ॥

जो विषको पीसते हैं, उसमें बाणको बुझाते हैं, जो बाण फेंकते हैं, अथवा बींधते हैं, उनके सब प्रयत्न इस रीतिसे असफल हुए हैं और उनका विष भी नीरस ही सिद्ध हुआ है ॥ ७ ॥

इस प्रकार विषवल्लीको खोदनेवाले व जिस पर्वतपर विषवृक्ष उगते हैं वह पर्वत भी निःसत्त्व हुआ है ॥ ८ ॥

विष दूर करनेका उपाय

इस सूक्तमें विष दूर करनेके उपाय बताए हैं । पहिला उपाय ' सोम पान ' है । सोम पान करनेसे विष दूर होता है । (मं. १) प्रथम मंत्रमें यह उपाय कहा है । इसमें कहा है कि ' दस शीर्ष और दस मुखवाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, उसने सोमपान किया जिससे विषबाधा नहीं हुई । ' इसमें ' दशशीर्ष और दशास्य शब्द ब्राह्मणके विशेषण हैं । शीर्ष शब्द बुद्धिका और आस्य शब्द वक्तृत्वका वाचक है । दस गुना बुद्धिमान् और दस गुना विद्वान्, यह इस शब्दका भाव है । जो ऐसा विद्वान् सोमयाग करके उसका यज्ञशेष सोम पीता है उसका विष दूर होता है, यह यहां आशय दीखता है । सर्वत्र सोमयाग होते रहें और सब देश निर्विष होवें । जल वायुको निर्दोष और निर्विष करनेका उपाय यह सोम याग है ।

दूसरा उपाय गरुडपक्षीका है । गरुड सांप आदि विषजन्तुओंको खाता है, उनका विष उनके पेटमें जाता है, परंतु उसको विषबाधा नहीं होती, मानो वह विष उसका अन्न ही बन जाता है । संभव है कि इस विषयकी योग्य खोज करनेसे विष शमन करनेके उपायका ज्ञान हो जावे ।

अन्य मंत्रोंका विषय युद्धमें विषदग्ध बाणके लगनेसे होनेवाले विषबाधाके संबंधका विष दूर करनेका है ।

विषको दूर करना

कां. ४, सू. ७

(ऋषिः– गरुत्मान् । देवता– वनस्पतिः ।)

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि । तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीबस्पाकमुदारथिम् । क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥ ३ ॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि । प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि । तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

अर्थ— (वरणावत्यां अधि) वारणानामक औषधिमें रहनेवाला (इदं वार् वारयातै) यह रस, जल, विषको दूर करता है। (तत्र अमृतस्य आसिक्तं) वहां अमृतका स्रोत है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

(प्राच्यं विषं अ-रसं) पूर्व दिशाका विष रसहीन होवे (यत् उदीच्यं अरसं) जो उत्तर दिशामें विष हो वह भी रसहीन होवे। (अथ इदं अधराच्यं) और जो नीचेकी दिशाका यह विष है वह (करम्भेण विकल्पते) दही से विफल होता है ॥ २ ॥

हे (दुः+तनो) दोषयुक्त शरीरवाले ! (तिर्यं=तिल्यं) तिलोंका (पीवः+दाकं) घीके साथ पका हुआ (उदा-रथिं=उदर-थिं) पेटको ठीक करनेवाला (करम्भं) दही मिश्रित अन्न यदि (क्षुधा किल जक्षिवान्) क्षुधाके अनु-कूल खाया जाये तो (सः त्वा न रूरुपः) वह तुझे बेहोश नहीं होने देगा ॥ ३ ॥

हे (मदावति) मूर्च्छा लानेवाली ! (ते मदं शरं इव वि पातयामसि) तेरी बेहोशीको बाणके समान दूर फेंक देते हैं। और (येषन्तं चरुं इव) चूनेवाले बर्तनके समान (त्वा वचसा प्रस्थापयामसि) तुझको वचा औषधिसे हम हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(आचितं ग्रामं इत्) इकट्ठे हुए ग्रामीण जनोंके समान तुझको हम (वचसा परि स्थापयामसि) वचा औषधिसे स्थिर कर देते हैं। (स्थाम्नि वृक्ष इव तिष्ठ) स्थानपर वृक्षके समान स्थिर रह। हे (अभ्रि-खाते) कुदा-लसे खोदी हुई ! तू (न रूरुपः) बेहोश मत कर ॥ ५ ॥

भावार्थ— वारणा नामक औषधिका रस विषको दूर करता है, उसमें जो अमृतका स्रोत होता है उससे विष दूर होता है ॥ १ ॥

इससे पूर्व दिशा और उत्तर दिशाका विष शान्त होता है। निम्नभागका विष दहीके प्रयोगसे विफल सा होता है ॥२॥

विष शरीरको बिगाडता है। उसके लिये तिलोंके पाकमें बहुत घी डाल कर उसका उत्तम पाक बनाकर और उसको दहीके साथ मिश्रित करके अपने पेटकी स्थिति और भूखके अनुकूल खाया जाय तो विषसे आनेवाली मूर्च्छा दूर हो सकती है ॥ ३ ॥

औषधिके विषसे मूर्च्छा या बेहोशी आती हो तो उसके लिये वचा औषधिका प्रयोग किया जावे, इससे मूर्च्छा दूर होगी ॥ ४ ॥

वचा औषधिके प्रयोगसे विष अपना असर नहीं कर सकता और बेहोशी दूर होती है ॥ ५ ॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत । प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥
अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे । वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे ॥ ७ ॥

अर्थ— (पवस्तैः दूर्शेभिः उत अजिनैः) ओढनेकी चादरें, दुशाले और कृष्णाजिनोंसे, हे ओषधे ! तू (प्रक्रीः असि) खरीदी जाती है। हे (अभ्रि-खाते) कुदालसे खोदी हुई ! तू (न रूरुपः) मूर्च्छित नहीं करती ॥ ६ ॥

(ये प्रथमाः अनाप्तः) जो पहिले श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष थे। उन्होंने (वः यानि कर्माणि चक्रिरे) तेरे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहां कष्ट न दें। (तत् एतत् वः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सन्मुख मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह औषधि एक बिकाऊ चीज है, इससे मूर्च्छा हट जाती है, इसलिये यह विविध वस्तुएं देकर खरीदी जाती है ॥ ६ ॥

इस प्रकारके औषधिके प्रयोगसे प्राचीन ज्ञानी वैद्योंने जो जो चिकित्साएं की थीं, उनका स्मरण कर और इस प्रकार अपने बालबच्चों तथा पुरुषोंको विनाशसे बचा ॥ ७ ॥

दो औषधियां

इस सूक्तमें वारणा और वचा इन दो औषधियोंका उपयोग विष दूर करनेके लिये कहा है।

विषके पेटमें जानेपर मूर्च्छा आनेपर तिलौदनको दहीके साथ खानेका उपाय तृतीय मंत्रमें बताया है।

ये सूक्त तथा इस प्रकारके जो अन्य सूक्त चिकित्साके साथ संबंध रखते हैं, उनका विचार ज्ञानी वैद्योंको ही करना चाहिये, क्योंकि औषधिवाचक शब्दोंके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं और केवल भाषा विज्ञानसे यह विषय सुलझाया नहीं जा सकता। इसलिये वैद्यकीय प्राचीन परंपराको जाननेवाले सुयोग्य वैद्य यदि इस विषयकी खोज करेंगे तो इससे जनताका बहुत लाभ हो सकेगा। केवल भाषाविज्ञानी ऐसे सूक्तोंका जो अर्थ करते हैं, उसको सुविज्ञ वैद्य ही ठीक रीतिसे सुधार सकते हैं और अर्थके सत्यासत्यका निर्णय भी वे ही कर सकते हैं।

सर्पविष दूर करना

कां. १०, सू. ४

(ऋषिः— गरुत्मान्। देवता— तक्षकः।)

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत् ।
अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत् ॥ १ ॥
दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः । रथस्य बन्धुरम् ॥ २ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य प्रथमः रथः) इन्द्रका पहिला रथ है, (देवानां अपरः रथः) देवोंका दूसरा रथ है, (वरुणस्य तृतीयः इत्) वरुणका तीसरा है और (अहीनां अपमा रथः) सर्पोंका नीच गतिवाला है जो (स्थाणुं आरत् अथ ऋषत्) स्तंभपर चलता है और नाशको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(दर्भः शोचिः तरूणकं) कुशा, आग, तृणविशेष और (अश्वस्य वारः पुरुषस्य वारः) अश्ववार और पुरुषवार ये सब औषधियां तथा (रथस्य बन्धुरं) रथ बंधुर या नाभि ये सब सर्पविष दूर करनेवाला है ॥ २ ॥

अव॑ श्वेत प॒दा ज॑हि पूर्वे॑ण॒ चाप॑रेण च । उ॒द॒प्लु॒तमि॑व॒ दार्वही॑नामर॒सं वि॒षं वारु॒ग्रम् ॥ ३ ॥
अ॒रं॒घु॒षो नि॒मज्योन्मज्य॒ पुन॑रब्रवीत् । उ॒द॒प्लु॒तमि॑व॒ दार्वही॑नामर॒सं वि॒षं वारु॒ग्रम् ॥ ४ ॥
पै॒द्वो ह॑न्ति कस॒र्णी॑लं पै॒द्वः श्वि॒त्रमु॒तासि॒तम् । पै॒द्वो र॑थ॒र्व्याः शिरः॒ सं बि॑भेद पृदा॒क्वः ॥ ५ ॥
पैद्व॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मोऽनु॑ त्वा व॒यमेम॑सि । अही॒न्व्य॑स्यतात्प॒थो येन॑ स्मा व॒यमे॒म॑सि ॥ ६ ॥
इ॒दं पै॒द्वो अ॑जायते॒दम॑स्य प॒राय॑णम् । इ॒मान्यर्व॑तः प॒दा॑ऽहि॒घ्न्यो वा॒जिनी॑वतः ॥ ७ ॥
संय॑तं॒ न वि ष्प॑रद्व्यात्तं॒ न सं य॑मत् । अ॒स्मिन्क्षेत्रे॒ द्वावही॒ स्त्री च॒ पुमां॑श्च॒ तावु॒भाव॑र॒सा ॥ ८ ॥
अ॒र॒सास॑ इ॒हाह॑यो॒ ये अन्ति॒ ये च॑ दूर॒के । घ॒नेन॑ हन्मि॒ वृश्चि॑क॒महिं॑ द॒ण्डेनाग॑तम् ॥ ९ ॥
अ॒घा॒श्वस्ये॒दं भे॑षजमु॒भयोः॒ स्वज॒स्य॑ च । इन्द्रो॒ मेऽहि॑मघा॒यन्त॒महिं॑ पै॒द्वो अ॑रन्धयत् ॥ १० ॥
पै॒द्वस्य॑ मन्महे व॒यं स्थि॒रस्य॑ स्थि॒रधा॑म्नः । इ॒मे प॒श्चा पृदा॑क्वः प्र॒दीध्य॑त आसते ॥ ११ ॥

अर्थ—हे (श्वेत) श्वेत औषधे ! (पूर्वेण अपरेण च पदा) पूर्व और उत्तर पदसे (अव जहि) विषका नाश कर। जिससे (विषं उग्रं अरसं) भयानक विष भी नीरस हो जाय और (उदप्लुतं दारु इव) भरे हुए जलमें लकडीके गिरनेके समान वह विष बह जाय ॥ ३ ॥

(अरंघुषः निमज्य उन्मज्य) अलंघुर औषधि निमजन और उन्मज्जन करके (पुनः अब्रवीत्) फिर कहने लगी कि (उग्रं रसं अरसं) उग्र भयानक विष भी सारहीन हो जायगा (उदप्लुतं दारु इव) जैसे जलमें लकडी होती है ॥ ४ ॥

(पैद्वः कसर्णीलं श्वित्रं उत असितं) पैद्वने कसर्णील श्वित्र और असित सर्पोंको मारा (पैद्वः रथर्व्याः पृदाक्वः सिरः सं बिभेद) पैद्वने रथर्व्या और पृदाकुका सिर तोडा ॥ ५ ॥

हे (पैद्व) पैद्व ! (प्रथमः प्रेहि) तू प्रथम आगे जा (त्वा अनु वयं एमासि) तेरे पीछे हम चलेंगे। और (येन वयं एमासि) जिन मार्गोंसे हम जायेंगे उन (पथः अहीन् व्यस्यतात्) मार्गोंसे सर्पोंको दूर कर ॥ ६ ॥

(इदं पैद्वो अजायत) यह पैद्व उत्पन्न हुआ है, (इदं अस्य परायणं) यह इसका परम स्थान है। (वाजिनीवतः अहिघ्न्यः अर्वतः) बलवान् सर्पनाशक अर्वाके (इमानि पदा) ये पदचिन्ह हैं ॥ ७ ॥

(संयतं न वि ष्परत्) सर्पका बंद मुख न खुले और (व्यात्तं न यमत्) खुला हुआ बंद न होवे। (अस्मिन् क्षेत्रे द्वौ अही) इस खेतमें दो सर्प हैं (स्त्री च पुमान् च) एक स्त्री और दूसरा पुरुष है। (तौ उभौ अरसौ) वे दोनों सारहीन हो जायें ॥ ८ ॥

(इह ये अन्ति ये दूरके) यहां जो पास और जो दूर (अहयः अरसासः) सांप हैं वे सारहीन हो जांय। (घनेन हन्मि वृश्चिकं) हथौडेसे बिच्छुको मारता हूं और (आगतं अहिं दण्डेन) आये हुए सर्पको डण्डेसे मारता हूं ॥ ९ ॥

(अघाश्वस्य स्वजस्य च) अघाश्व और स्वज इन (उभयोः इदं भेषजं) दोनोंका यही औषध है, (इन्द्रः मे अघायन्तं अहिं) इन्द्रने मेरे ऊपर आक्रमण करनेवाले सर्पको तथा (पैद्वः अहिं अरन्धयत्) पैद्व सर्पको नष्ट किया ॥ १० ॥

(स्थिरस्य स्थिरधाम्नः पैद्वस्य) स्थिर और अचल धामवाले पैद्वकी महिमाका (वयं मन्महे) हम मनन करते हैं जिसके (पश्चा) पीछे (इमे पृदाकवः प्रदीध्यतः आसते) ये पृदाकु नामक सर्प देखते हुये दूर खडे रहते हैं ॥ ११ ॥

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा । जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः । दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् । हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः । स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च । वातापर्जन्योभा ॥ १६ ॥

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्वम् । स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव । तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित्तेषामसद्रसः ॥ १८ ॥

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठ इव कर्वरम् । सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः । हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया । नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥

अर्थ—(नष्टासवः नष्टविषाः) जिनके प्राण और विष नष्ट हो चुके हैं (इन्द्रेण वज्रिणा हताः) जो वज्रधारी इन्द्रके द्वारा मार दिए गए हैं जिनको (इन्द्रः जघान) इन्द्रने मारा है उन्हें (वयं जघ्निम) हम भी मारते हैं ॥ १२ ॥

(तिरश्चिराजयः हताः) तिरछी लकीरोंवाले सर्प मारे गये, (पृदाकवः निपिष्टासः) पृदाकु सांप पीसे गये, (दर्विं, करिक्रतं श्वित्रं) दर्वि, करिक्रत और श्वेत जातिके सांपको तथा (असितं दर्भेषु जहि) काले सांपको दर्भोंमें मार ॥ १३ ॥

(सका कैरातिका कुमारिका) वह भीलोंकी लडकी (हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः) लोहेकी कुदारोंसे (गिरीणां सानुषु) पहाडोंके शिखरोंपर (भेषजं उप खनति) औषधिको खोदती है ॥ १४ ॥

(अयं युवा पृश्निहा) यह तरुण सर्पनाशक (अपराजितः भिषक्) अपराजित वैद्य आता है । (सः वै स्वजस्य वृश्चिकस्य) वह निःसंदेह स्वज नामक सर्प और बिच्छु (उभयोः जम्भनः) दोनोंका नाश करनेवाला है ॥ १५ ॥

(इन्द्रः मित्रः वरुणश्च) इन्द्र, सूर्य और वरुण (मे अहिं अरन्धयन्) मेरे पास आये सर्पोंको मारते हैं तथा (वातापर्जन्यौ उभा) वायु और पर्जन्य ये भी सर्पोंको मारते हैं ॥ १६ ॥

(पृदाकुं पृदाक्वं स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनासिं) पृदाकु, पृदाक्व, स्वज, तिरश्चिराजी, कसर्णील' दशोनसि इन सर्पोंकी जातियोंको (इन्द्रः अरन्धयत्) इन्द्रने मारा ॥ १७ ॥

हे (अहे) सर्प ! (तव प्रथमं जनितारं) तेरे पहिले उत्पादकको (इन्द्रः जघान) इन्द्रने मारा । (तेषां तृह्यमाणानां) नाशको प्राप्त हुए हुए उनमें (तेषां कः स्वित् रसः असत्) क्या उनका कुछ रस रहता है ? अर्थात् वे सब पूर्णतया मर जाते हैं ॥ १८ ॥

मैंने सांपोंके (शीर्षाणि अग्रभं) सिरोंको पकड लिया है (पौंजिष्ठः सिन्धोः कर्वरं मध्यं परेत्य) जैसे कैवट नदीके गहरे मध्य भागतक जाकर सहज ही वापिस आता है, उस प्रकार मैं भी (अहेः विषं व्यनिजं) सांपका विष विशेष प्रकारसे नष्ट करता हूं ॥ १९ ॥

(सर्वेषां अहीनां विषं) सब सर्पोंके विषको (सिन्धवः परा वहन्तु) नदियां दूर बहा ले जांय । इस तरह (तिरश्चिराजयः पृदाक्वः हताः) तिरश्चिराजी और पृदाकु जातिके सब सर्प मारे गये हैं ॥ २० ॥

(अहं ओषधीनां उर्वरीः इव साधुया वृणे) मैं औषधियोंको उपजाऊ भूमीपर धान्य उगनेके समान सहज हीसे प्राप्त करूं और (अर्वतीः इव नयामि) घोडीकी तरह शीघ्रतासे उनको ले जाऊं, अतः हे (अहे) सर्प ! (ते विषं निः एतु) तेरा विष दूर हो जावे ॥ २१ ॥

यदुग्नौ सूर्यें विषं पृंथि॒व्यामोषंधीषु यत् । कान्दाविषं कनक्कंकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥
ये अ॒ग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अ॒प्सुजा वि॒द्युतं आबभूवुः ।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम ॥ २३ ॥
तौदी नामासि कुन्या घृताची नाम वा असि । अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥ २४ ॥
अङ्गादङ्गात्प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय । अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥
आरे अभूद्विषमरौद्विषे विषमप्रागपि । अग्निर्विषमहेर्निरधात्सोमो निरणयीत् ।
दंष्टारमन्वगाद्विषमाहिरमृत ॥ २६ ॥

अर्थ— (यत् विषं अग्नौ पृथिव्यां ओषधिषु) जो विष अग्नि, भूमि और औषधियोंमें है, तथा जो (कान्दाविषं कनक्कंकं) शब्दोंमें तथा वनस्पति विशेषोंमें है, यह तेरा विष (निः ऐतु ऐतु) निःशेष चला जावे ॥ २२ ॥

(ये अग्निजाः ओषधिजाः) जो अग्निसे उत्पन्न, औषधियोंसे उत्पन्न, (ये अहीनां अप्सुजाः) जो सांपों और जलों उत्पन्न, (विद्युतः आबभूवुः) जो बिजलीसे प्रकट होते हैं, (येषां जातानि बहुधा महान्ति) जिनकी अनेक प्रकारकी जातियां हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः नमसा विधेम) उन सांपोंको हम नमन करते हैं ॥ २३ ॥

(तौदी नाम घृताची नाम) तौदी और घृताची इन नामोंकी (कन्या असि) कन्या नामकी एक औषधि है। (अधः पदेन ते विषदूषणं पदं आददे) नीचेवाले विषनाशक भागके साथ तेरी जड मैं प्राप्त करता हूं ॥ २४ ॥

हे औषधि ! तू (अंगात् अंगात्) प्रत्येक अवयवसे (प्र च्यावय) विषको दूर कर (हृदयं परिवर्जय) हृदयको भी छुडा दे, (विषस्य यत् तेजः) विषकी जो चमक है, (तत् ते अवाचीनं एतु) वह तेरे शरीरसे नीचेकी ओर दूर हो जावे ॥ २५ ॥

(विषं आरे अभूत्) विष दूर हुआ, (विषं अरौत्) विष चला गया, (विषे विषं अप्राग् अपि) विषमें विष मिलकर पहिले जैसे विषरहित हो चुका है। (अहेः विषं अग्निः निरधात्) सर्पका विष अग्नि दूर करता है, (सोमः निरणयीत्) सोम औषधि विष दूर करती है। (दंष्टारं विषं अन्वगात्) दंश करनेवाले सर्पके पास ही उलटा विष पहुंचा और उससे (अहिः अमृत) वही सर्प मर गया ॥ २६ ॥

यह संपूर्ण सूक्त सर्पविषको दूर करनेके लिये है। इसमें कई नाम औषधियोंके हैं, जो अच्छे वैद्योंको ही ज्ञात हो सकते हैं। वैसा तो यह सूक्त सरल है, परंतु कई मंत्र मंत्रशास्त्रकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं और कई संकेत वैद्यशास्त्रकी दृष्टिसे खुलनेवाले हैं। इसलिये उन विषयोंके विशेषज्ञ इस सूक्तकी अधिक खोज करें।
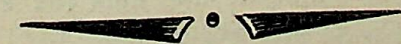
सर्पविष दूर करना

कां. ५, सू. १३

(ऋषिः– गरुत्मान् । देवता– तक्षकः ।)

दुदिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम् ।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जंजास ते विषम् ॥ १ ॥

यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्वग्रभम् ।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते ॥ २ ॥

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते ।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (दिवः कविः वरुणः हि मह्यं ददिः) द्युलोकके कवि वरुणने मुझे उपदेश दिया है कि (उग्रैः वचोभिः ते विषं निरिणामि) बलवान् वचनोंके द्वारा तेरा विष दूर करता हूं। (खातं अखातं उत सक्तं) घाव अधिक खुदा हुआ हो या खुदा हुआ हो अथवा विष केवल उपर चिपका ही हुआ हो, इस विषको (अग्रभं) मैं लेता हूं। (धन्वन् इरा इव) रेतीले स्थानमें जिस प्रकार जलधारा नष्ट होती है उस प्रकार (ते विषं निजजास) तेरा विष निःशेष नष्ट करता हूं ॥ १ ॥

(यत् ते अप-उदकं विषं) जो तेरा जलशोषक विष है (तत् ते एतासु अग्रभं) वह तेरा विष इनमें लेता हूं। (ते उत्तमं मध्यमं उत अवमं रसं गृह्णामि) तेरा उत्तम, मध्यम और नीचेवाला रस पकडकर लेता हूं। जो (आत् उ ते भियसा नेशत्) तेरे भयसे नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

(मे रवः नभसा तन्यतुः न वृषा) मेरा शब्द आकाशकी गर्जनाके समान बलवान् है (उग्रेण आत् उ ते ते बाधे) बलवाले वचनोंसे निश्चयपूर्वक तुझेही बाधा पहुंचाता हूं। (अहं नृभिः अस्य तं रसं अग्रभं) मैंने मनुष्योंके साथ इसके उस रसको ले लिया है ! (तमसः ज्योतिः सूर्यः इव उदेतु) अन्धकारसे ज्योति देनेवाले सूर्यके समान यह उदयको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(चक्षुषा ते चक्षुः हन्मि) आंखसे तेरी आंखका नाश करता हूं। (विषेण ते विषं हन्मि) विषसे तेरा विष नष्ट करता हूं। हे (अहे म्रियस्व, मा जीवीः) सर्प! तू मर जा, जीता मत रह। (विषं त्वा प्रत्यक् अभ्येतु) विष तेरे प्रति लौटकर आ जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दिव्य ज्ञानी कहता है कि बलवाले वचनोंसे सर्पका विष दूर होता है। विष गहरे घावमें गया हो, छोटे घावमें गया हो अथवा केवल ऊपर ही चिपका हो। उसको मैंने पकडता हूं और निःशेष करता हूं ॥ १ ॥

सर्प विष शोषक है। उसको ऊपर, मध्य भागमें और नीचेके भागमें पकड लेता हूं और सर्प विषके भयसे तुझे दूर करता हूं ॥ २ ॥

मेरा शब्द प्रभावशाली है, उसने विषकी बाधा दूर करता हूं, मैंने अन्य मनुष्योंकी सहायतासे विषके रसको स्तंभित किया है, अब यह सूर्यउदयके समान जाग उठेगा ॥ ३ ॥

विषसे विष दूर करता हूं। हे सांप! अब तू मर जा, जीवित न रह। तेरा विष लौटकर तेरे प्रति जावे ॥ ४ ॥

कैरा॑त पृश्न॒ उप॑तृण्य॒ बभ्र॒ आ मे॑ शृणुतासि॑ता॒ अली॑काः ।
मा मे॒ सख्युः॑ स्ता॒मान॒मपि॑ ष्ठाताश्रा॒वय॑न्तो॒ नि वि॒षे र॑मध्वम् ॥ ५ ॥
अ॒सि॒तस्य॑ तैमा॒तस्य॑ ब॒भ्रोरपो॑दकस्य च ।
सा॒त्रा॒सा॒हस्या॒हं म॒न्योरव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो॒ वि मु॑ञ्चामि॒ रथाँ॑ इव ॥ ६ ॥
आलि॑गी च॒ विलि॑गी च पि॒ता च॑ मा॒ता च॑ । वि॒द्म वः॑ स॒र्वतो॒ बन्ध्वर॑साः॒ किं क॑रिष्यथ ॥ ७ ॥
उ॒रु॒गूला॑या दुहि॒ता जा॒ता दा॒स्यसि॑क्न्या । प्र॒तङ्कं॑ दद्रु॒षीणां॑ सर्वा॑सामर॒सं वि॒षम् ॥ ८ ॥
क॒र्णा श्वा॒वित्तद॑ब्रवीद्गि॒रेर॑वचरन्ति॒का । याः काश्चे॒माः ख॑नि॒त्रिमा॒स्तासा॑मर॒सत॑मं वि॒षम् ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (कैरात, पृश्ने, उपतृण्य, बभ्रो, असिताः, अलीकाः) जंगलमें रहनेवाले, धब्बेवाले, घासमें रहने वाले, भूरे रंगवाले, कृष्ण सर्प और निंदनीय सर्पों ! (मे आशृणुत) मेरा भाषण सुनो । (मे सख्युः स्तामानं अपि मा स्थात) मेरे मित्रके घरके पास मत ठहरो । (आश्रावयन्तः विषे नि रमध्वं) अपनी फुंफकार सुनाते हुए दूर अपने विषमें ही रमते रहो ॥ ५ ॥

(असितस्त) कृष्ण (तैमातस्य) गीले स्थानपर रहनेवाले (बभ्रोः) भूरे रंगवाले (अप-उदकस्य) जलसे दूर रहनेवाले और (सात्रासाहस्य मन्योः) सबको पराजित करनेवाले क्रोधी सर्पकी विषबाधाको मैं उसी प्रकार (विमुञ्चामि) ढीली करता हूं, जिस प्रकार (धन्वनः ज्यां इव रथान् इव) धनुष्यकी दोरी और रथोंके बंधनोंको ढीला करते हैं ॥ ६ ॥

(आलिगी च विलिगी च) चिपकनेवाली और न चिपकनेवाली (पिता च माता च) तथा नर और मादा (वः बन्धु सर्वतः विद्म) तुम्हारे बंधुओंको भी हम सब प्रकारसे जानते हैं (अरसाः किं करिष्यथ) तुम नीरस होने पर क्या करोगे ? ॥ ७ ॥

(उरु-गूलायाः दुहिता) बहुत हिंसक सर्पिणीकी लडकी (असिक्न्याः दासी जाता) कृष्णसर्पिणीकी दासी हो गई है । इन (दद्रुषीणां सर्वासां) दाद पैदा करनेवाली सब सांपिनोंका (प्रतङ्कं विषं अरसं) कष्टदायक विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

(गिरेः अवचरन्तिका) पहाडके नीचे घूमनेवाली (कर्णा श्वावित्) कानवाली साही (तत् अब्रवीत्) वह बोली (याः काः च इमाः खनित्रिमाः) जो कोई इस भूमिको खोदकर इसमें रहते हैं, (तासां विषं अरसतमं) उन सांपिनोंका विष नीरस होवे ॥ ९ ॥

भावार्थ— जंगलमें रहनेवाले धब्बोंवाले, घांसमें रहनेवाले और भूरे रंगवाले काले और घृणित ऐसे होते हैं । हे सब सर्पों ! मेरे मित्रके घरके पास न ठहरो । और कहीं जाकर अपने विषके साथ रमो ॥ ५ ॥

कृष्ण, गीले स्थानपर रहने और भूरे रंववाले, जल स्थानसे दूर रहनेवाले और क्रोधी सर्पकी विषबाधाको मैं दूर करता हूं । धनुष्यपरसे डोरी उतारनेके समान मैं दूर करता हूं ॥ ६ ॥

विषकी बाधकता नष्ट होनेपर नर या मादा सांप क्या हानि करेगा ? ॥ ७ ॥

हिंसक कृष्णसर्पिणी और दाद उत्पन्न करनेवाली सांपिनका विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

सब पहाडी सर्पोंका विष साररहित हो जावे ॥ ९ ॥

ताबुवं न ताबुवं घेत्त्वमसि ताबुवम् । ताबुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥
तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम् । तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥

अर्थ— (ताबुवं न ताबुवं) ताबुव हिंसक नहीं है। (त्वं ताबुवं न घ इत् असि) तू ताबुव तो हिंसक निःसंदेह नहीं है। (ताबुवेन विषं अरसं) ताबुवके द्वारा विष नीरस होता है ॥ १० ॥

(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव भी नाशक नहीं है। (त्वं तस्तुवं न घ इत् असि) तू तस्तुव तो नाशक निःसंदेह नहीं है। (तस्तुवेन विषं अरसं) तस्तुव द्वारा विष निरस होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ— ताबुव और तस्तुव नामक पदार्थ विशेषसे सांपोंका विष निर्बल होता है ॥ १०-११ ॥

सर्पविष दूर करना

सर्पविष

इस सूक्तमें निम्नलिखित सर्पजातियोंका वर्णन है—

१ कैरातः— भील जहां रहते हैं उस जंगलमें रहनेवाला सर्प।
२ पृश्निः— धब्बोंवाला सर्प।
३ उपतृण्यः— घासमें रहनेवाला सर्प।
४ बभ्रुः— भूरे रंगवाला सर्प।
५ असितः— काले रंगवाला सर्प।
६ अलीकः— अमंगल सर्प।
७ तैमातः— गीले प्रदेशमें रहनेवाला सर्प।
८ अपोदकः— जो जलके पास नहीं रहता।
९ सात्रासाहः— इसके संबंधमें आनेवालेका नाश करनेवाला सर्प।
१० मन्युः— क्रोध धारण करनेवाला सर्प।
११ आलिगी— चिपकनेवाली अर्थात् शरीरको लपेटनेवाली सांपिन।
१२ विलिगी— शरीरसे दूर रहनेवाली सांपिन।
१३ उरु-गुला— जिसका निम्न प्रदेश बडा होता है।
१४ असिक्नी— काली सांपिन।
१५ दद्रुषी— जिस सांपिनके काटने पर शरीरपर दाद उठता है और दादसे रक्त निकलता है।
१६ कर्णा— कानवाली सांपिन।
१७ श्वावित्— कुत्ता जिसको काटता है, कुत्ता जिसको ढूंढकर निकालता है।
१८ खनित्रिमा— खोदी हुई भूमिमें रहनेवाली सांपिन।

इतनी सांपोंकी जातियोंके नाम इस सूक्तमें हैं। इनमेंसे दो तीन नामोंके विषयमें इसमें संदेह है और उनके ज्ञान निश्चित करनेके लिये अभी बहुत खोजकी अपेक्षा है।

उपाय

सर्पविषकी बाधा पर ' ताबुव और तस्तुव ' का उपाय इस सूक्तके अन्तिम दो मंत्रोंमें लिखा है। परंतु ये पदार्थ क्या हैं इसका ज्ञान खोज करने पर भी अभीतक हमें नहीं हुआ। संभव है कि ये कुछ औषधी खनिज पदार्थ या पत्थर जैसे पदार्थ अथवा मणि हों। संभव है ये सर्पविशेषके मस्तकमें मिलनेवाले मणियोंके नाम हों। कुछ निश्चयसे नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें खोज करनेकी आवश्यकता है।

दूसरा उपाय तीन स्थानपर बंध लगाकर विषकी गतिको रोकना है—

गृह्णामि ते मध्यमं उत्तमं अवमम्।
एतासु विषं अग्रभम् (मं. २)

' ऊपर, मध्यमें और नीचे डोरीसे बांधके, इनमें विषको पकड लेता हूं। ' यह विधि इस प्रकार है। प्रायः हाथ या पांवमें ही सांप काटता है। काटनेके साथ ही वहांसे विष ऊपर चढने लगता है, इस लिये काटते ही जंघाके मूलमें, घुटनेपर तथा कटे स्थानसे किंचित् ऊपर डोरी बांध देनेसे विषकी ऊपर आनेकी गति रुक जाती है। इस प्रकार विषकी गति रोककर फिर जहां तक विष गया हो, वहां पर उक्त पदार्थोंका प्रयोग करनेसे विष निःसत्त्व हो जाता है।

परंतु ' ताबुव और तस्तुव ' पदार्थ प्राप्त न होनेकी अवस्थामें यह उपाय कैसे किया जाय यह एक शंका है।

जहां तक धमनीमें विष पहुंचा होता है, वहांके बाल खडे नहीं रहते, इसलिये बालोंको देखनेसे पता लगता है कि यहां तक विष आया है। अतः विष जहां है वहां जलती अग्नि रखकर वह स्थान जला दिया जाए तो मनुष्य बच सकता है। परंतु यह बात इस सूक्तमें कही नहीं है।

यह सूक्त दुर्बोध है। इसलिये कई मंत्रोंका अर्थ भी ठीक प्रकार समझमें नहीं आया है, इस कारण मंत्रोंका विवरण भी अधिक नहीं हो सकता।

इस सूक्तके कई मंत्र ऐसे हैं कि जो मंत्रसामर्थ्यसे सांपके विषको उतारनेका ज्ञान देते हैं जैसे—

प्रत्यक् अभ्येतु ते विषम्। (मं. ४)

अहे! म्रियस्व। (मं. ४)

'हे सांप! तेरा विष लौटकर तेरे पास जावे! हे सर्प! तू मर जा।' तथा—

मे सख्युः स्तामानं मा आपि स्थाः। (मं. ५)

मेरे मित्रके घरके पास न ठहर।' इत्यादि मंत्र पढनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि रहनेवालेकी इच्छाशक्तिके प्रभावसे सर्पपर कुछ प्रभाव पडता होगा। हमने स्वयं अभीतक देखा नहीं है; परंतु बहुत लोग कहते हैं कि महाराष्ट्रमें ऐसे मांत्रिक हैं कि जो सर्पद्वारा दंशित मनुष्यके पास उस काटनेवाले सांपको बुलाते हैं, और उससे व्रणसे सब विष चुसवा लेते हैं। और इस प्रकार सर्पका विष शरीरसे बाहर निकल जानेपर वह मनुष्य जाग्रत होनेके समान उठता है। तृतीय मंत्रके अन्तिम चरणमें 'अन्धकारसे सूर्य उदय होनेके समान यह मनुष्य जाग उठे' (मं. ३) ऐसा कहा है। संभव है कि इस प्रकारका कुछ भाव ही इसमें हो।

यह सर्पदंशका विषय अत्यंत महत्त्वका है और इसलिये सब प्रकारके उपचारोंकी बडी खोज करनी चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि कौनसा उपाय निश्चित गुणकारी है।

सर्पविष

कां. ७, सू. ९८

(ऋषिः– गरुत्मान्। देवता– तक्षकः।)

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि। विषे विषमपृक्था विषमिद्वा अपृक्थाः। अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥ १ ॥

अर्थ— तू (अरिः वै असि) निश्चयसे शत्रु है। (अरिः असि) शत्रु ही है (अतः अप इहि) इसलिए दूर चला जा। (विषे विषं अपृक्थाः) विषमें विष मिला दिया है। (विषं इत् वै अपृक्थाः) निःसंदेह विष मिला दिया है। अतः (अहिं एव अभि अप इहि) सांपके पास ही जा और (तं जहि) उसको मार ॥ १ ॥

सर्पविष मनुष्यादि प्राणियोंका शत्रु है, अतः उसको मनुष्योंसे दूर रखना चाहिये। विषका उपचार विषसे ही होता है। ऐसा सुननेमें आया है कि सांपके काट लेने पर यदि वह मनुष्य उसी सांपको काट ले, तो वह मनुष्य बच जाता है, परंतु मनुष्यमें इतना धैर्य चाहिये। इससे विषके साथ विष मिल जाता है अर्थात् सांपके विषके साथ मनुष्यके शरीरमें आया हुआ विष मिल जाता है और वह मनुष्य बच जाता है। इस विषयमें अधिक खोज करनी चाहिये और निश्चय करना चाहिये, यह बात कहां तक सत्य है।

विष निवारणका उपाय

कां., ६ सू. १००

(ऋषिः— गरुत्मान् । देवता— वनस्पतिः ।)

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात्पृथिव्यदात् । तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥ १ ॥

यद्वो देवा उपजीका आसिञ्चन्धन्वन्युदकम् । तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥ २ ॥

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा । दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः विषदूषणं अदुः) देवोंने विषनिवारक उपाय दिया है। (सूर्यः अदात्) सूर्यने दिया है। (द्यौः अदात्, पृथिवी अदात्) द्युलोक और पृथ्वी लोकने भी दिया है। (सचित्ताः तिस्रः सरस्वतीः अदुः) एक विचारवाली तीनों सरस्वती देवियोंने विषनिवारक उपाय दिया है ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (उपजीकाः यत् उदकं) उपजीक नामक औषधियां जो जल (धन्वनि वः असिंचत्) मरुदेशमें आपके समीप सींचती हैं, (तेन देवप्रसूतेन) उस देवके द्वारा उत्पन्न जलसे (इदं विषं दूषयता) इस विष-का निवारण करो ॥ २ ॥

हे औषधि ! तू (असुराणां दुहिता असि) असुरोंकी दुहिता है। (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवों-की बहिन है। (दिवः पृथिव्याः संभूता) द्युलोक और भूलोकसे उत्पन्न हुई (सा विषं अरसं चकर्थ) वह तू विष को निर्बल बना ॥ ३ ॥

भावार्थ— पृथ्वी, सूर्य, वायु, जल आदि सब देव विषको दूर करते हैं। तथा कुछ विद्याएं भी ऐसी हैं जो विष दूर करती हैं ॥ १ ॥

मरुदेशमें भी जो जल होता है वह विष दूर करता है ॥ २ ॥

औषधि भी विष दूर करनेवाली है ॥ ३ ॥

यह सूक्त बडा दुर्बोधसा है। पहिले मंत्रमें कहा है कि पृथ्वी आदि अनेक देव विषनाशक गुण रखते हैं। अग्नि, जल, सोम आदिके प्रयोगसे विष दूर होनेकी बात वैद्यक ग्रंथोंमें भी कही है।

द्वितीय मंत्रमें 'उपजीका' मरुदेशमें जल उत्पन्न करती है वह जल विषनाशक है, ऐसा कहा है। यह उपजीका कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता। 'उपजीक' शब्दका अर्थ 'दूसरेके ऊपर रहकर अपनी उपजीविका करनेवाली।' इससे संभव प्रतीत होता हैं कि वृक्षोंपर उत्पन्न होनेवाली कोई वनस्पति हो, जिसमें रस बहुत आता हो और जो मरुदेशमें भी विपुल रससे युक्त होती हो। इस वनस्पतिके रससे या उसके जलसे विष दूर होता है।

यह वनस्पति (असु-राणां दुहिता) प्राण रक्षण करनेवालोंकी सहाय्यक और (देवानां स्वसा) इंद्रियोंके लिये भगिनीरूप है अर्थात् आरोग्यवर्धक है, यह निर्जल भूमिमें उगती है और विष दूर करती है। वैद्योंको इस वनस्पतिकी खोज करनी चाहिये।

सर्पसे बचना

कां. ६, सू. ५६

(ऋषिः- शन्तातिः । देवताः- विश्वेदेवाः, रुद्रः ।)

मा नो देवा अहिर्वधीत्सतोकान्त्सहपूरुषान् । संयतं न वि ष्परद्व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥ १ ॥

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिरश्चिराजये । स्वजाय बभ्रवे नमो नमो देवजनेभ्यः ॥ २ ॥

सं ते हन्मि दता दतः समु ते हन्वा हनू । सं ते जिह्वया जिह्वां सम्वास्नाह आस्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (अहिः सतोकान् सहपूरुषान्) सांप संतानों और पुरुषोंके समेत (नः मा वधीत्) हमें न मारे (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनों अर्थात् वैद्योंके लिये नमस्कार है । (संयतं न विष्परत्) बंद हुआ न खुल सकता है और (व्यात्तं न संयमत्) खुला हुआ बंद नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

(असिताय नमः अस्तु) काले सर्पके लिये नमस्कार हो, (तिरश्चिराजये नमः) तिरछी लकीरोंवाले सांपको नमस्कार हो (स्वजाय बभ्रवे नमः) लिपटनेवाले और भूरे रंगवाले सांपके लिये नमस्कार हो। तथा (देव-जनेभ्यः नमः) दिव्यजनोंके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

हे (अहे) सर्प ! (ते दतः दता संहन्मि) तेरे दांतोंको मैं दांतसे तोडता हूं । (ते हनू हन्वा सं उ) तेरे ठोढीको ठोढीसे सटा देता हूं । (ते जिह्वां जिह्वया सं) तेरी जिह्वाको जिह्वासे तोडता हूं । (ते आस्यं आस्ना सं हन्मि) तेरे मुखको मुखसे फाडता हूं ॥ ३ ॥

मनुष्योंको अपने निवासस्थानमें ऐसा सुप्रबंध करना चाहिये, कि जिससे सर्पदंशसे मनुष्य या पशु कदापि न मरे । तृतीय मंत्रसे सर्पको मारना चाहिये ऐसा भी पता लगता है ।

मंत्रोंका अन्य भाव दुर्बोध है और बडी खोजकी अपेक्षा करता है ।

सर्पविष निवारण

कां. ६, सू. १२

(ऋषिः- गरुत्मान् । देवता- तक्षकः ।

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् । रात्री जगदिवान्यद्धंसात्तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा । यद्भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सूर्यः द्यां इव) जिस प्रकार सूर्य द्युलोकको जानता है, उस प्रकार मैं (अहीनां जनिम परि अगमं) सर्पोंके जन्मवृत्तको जानता हूं । (रात्री हंसात् अन्यत् जगत् इव) रात्री जैसे सूर्यसे भिन्न जगत्को आवरण करती है (तेन ते विषं वारये) उसी प्रकार तेरे विषका मैं निवारण करता हूं ॥ १ ॥

(ब्रह्मभिः ऋषिभिः देवैः) ब्राह्मणों ऋषियों और देवोंने (यत् पुरा विदितं) जो पूर्वकालमें जान लिया था (तत् भूतं भव्यं आसन्वत) वह भूत भविष्य कालमें रहनेवाला ज्ञान है, (तेन ते विषं वारये) इससे तेरा विष दूर करता हूं ॥ २ ॥

*

मध्वा पृञ्चे नद्य१ः पर्वता गिरयो मधु । मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

अर्थ— (मध्वा पृञ्चे) मधुसे सिंचन करता हूं, (नद्यः पर्वताः, गिरयः मधु) नदियां, पर्वत, पहाड सब मधु देवें। (परुष्णी, शीपाला मधु) परुष्णी और शीपाला मधुरता देवे । (आस्ने शं अस्तु) तेरे मुखके लिये शान्ति और (हृदे शं) हृदयके लिये शान्ति मिले ॥ ३ ॥

इस मंत्रमें नदियों और पर्वतोंके झरनों आदिके जलकी धारासे सर्पविष उतारनेका विधान प्रतीत होता है । परंतु निश्चय नहीं है । इसकी खोज सर्पविषचिकित्सकको करनी चाहिये । जलधारासे सर्पविष दूर करनेका विधान वेदमें अन्यस्थानमें भी है । परंतु उसका तात्पर्य क्या है, यह समझमें नहीं आता । यदि बिच्छुका विष चढ रहा हो तो उसपर जलकी धारा एक वेगसे गिरानेसे बिच्छूका विष उतरता है । यह अनुभव हमने लिया है परंतु इससे सर्पविष उतरता है— ऐसा मानना कठिन है । इसी प्रकार इस सूक्तके अन्य विधान भी विचारणीय हैं ।

ज्वर

कां. ७, सू. ११६

(ऋषिः— अथर्वाङ्गिराः । देवता— चन्द्रमाः ।)

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे । नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने ॥ १ ॥
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्ये॒त्वव्रतः ॥ २ ॥

अर्थ— (रूराय) दाह करनेवाले, (च्यवनाय) हिलानेवाले, (नोदनाय) भडकानेवाले, (धृष्णवे) डरानेवाले भयानक, (शीताय) शीत लग कर आनेवाले और (पूर्वकृत्वने) पूर्वकी अवस्थाको काटनेवाले ज्वरके लिये (नमः नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

(यः अन्ये-द्युः) जो एक दिन छोडकर आनेवाला है, (उभय-द्युः) दो दिन छोडकर (अभ्येति) आता है अथवा जो (अव्रतः) नियम छोडकर आता है वह (इमं मण्डूकं अभ्येतु) इस मेंढकके पास चला जावे ॥ २ ॥

इस सूक्तमें नौ प्रकारके ज्वरोंका वर्णन है इनके लक्षण देखिये—

१ रूरः— जिस ज्वरमें शरीरका दाह होता है । यह संभवतः पित्तज्वर है ।
२ च्यवनः— इस ज्वरके आनेपर शरीर कांपने लगता है । यह ज्वर अतिशीत लगकर आता है ।
३ नोदनः— इस ज्वरके आनेपर मनुष्य पागलसा बन जाता है । मस्तिष्कपर इसका भयानक परिणाम होता है ।
४ धृष्णुः— इससे मनुष्य भयभीत होते हैं, रोगी बडा बेचैनसा होता है ।
५ शीतः— सर्दीसे आनेवाला यह ज्वर है ।
६ पूर्वकृत्वन्— शरीरकी पूर्व अवस्थाको काट देनेवाला यह ज्वर है, अर्थात् इसके आनेसे शरीरके सब अवयव बिगड जाते हैं ।
७ अन्येद्युः— एकदिन छोडकर आनेवाला ज्वर ।
८ उभयद्युः— दो दिन छोडकर आनेवाला ज्वर ।
९ अव्रतः— जिसके आनेका कोई नियम नहीं है ।

ये नौ प्रकारके ज्वर हैं । इनके शमनके उपाय इससे पूर्व बताये हैं । वेदमें वृत्रके वर्णनसे ज्वर चिकित्सा (वेदे वृत्रमिषेण ज्वरचिकित्सा) बतायी है । अर्थात् जैसे वृष्टिके होनेपर वृत्रका नाश होता है, उसी प्रकार पसीना आनेसे इस ज्वरका नाश होता है । अतः पसीना लाना इस ज्वरनिवारणका उपाय है ।

ज्वर-निवारण

कां. ५, सू. २२

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः । देवता- तक्मनाशनः ।)

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः ।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥
अयं यो विश्वान्हरितान्कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् ।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥
यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः । तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ ३ ॥
अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने । शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥
ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः । यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥

अर्थ— (अग्निः सोमः ग्रावा, वरुणः पूतदक्षाः वेदिः) अग्नि, सोम, पत्थर, वरुण और ये पवित्र बलवाले देव और वेदी (बर्हिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप्त समिधाएं, (इतः तक्मानं अप बाधतां) यहांसे ज्वरादि रोगको दूर करें । (अमुया द्वेषांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अयं विश्वान् हरितान् कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है । (अग्निः इव उच्छोचयन् अभि दुन्वन्,) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है । हे (तक्मन्) ज्वर ! (अधा हि अरसः भूयाः) और तू नीरस हो जा । (अधा न्यङ् अधराङ् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर हो जा ॥ २ ॥

(यः पुरुषः पारुषेयः) जो पर्वपर्वमें होता है और जो पर्वदोषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अवध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है । हे (विश्वधा-वीर्य) सब प्रकारके सामर्थ्यवाले ! (तक्मानं अधराञ्चं परासुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

(तक्मने नमः कृत्वाः) ज्वरको नमन करके (अधराञ्चं प्रहिणोमि) नीचे उतार देता हूँ । (शकंभरस्य मुष्टिहा) शाक भक्षककी मुष्टिसे अर्थात् बलसे मरनेवाला यह रोग (महावृषान् पुनः एतु) महावृष्टिवाले देशोंमें पुनः पुनः आ जाता है ॥ ४ ।

(अस्य ओकः मूजवतः) इसका घर मुञ्ज घासवाला स्थान है तथा (अस्य ओकः महावृषाः) इसका बडी वृष्टिवाला स्थान है । हे (तक्मन्) ज्वर ! (यावत् जातः) जबसे तू उत्पन्न हुआ है । (तावान् बल्हिकेषु गोचरः असि) तबसे बाल्हिकोंमें दीखता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— यज्ञसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥

ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वीर्य बनाता है, इस कारण यज्ञसे ज्वर हटता है ॥ २ ॥

ज्वरसे पर्व पर्वमें दर्द होता है, इसीलिये ऐसे ज्वरको हटाना चाहिये ॥ ३ ॥

बहुत वृष्टि जहां होती है, उन देशोंमें यह ज्वर होता है। शाकभोजी लोगोंमें एक विशेष बल होता है इस कारण उनसे यह ज्वर दूर भागता है ॥ ४ ॥

बहुवृष्टिवाले और मुंजा घासवाले देशोंमें यह ज्वर बहुत होता है ॥ ५ ॥

तक्मन्व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय । दासीं निष्टक्करीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥

तक्मन्मूजवतो गच्छ बल्हिकान्वा परस्तराम् । शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१तां तक्मन्वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

महावृषान्मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य । प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन्मृडयासि नः । अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥

यत्त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः । भीमास्ते तक्मन्हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

मा स्मैतान्त्सखीन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम् । मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत्त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (व्याल व्यङ्ग तक्मन्) सर्पके समान विषवाले और अंगोंको विरूप बनानेवाले ज्वर ! हे (वि गद) विशेष रोग ! तू (भूरि यावय) बहुत दूर चला जा । तू (निष्टक्करीं दासीं इच्छ) निकृष्टतामें रहनेके कारण क्षयको प्राप्त होनेवालीकी इच्छा कर और (तां वज्रेण समर्पय) उसपर अपना वज्र चला ॥ ६ ॥

(तक्मन् ! मूजवतः गच्छ) हे ज्वर ! मुंजवाले स्थानकी इच्छा कर, (बल्हीकान् वा परस्तरां) दूरके बाल्हीक देशोंकी इच्छा कर । उन देशोंमें (प्रफर्व्यं शूद्रां इच्छ) भ्रमण करनेवाली शोकमय स्त्रीकी इच्छा कर । हे (तक्मन्) ज्वर ! (तां वि इव धूनुहि) उसको पक्षीके समान कंपा दे ॥ ७ ॥

(महावृषान् मूजवतः बन्धु अद्धि) अधिक वृष्टिवाले और मुंजा घासवाले उन बंधन करनेवाले स्थानोंको तू खा। (परेत्य) दूर जाकर (एतानि इमा अन्यक्षेत्राणि) इन सब अन्य क्षेत्रोंको (तक्मने वै प्रब्रूमः) हम ज्वरके लिये बतलाते हैं ॥ ८ ॥

(अन्यक्षेत्रे न रमसे) दूसरे क्षेत्रमें तू नहीं रमता (वशी सन् नः मृडयासि) हमारे वशमें रहकर तू हमें सुखी करता है । (तक्मा प्रार्थः अभूत् उ) ज्वर प्रबल होगया है (स बल्हीकान् गमिष्यति) वह बाल्हीकोंके प्रति जावेगा ॥ ९ ॥

(यत् त्वं शीतः) जो तू सर्दी लगकर आनेवाला है, (अथो रूरः) अथवा अधिक पीडा देनेवाला रूक्ष है, (कासा सह अवेपयः) खांसीके साथ कंपा देता है । हे (तक्मन्) ज्वर ! (ते हेतयः भीमाः) तेरे शस्त्र भयंकर हैं। (ताभिः नः परिवृङ्ग्धि स्म) उनसे हम सबको बचाये रख ॥ १० ॥

हे (तक्मन्) ज्वर ! (बलासं कासं उद्युगं) कफ, खांसी, और क्षय (एतान् सखीन् मा स्म कुरुथाः) इनको अपने मित्र मत बना । (अतः अर्वाङ् मा स्म ऐः) इनसे युक्त होकर हमारे समीप न आ । हे (तक्मन्) ज्वर ! (तत् त्वा पुनः उपब्रुवे) यह तुझे मैं पुनः कहता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ— इस ज्वरका विष सर्पके समान होता है, जिससे अंग टेढे मेढे हो जाते हैं, मलिन जीवनवाले लोगोंमें यह होता है ॥ ६ ॥

घासवाले स्थानोंमें और अधिक वर्षावाले स्थानोंमें यह रोग होता है और इस ज्वरके आनेपर शरीर कांपता है ॥ ७ ॥

बडी वृष्टिवाले और घासवाले प्रदेशोंसे अन्य उत्तम क्षेत्रोंमें यह ज्वर नहीं होता ॥ ८ ॥

अन्य स्थानोंमें नहीं होता । नियमपूर्वक रहनेवाले लोगोंको यह रोग नहीं होता । उनसे दूर भागता है ॥ ९ ॥

यह ज्वर शीत, रूक्ष, और कफयुक्त होता है । इसका परिणाम भयंकर होता है, इसलिये इससे बचना चाहिये ॥ १० ॥

इस ज्वरके कफ, खांसी और क्षय ये तीन मित्र हैं । यह ज्वर हमारे पास कभी न आवे ॥ ११ ॥

तक्मन्भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह । पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥१२॥
तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् । तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥१३॥
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः । प्रैष्यन्जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥१४॥

अर्थ— हे (तक्मन्) ज्वर! तू (भ्रात्रा बलासेन) अपने भाई कफके साथ, (स्वस्रा कासिकया सह) बहिन खांसीके साथ, (पाप्मा भ्रातृव्येन सह) पापी भतीजे क्षयके साथ (अमुं अरणं जनं गच्छ) उस मलिन मनुष्यके पास जा ॥ १२ ॥

(तृतीयकं) तीसरे दिन आनेवाले, (वितृतीयं) तीन दिन छोडकर आनेवाले, (सदन्दिं) सदा रहनेवाले, (उत शारदं) और शरदृतुमें होनेवाले, (शीतं, रूरं) शीत अथवा पीडा देनेवाले, (ग्रैष्मं वार्षिकं) ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके संबंधसे आनेवाले ज्वरको (नाशय) हटा दे ॥ १३ ॥

(गन्धारिभ्यः मूजवद्भ्यः) गांधार मुंजवान् (अङ्गेभ्यः मगधेभ्यः) अंग और मगधोंको (प्रैष्यन् शेवधिं जनं इव) भेजे जानेवाले खजानेके रक्षक मनुष्य समानके (तक्मानं परि दध्मसि) ज्वरको हम भेज देते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ— इस ज्वरका भाई कफ, बहिन खांसी और भतीजा क्षय है। मलिन लोगोंके यह होता है ॥ १२ ॥

तीसरे दिन आनेवाला, चौथे दिन या तीन दिन छोडकर आनेवाला, सदा अर्थात् प्रतिदिन आनेवाला, शरद्, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके कारण होनेवाला, शीत और रूक्ष ये सब ज्वर हटाने चाहिये ॥ १३ ॥

जिस प्रकार रक्षक मनुष्य दूसरे देशको भेजे जाते हैं, उस प्रकार सब ज्वर दूर भेजे जांय, अर्थात् ये मनुष्योंको कष्ट न दें ॥ १४ ॥

ज्वर-निवारण

ज्वर रोग

ज्वर रोगके विषयमें बहुतसी विचारणीय बातें इस सूक्तमें कही हैं—

ज्वरके भेद

१ सदन्दिः— सदा, प्रतिदिन आनेवाला ज्वर।

२ तृतीयकः— तीसरे दिन आनेवाला ज्वर।

३ वि-तृतीयकः— तीन दिन छोडकर चौथे दिन आनेवाला चातुर्थिक आदि ज्वर। (मं. १३)

ये तीन भेद दिनोंके अन्तरके कारण होते हैं। ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके नाम ये हैं—

१ ग्रैष्मः— ग्रीष्म ऋतुमें होनेवाला ज्वर।

२ वार्षिकः— वर्षा ऋतुके कारण आनेवाला ज्वर।

३ शारदः— शरदृतुके कारण आनेवाला ज्वर (मं. १३)

ये तीन भेद ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके हैं। अब इस ज्वरके स्वरूप भेद देखिये।

१ शीतः— शीत ज्वर, जिसमें प्रथम शीत लगकर पश्चात् ज्वर आता है।

२ रूरः— रूक्ष, पित्त ज्वर, अथवा पीडा देनेवाला ज्वर। (मं. १३)

ये भेद इसका स्वरूप बता रहे हैं। ज्वरके साथ होनेवाले रोग ये हैं।

१ बलासः— कफ, बलगम, यह ज्वरमें होता है।

२ कासः— खांसी भी ज्वरमें होतीहै। (मं. ११, १२)

ये दोनों लक्षण बहुत खराब हैं, इसका परिणाम—

३ उत्-युगं— ये दोनों अर्थात् कफ और खांसी जब ज्वरके साथ इकट्ठी आती हैं, तब इसका नाम क्षय है। इसका परिणाम भयङ्कर होता है! (मं. ११)

देश विशेषके कारण होनेवाले ज्वरोंका परिगणन निम्न प्रकार इस सूक्तमें किया है।

१ महावृषः— बडी वृष्टिवाले प्रदेशमें होनेवाला ज्वर।

'अस्य ओकः महावृषः' —इसका घर बडी वृष्टि-वाला प्रदेश है। (मं. ५)

२ मूजवान्— घास जहां होती है ऐसे कीचडके स्थानमें यह ज्वर होता है।

'अस्य ओकः मूजवतः'— इसका घर मुंजवाला स्थान है। (मं. ५)

इस प्रकारके प्रदेश इस ज्वरके बढानेवाले होते हैं, अन्य क्षेत्रोंमें यह नहीं बढता अर्थात् हो भी जाए तो भी शीघ्र हट जाता है। इस ज्वरमें बहुत विष होता है, जो शरीरमें जाता है और वहां पीडा देता है—

१ व्यालः— सर्पके समान इस ज्वरका विष है।

व्यंगः—अंगोंमें विरूपता करनेवाला यह ज्वर है। (मं. ६)

मलिन स्त्रीपुरुषोंके यह विशेषकर होता है, अर्थात् अन्त-र्बाह्य पवित्र रहनेवालोंके नहीं होता, इस विषयमें मंत्रका प्रमाण देखिये—

१ अरणं जनं— नीच जीवन व्यतीत करनेवालेको होता है। (मं. १२)

२ निष्टकरीं— क्षीण और मलिनके होता है। (मं. ६)

३ प्रफर्व्यं— फूला मनुष्य, जिसमें सच्चा बल नहीं होता उसे होता है। (मं. ७)

यम, नियम पालन करनेवाला संयमी पुरुष सुखसे रहता है। इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र मननपूर्वक देखिये—

नः वशी मृडयासि। (मं. ९)

'हममें जो वशी अर्थात् संयमी पुरुष होता है, उसको सुख देता है,' अर्थात् यह ज्वर उसको कष्ट नहीं देता है। इस प्रकार यह संयम ज्वरादिसे और क्षयादिसे बचानेका एकमात्र उपाय है।

ज्वर निवृत्तिका उपाय

संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपाय ज्वरप्रतिबंधक हैं, परंतु किसी कारणसे ज्वरके आनेपर उसको हटानेके उपाय निम्न लिखित हैं—

१ यज्ञः— अग्निमें सोमादि औषधियोंका हवन करनेसे ज्वर हटता है। (मं. १)

२ अधराङ् परेहि— नीचके मार्गसे ज्वर दूर होता है, अर्थात् शौच शुद्धिसे, पेट साफ रहनेसे ज्वर दूर होता है। (मं. २)

३ शकं-भरस्य-मुष्टि-हा— शाकभोजीकी मुष्टिसे मर नेवाला ज्वर होता है। मांसभोजी मनुष्यकी अपेक्षा शाकभोजी मनुष्यमें ज्वरप्रतिबंधकशक्ति अधिक होती है, इसलिये मानो शाकभोजी मनुष्य इस ज्वरको मुक्केसे मार देता है। (मं. ४)

इस प्रकार इस ज्वरके संबंधका विवरण इस सूक्तमें है। वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें। इस सूक्तमें कहे हुए लक्षणोंसे प्रतीत होता है कि यह तक्मा आजकलका शीतज्वर अथवा 'मलेरिया' है।

शीत-ज्वर-दूरीकरण-सूक्त

कां. १, सू. २५

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता— यक्ष्मनाशनोऽग्निः।)

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत्प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म॒धृतो॒ नमां॑सि।
तत्र॑ त आहुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्र) जहां (धर्म-धृतः) धर्मका पालन करनेवाले सदाचारी लोग (नमांसि कृण्वन्) नमस्कार करते हैं, वहां (प्रविश्य) प्रवेश करके (यत् अग्निः) जो अग्नि (आपः अदहत्) प्राणधारक जलतत्त्वको जलाती है (तत्र) वहां (ते परमं जनित्रं) तेरा परम जन्मस्थान है, ऐसा (आहुः) कहते हैं। हे (तक्मन्) कष्ट देनेवाले ज्वर ! (सः संविद्वान्) जानता हुआ तू (नः परि वृंग्धि) हमको छोड दे ॥ १ ॥

भावार्थ— धार्मिक लोग जहां प्राणायामद्वारा पहुंचते और प्राणशक्तिका महत्व जानकर उसको प्रमाण भी करते हैं उस प्राणके मूलस्थानमें पहुंचकर यह ज्वरकी अग्नि प्राणधारक आप तत्वको जला देती है। यही इस ज्वरका परम स्थान है। यह जानकर इससे मनुष्य बचे ॥ १ ॥

यद्युर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम् ।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥
यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः ।
ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥
नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

अर्थ— (यदि आर्चिः) यदि तू ज्वालारूप, (यदि वा शोचिः असि) अथवा यदि तापरूप है, (यदि ते जनित्रं) यदि तेरा जन्म स्थान (शकल्य-इषि) अंगप्रत्यंगमें परिणाम करता है, तो तू (ह्रूडुः नाम असि) ह्रूडु [अर्थात् गति करनेवाला] नामका है। अतः हे (हरितस्य देव तक्मन्) पीलक रोगको उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव! (सः संविद्वान्) वह तू यह जानता हुआ (नः परि वृंग्धि) हमें छोड दे ॥ २ ॥

(यदि शोकः) यदि तू पीडा देनेवाला अथवा (यदि अभि शोकः) यदि सर्वत्र पीडा उत्पन्न करनेवाला हो, (यदि वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि) किंवा वरुण राजाका तू पुत्र ही क्यों न हो, तेरा नाम ह्रूडु है। हे पीलक रोगके उत्पन्न करनेवाले ज्वर देव! तू हम सबको यह जानकर छोड दे ॥ ३ ॥

(शीताय तक्मने नमः) शीत ज्वरके लिये नमस्कार, (रूराय शोचिषे नमः कृणोमि) रूखे तापको भी नमस्कार करता हूं। (यः अन्येद्युः) जो एक दिन छोडकर आनेवाला ज्वर है, (उभयद्युः) जो दो दिन छोडकर आनेवाला (अभ्येति) होता है, जो (तृतीयकाय) तिहारी है, उस (तक्मने नमः अस्तु) ज्वरके लिये नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— यह ज्वर बहुत जोरकी तपिश चढानेवाला हो किंवा अंदर ही अंदर तपानेवाला हो, किंवा हरएक अंग-प्रत्यंगको कमजोर करनेवाला हो, वह हरएक जीवनके अणुको हिला देता है इसलिये इसको 'ह्रूडु' कहते हैं, यह पांडुरोग अथवा कामिला रोगको उत्पन्न करता है, यह जानकर हरएक मनुष्य इससे अपना बचाव करें ॥ २ ॥

कई ज्वर विशेष अंगमें दर्द उत्पन्न करते हैं और कई संपूर्ण अंगप्रत्यंगोंमें पीडा उत्पन्न करते हैं, जलराज वरुणसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह हरएक अंगप्रत्यंगको हिला देता है और पीलक रोग शरीरमें उत्पन्न कर देता है। इसलिये हरएक मनुष्य इससे बचता रहे ॥ ३ ॥

शीत ज्वर, रूक्ष ज्वर, प्रतिदिन आनेवाला, एकदिन छोडकर आनेवाला, दो दिन छोडकर आनेवाला, तीसरे दिन आनेवाला ऐसे अनेक प्रकारके जो ज्वर हैं उनको नमस्कार हो अर्थात् ये हम सबसे दूर रहें ॥ ४ ॥

शीत-ज्वर-दूरीकरण-सूक्त

ज्वरकी उत्पत्ति

यह 'तक्मनाशन गण' का सूक्त है और इस सूक्तमें ज्वरकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार कही है।

वरुणस्य राज्ञः पुत्रः। (मं. ३)

यह 'वरुण राजाका पुत्र है।' अर्थात् वरुणसे इसकी उत्पत्ति हुई है। जलका अधिपति वरुण है यह सब जानते ही हैं। वरुण राजाके जलरूपी साम्राज्यमें यह जन्म लेता है। इसका सीधा आशय यह व्यक्त हो रहा है कि जहां जल स्थिररूपसे रहता या सडता है वहांसे इस ज्वरकी उत्पत्ति होती है। आजकल भी प्रायः यह बात निश्चितसी हो चुकी है कि जहां जल प्रवाहित नहीं होकर रुका रहता है, वहीं शीतज्वरकी उत्पत्ति होती है और शीतज्वर ऐसे ही स्थानोंमें फैलता है।

अतः ज्वरनाशका पहिला उपाय यही है कि अपने घरके आसपास तथा अपने ग्राममें अथवा निकट कोई ऐसे स्थान नहीं रखने चाहिये कि जहां जल रुकता और सडता रहे ।

ज्वरका परिणाम

इस सूक्तमें ज्वरका नाम ' ऱ्हूडु ' लिखा है । इसका अर्थ ' गति करनेवाला ' है । यह ज्वर जब शरीरमें आता है तब शरीरके खूनमें तथा अंगप्रत्यंगोंके जीवन–तत्त्वमें गति उत्पन्न करता है । और इसी कारण अंगप्रत्यंगका जीवनरस (आप् तत्त्व) जल जाता है । यही बात प्रथम मंत्रमें कही है—

अग्निः आपः अदहत् । (मं. १)

' यह ज्वर जीवनरसको ही जला देता है । ' इसी कारण ज्वरसे शरीरकी शक्ति कम होती है। आप् तत्त्व प्राणशक्तिका धारण करनेवाला है । (आपोमयः) आप् तत्त्वमय प्राण है यह उपनिषदोंका कथन है । प्राणका आश्रय शरीरस्थ आप् तत्त्व इस ज्वरके द्वारा जल जाता है, इसी कारण ज्वरके आनेपर जीवनशक्ति कम हो जाती है । इसी कारण इस ज्वरको पीलक रोगका उत्पादक कहा है । देखिये—

हरितस्य देव ! (मं. २, ३)

' पीलापन उत्पन्न करनेवाला ' फीका निस्तेज बनानेवाला, पीलकरोग, कामिला, पांडुरोग, जीवनरसका क्षय करनेवाला रोग इन सबका उत्पादक ज्वर है । यह ज्वर इतने भयानक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, इसीलिये इससे मनुष्यको अपने आपका बचाव करना चाहिये । यह ज्वर मूल स्थान-पर हमला करके प्राणको कमजोर बना देता है। इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन्
धर्मधृतो नमांसि ॥ (मं. १)

' जहां धार्मिक लोग जाकर मनन करते हैं वहां प्रविष्ट होकर अग्नि–ज्वर–प्राण धारक जीवनरसको जलाता है । '

योगादि साधनद्वारा धार्मिक लोग समाधि अवस्थामें हृदय कमलमें प्रविष्ट होते हैं, उसी हृदयमें जीवनका रस है, वही रस ज्वरसे जलता है । अर्थात् ज्वरका हृदयपर बहुत बुरा परिणाम होता है, जिससे बहुत कमजोरी भी उत्पन्न होती है । इसी कारण यह ज्वर पीलक रोग अथवा पांडुरोग उत्पन्न करता है ऐसा सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा है । यह हिमज्वर जिसको आजकल ' मलेरिया ' कहा जाता है बहुत ही हानिकारक है । इसलिये इसको हरएक प्रयत्नसे दूर रखना चाहिये, यही निम्नलिखित मंत्रभागमें सूचित किया है—

स नः संविद्वान् परिवृंग्धि तक्मन् । (मं. १,२,३)

' यह बात जानता हुआ मनुष्य ज्वरको दूर रखे ' अर्थात् ज्वरके कारण दूर करके उसका हमला मनुष्यपर न हो इस विषयमें योग्य प्रयत्न किये जांय । ज्वरके बाद उसके प्रति-कारका यत्न करना चाहिये इसमें किसीका विवाद नहीं हो सकता । इस सूक्त द्वारा वेद यही उपदेश देना चाहता है, कि अपने घरकी और ग्रामकी व्यवस्था मनुष्य इस प्रकार रखे कि यह मलेरिया ज्वर आवे ही न और उसके निवारणके लिये दवाइयां पीनी न पडें । क्योंकि यह विष इतना घातक है कि एक बार आया हुआ हिमज्वर अपना परिणाम स्थिर रूपसे शरीरमें रख जाता है और उसके निवारणके लिये वर्षों-तक और बडे व्ययसे यत्न करना पडता है ।

हिमज्वरके नाम

इस सूक्तमें हिमज्वरके निम्नलिखित नाम दिये हैं—

१ ऱ्हूडु— गति उत्पन्न करनेवाला, शरीरमें कंप उत्पन्न करनेवाला, ज्वरका शीत जिस समय प्रारंभ होता है, उस समय मनुष्य कांपने लगता है । मराठी भाषामें इस हिम ज्वरका नाम ' हुडहुडा ताप ' है, यह शब्द भी वैदिक ' ऱ्हूड ' शब्दके साथ मिलता जुलता है । यही शब्द विभिन्न हस्त-लिखित पुस्तकोंमें निम्नलिखित प्रकार लिखा हुआ मिलता है ' ऱ्हूड, ऱ्हूडु, ऱ्हुड, हुड, रुड, ऱ्हूदु, रुद्ध, ऱ्हूद्व ' । अथर्व-वेदकी पिप्पलाद शाखाकी संहितामें ' हुडु ' पाठ है । यह ' हुडु ' शब्द मराठी ' हुडहुडा ' शब्दके ही सदृश शब्द है । (मं. २, ३)

२ शीतः— जो ज्वर शीत लग कर प्रारंभ होता है । यह प्रतिदिन आनेवाला है । (मं. ४)

३ अन्येद्युः— एक दिन छोडकर आनेवाला । (मं. ४)

४ उभयद्युः— दूसरे दिन आनेवाला अथवा दो दिन छोडकर आनेवाला । (मं. ४)

५ तृतीयकः— तीसरे दिन आनेवाला किंवा तीन दिन छोडकर आनेवाला अथवा नियत दिन बीचमें छोडकर आने-वाला । (मं. ४)

६ तक्मा:०— जीवन दुःखमय बनानेवाला ज्वर ।

७ अर्चिः— अग्निकी ज्वालाएं भडकनेके समान जिसकी उष्णता बाहर बहुत होती है । (मं. २)

८ शोचिः, शोकः— जिसमें शरीरमें पीडा होती है। (मं. २)

९ शकल्य-इषिः— अंग-प्रत्यंग अलग अलग होनेके समान शिथिलता आती है। (मं. २)

१० अभिशोकः— जिसमें सब शरीर दर्द करता है। (मं. ३)

इन नामोंका विचार करनेसे इस ज्वरके स्वरूपका पता लग सकता है और निश्चय होता है कि यह वर्णन शीतज्वर जिसे मलेरिया आजकल कहते हैं, उसका ही है।

घरके पास जल सडता न रहे, घरके पासकी भूमि अच्छी रहे और किसी भी स्थानमें इस रोगकी उत्पत्ति होने योग्य परिस्थिति न हो, इसी प्रकार ग्राममें और ग्रामके आसपास भी जगह भी साफ और आरोग्यदायक होनेसे यह रोग पैदा ही नहीं होगा, क्योंकि यह ज्वर पानीके गीलेपनके कारण ही उत्पन्न होता है। इसीलिए इस सूक्तमें इस ज्वरको 'जल देवताका पुत्र' कहा गया है। इस प्रकार इस ज्वरका योग्य विचार करके उनसे सुरक्षित रहा जा सकता है।

नमः शब्द

इस सूक्तके अन्तिम मंत्रमें तीन बार नमः शब्द आया है। यहांका नमस्कार उसी तरहका नमस्कार प्रतीत होता है, जिस तरहका घातकी लोगोंको अपनेसे दूर रखनेके लिए किया जाता है। इसलिए यहां नमः शब्द ज्वरसे दूर रहनेकी सूचना देनेवाला है, ऐसा हमारा विचार है। नमस्कार और नमस्कारी शब्द एक औषधिका भी वाचक है। इस-लिए यदि 'नमः' शब्दसे भी किसी औषधिका बोध होता हो, तो उसकी खोज आवश्यक है। नम शब्दके 'नमस्कार' अन्न, दण्ड' ये तीन अर्थ तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'नम-स्करी, नमस्कार, नमस्कारी' ये पद औषधिवाचक होनेसे संशोधनीय हैं।

कुष्ठ-नाशन-सूक्त

कां. १, सू. २४

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता- आसुरी वनस्पतिः।)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ। तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत्किलासं सरूपामकरत्त्वचम् ॥ २ ॥

अर्थ— (सुपर्णः) सुपर्ण (प्रथमः जातः) सबसे पहिले हुआ (तस्य पित्तं) उसका पित्त (त्वं आसिथ) तूने प्राप्त किया है। (युधा जिता आसुरी) युद्धसे जीती हुई वह आसुरी (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको (तत् रूपं चक्रे) वह रूप देती रही ॥ १ ॥

(प्रथमा आसुरी) पहिली आसुरीने (इदं किलास-भेषजं) यह कुष्ठकी औषध (चक्रे) बनायी। (इदं) यह (किलासनाशनं) कुष्ठ रोगका नाश करनेवाली है। इसने (किलासं) कुष्ठका (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचं) त्वचाको (स-रूपां) समान रंगवाली (अकरत्) बना दिया ॥ २ ॥

भावार्थ— सुपर्ण नाम सूर्यका है उसकी किरणोंमें पित्त बढानेकी शक्ति है। सूर्यकिरणों द्वारा वह पित्त वनस्पतियोंमें संचित होता है। योग्य उपायोंसे स्वाधीन बनी हुई वनस्पतियां रूप रंगका सुधार करनेमें सहायक होती हैं ॥ १ ॥

आसुरी वनस्पतिसे कुष्ठ रोगके लिये उत्तम औषध बनती है। यह निश्चयसे कुष्ठ रोग दूर करती है और इससे शरीरकी त्वचा समान रंग रूपवाली बनती है ॥ २ ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता । सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता । इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

अर्थ— हे औषधे ! तेरी माता (सरूपा) समान रंगवाली है तथा तेरा पिता भी समान रंगवाला है। इसलिये (त्वं स-रूप-कृत्) तू भी समानरूप बनानेवाली है (सा) वह तू (इदं सरूपं) इसको समान रंगरूपवाला (कृधि) कर ॥ ३ ॥

श्यामा नामक वनस्पति (सरूपं-करणी) समान रूपरंग बनानेवाली है। यह (पृथिव्याः अध्युद्भृता) पृथ्वीसे उखाडी गई है। (इदं उ सु प्रसाधय) यह कर्म ठीक प्रकार सिद्ध कर और (पुनः रूपाणि कल्पय) फिर पूर्ववत् रंगरूप बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— जिन पौधोंके संयोगसे यह वनस्पति बनती है, वे पौधे (अर्थात् इसके माता पितारूपी पौधे भी) शरीरका रंग सुधारनेवाले हैं। इसलिये यह वनस्पति भी रंगका सुधार करनेमें समर्थ है ॥ ३ ॥

यह श्यामा वनस्पति शरीरकी चमडीका रंग ठीक करनेवाली है। यह भूमिसे उखाडी हुई यह कार्य करती है। अतः इसके उपयोगसे शरीरका रंग सुधारा जाय ॥ ४ ॥

कुष्ठ-नाशन-सूक्त

वनस्पतिके माता पिता

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें वनस्पतिके मातापिताओंका वर्णन है अर्थात् दो वृक्षवनस्पतियोंके संयोगसे बननेवाली यह तीसरी वनस्पति है। दो वृक्षोंके कलम जोडनेसे तीसरी वनस्पति विशेष गुणधर्मसे युक्त बनती है, यह उद्यानशास्त्र जाननेवाले जानते ही हैं। कुष्ठनाशक श्यामा आसुरी वनस्पति इस प्रकार बनायी जाती है। शरीरके रंगका सुधार करनेवाली दो औषधियोंके संयोगसे यह श्यामा बनती है। जो आधारका पौधा होता है उसका नाम माता और जिसकी शाखा उसपर चिपकायी या जोडी जाती है वह उसका पिता तथा उस संयोगसे जो नयी वनस्पति बनती है वह उक्त दोनोंका पुत्र है। (मंत्र ३)

सरूप-करण

शरीरके वास्तविक रंगके समान कुष्ठरोगके स्थानके चमडेका रंग बनाना 'सरूपकरण' का तात्पर्य है। आसुरी श्यामा वनस्पति यह करती है इसीलिये कुष्ठरोगपर इसका उपयोग होता है। (मं, २-३)

वनस्पतिपर विजय

युद्धसे जीती हुई आसुरी वनस्पति औषध बनाती है।' यह प्रथम मंत्रका कथन विशेष मननीय है। वैद्यको हरएक दवापर इस प्रकार प्रभुत्व संपादन करना पडता है। वनस्पतिके गुणधर्मोंसे पूर्ण परिचय और उसका उपयोग करनेका उत्तम ज्ञान वैद्यको होना आवश्यक है नहीं तो औषध सिद्ध नहीं कही जा सकती। (मं. १)

सूर्यका प्रभाव

सूर्यमें नाना प्रकारके वीर्य हैं। वे वीर्य किरणों द्वारा वनस्पतियोंमें जाते हैं। वनस्पति द्वारा वे ही वीर्य प्राप्त होते हैं और रोगनाश अथवा बलवर्धन करते हैं। इस प्रकार यह सब सूर्यका ही प्रभाव है। (मं. १)

सूर्यसे वीर्य-प्राप्ति

सूर्यसे नाना प्रकारके वीर्य प्राप्त करनेकी यह सूचना बहुत ही मनन करने योग्य है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। (ऋ. १।११५।१)

'सूर्य ही स्थावर जंगमका आत्मा है' यह वेदका उपदेश भी यहां मनन करना चाहिये। जब सूर्यसे नाना प्रकार से वीर्य प्राप्त करके हम अधिक वीर्यवान् हो जांयगे तभी यह मंत्रभाग हमारे अनुभवमें आ सकता है।

नंगे शरीर सूर्यकिरणोंमें विचरनेसे और सूर्यकिरणों द्वारा अपनी चमडी अच्छी प्रकार तपानेसे शरीरके अंदर सूर्यका

जीवन संचरित होता है, इसी प्रकार सूर्यसे तपी हुई वायु प्राणायामसे अंदर लेनेसे क्षययोगमें भी बडा लाभ पहुंचता है। इसी प्रकार कई रीतियोंसे हम सूर्यसे वीर्य प्राप्त कर सकते हैं।

वैद्योंको उचित है, कि वे खोजसे श्यामा वनस्पतिको प्राप्त करें और उसके योगसे कुष्ठ रोग दूर करें। तथा सूर्यसे अनेक वीर्य प्राप्त करनेके उपाय ढूंढकर निकालें और उनका उपयोग आरोग्य बढानेमें करते रहें।

श्वेतकुष्ठ-नाशन-सूक्त

कां. १, सू. २३

(ऋषिः- अथर्वा । देवता- औषधिः ।)

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च । इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् । आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव । असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत्त्वचि । दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (रामे कृष्णे असिक्नि) हे रामा कृष्णा और असिक्नि औषधि ! तू (नक्तं जाता असि) रात्रिके समय उत्पन्न हुई है। हे (रजनि) रंग देनेवाली ! (यत् किलासं पलितं च) जो कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ है (इदं रजय) उसको रंग दे ॥ १ ॥

(इतः) इसके शरीरसे (किलासं पलितं) कुष्ठ और श्वेत कुष्ठ तथा (पृषत्) धब्बे आदि सब (निः नाशय) नष्ट कर दे। (शुक्लानि परा पातय) श्वेत धब्बे दूर कर दे (स्वःवर्णः) अपना रंग (त्वा) तुझे (आविशतां) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(ते प्रलयनं) तेरा लयस्थान (असितं) कृष्ण वर्ण है तथा (तव अवस्थानं) तेरा स्थान भी (असितं) काला है, हे औषधे ! तू स्वयं (असिक्नी असि) काले रंगवाली है इसलिये (इतः) यहांसे (पृषत्) धब्बे (निः नाशय) नष्ट कर दे ॥ ३ ॥

(दूष्या कृतस्य) दोषके कारण उत्पन्न हुए (अस्थिजस्य तनूजस्य च) हड्डीसे तथा शरीरसे उत्पन्न हुए (किलासस्य यत् त्वचि श्वेतं लक्ष्म) कुष्ठका जो त्वचापर श्वेत चिन्ह है उसको (ब्रह्मणा अनीनशं) इस ज्ञानसे मैंने नाश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ— रामा कृष्णा असिक्नी ये औषधियां हैं, इनका पोषण रात्रिके समय होता है, इनमें रंग बढानेका सामर्थ्य है। इसलिये इनके लेपनसे श्वेतकुष्ठ दूर होता है ॥ १ ॥

शरीरपर जो श्वेत कुष्ठके धब्बे होते हैं, उन श्वेत धब्बेको इस औषधिके लेपनसे दूर कर दे ॥ २ ॥

यह वनस्पति नष्ट होनेपर भी काले रंगकी होती है, उसका स्थान काले रंगका होता है और वनस्पति भी स्वयं काले रंगवाली है, इसी कारण यह वनस्पति श्वेत धब्बोंको दूर कर देती है ॥ ३ ॥

दुराचारके दोषोंसे उत्पन्न, हड्डीसे उत्पन्न, मांससे उत्पन्न हुए सब प्रकारके श्वेत कुष्ठके धब्बोंको इस ज्ञानसे दूर किया जाता है ॥ ४ ॥

श्वेतकुष्ठ-नाशन-सूक्त

श्वेतकुष्ठ

इस रोगमें गोरे कालेका भेद स्वाभाविक होनेपर भी चमडीका एक विलक्षण रंग हो जाता है। और रंग नष्ट हो कर चमडीपर श्वेतसे धब्बे दिखाई देते हैं। उसका नाम ही श्वेत कुष्ठ होता है। इस श्वेत कुष्ठके शरीरपर होनेसे शरीरका सौंदर्य नष्ट होजाता है और सुडौल सुंदर मनुष्य भी कुरूपसा दिखाई देता है, इसलिये इस (श्वेत लक्ष्म) श्वेत कुष्ठके दूर करनेका उपाय वेदने यहां बताया है।

निदान

वेद इस श्वेत कुष्ठके निदान इस सूक्तमें निम्न प्रकार देता है—

(१) दूष्या कृतस्य— दोषयुक्त कृत्य अर्थात् दोषपूर्ण आचरण। सदाचार न होनेसे अथवा आचार विषयक कोई दोष कुलमें रहनेसे यह कुष्ठ होता है। व्यक्तिदोषसे तथा कुलके दोषसे भी यह कुष्ठ होता है।

(२) अस्थिजस्य— अस्थिगत दोषसे यह होता है।

(३) तनूजस्य— शारीरिक अर्थात् मांसके दोषसे होता है।

(४) त्वचि— चमडीके अंदर कुछ दोष होनेसे भी यह होता है।

वे दोष सबके सब हों या इनमेंसे थोडे हों यह कुष्ठ हो जाता है।

दो भेद और उनका उपाय

इस कुष्ठमें दो भेद होते हैं, एक किलास और दूसरा पलित। पलित शब्दमें केवल श्वेतत्वका ही बोध होता है इस कारण यह श्वेत धब्बोंका वाचक स्पष्ट है। इसको छोडकर दूसरे कुष्ठका नाम किलास प्रतीत होता है, जिसमें चमडी विरूपसी बनती है। सुयोग्य वैद्य इन शब्दोंका अर्थ निश्चय करें।

'रामा, कृष्णा, असिक्नी' इन औषधियोंका इस कुष्ठपर उपयोग होता है। ये नाम निश्चयसे किन औषधियोंके बोधक हैं और किन औषधियोंका उपयोग इस कुष्ठके निवारण करनेके लिये हो सकता है। इस विषयमें केवल सुयोग्य वैद्य ही निश्चित मत दे सकते हैं, तथा वे ही योग्य मार्गसे खोज कर सकते हैं। वेदमें बहुतसी विद्याएं होनेसे अनेक विद्याओंके पंडित विद्वानों मिलनेपर ही वेदकी खोज हो सकती है। अतः सुयोग्य वैद्योंको आयुर्वेद विषयक वेदभागकी खोज करनी चाहिये और यह प्रत्यक्ष विषय होनेसे इन औषधादिका प्रयोग करके ही इसका सप्रयोग प्रतिपादन करना चाहिये।

रंगका घुसना

कई लोग समझते हैं कि ऊपर ही ऊपर वनस्पतिका रस आदि लगानेसे चमडीका ऊपरका रंग बदल जाता है, परंतु यह सत्य नहीं है। इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें—

आ त्वा स्वो विशतां वर्णः। (मं. २)

'रंग अंदर घुस जाय' यह मंत्रभाग बता रहा है कि इन औषधियोंका परिणाम चमडीके अंदर ही होना अभीष्ट है, न कि केवल ऊपर ही ऊपर। ऊपर परिणाम हो परंतु 'विशतां' क्रिया 'अंदर घुसने' का भाव बता रही है। इसलिये चमडीके अंदर रंग घुस जाता है और वहां वह स्थिर हो जाता है। यह मंत्रका कथन स्पष्ट है।

औषधियोंका पोषण

औषधियोंका राजा सोम–चंद्र–है, इसलिये औषधियोंका पोषण और वर्धन रात्रिके समय होता है। यही बात 'नक्तं जाता' शब्दोंसे इस सूक्तमें बतायी है। रात्रिके समय बनी बढी या पुष्ट हुई औषधि होती है। प्रायः सभी औषधियोंके संबंधमें यह बात सत्य है ऐसा हमारा ख्याल है।

गण्डमालाकी चिकित्सा

कां. ७, सू. ७६

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– अपचिद्भैषज्यं, जायान्यः, इन्द्रः ।)

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः । सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः । विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥ २ ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति । निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे । कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

अर्थ— (सुस्रसः सुस्रसः आ) बहनेवालीसे भी अधिक बहनेवाली, (असतीभ्यः असत्तराः) बुरीसे भी बुरी, (सेहोः अरसतराः) शुष्कसे भी अधिक शुष्क और (लवणात् विक्लेदीयसीः) नमकसे भी अधिक पानी निकालनेवाली गण्डमाला है ॥ १ ॥

(याः अपचितः ग्रैव्याः) जो गण्डमाला गलेमें होती है, (अथो या उपपक्ष्याः) और जो कन्धों या बगलोंमें होती है तथा (याः अपचितः विजाम्नि) जो गंडमाला गुह्यस्थानपर होती है, ये सब (स्वयं स्रसः) स्वयं बहनेवाली हैं ॥ २ ॥

(यः कीकसाः प्रशृणाति) जो पसलियोंको तोडता है, जो (तलीद्यं अवतिष्ठति) तलवेमें बैठता है (यः कः च ककुदि श्रितः) जो रोग पीठमें जम गया होता है, (तं सर्वं जायान्यं) उस सब स्त्री द्वारा आनेवाले रोगको (निः हाः) निकाल दो ॥ ३ ॥

(पक्षी जायान्यः पतति) पक्षीके समान यह स्त्रीसे उत्पन्न रोग उडता है और (सः पूरुषं आविशति) वह मनुष्यके पास पहुंचता है, (तत् अक्षितस्य सुक्षतस्य उभयोः च) वह चिरकालसे रोगग्रस्त न हुए अथवा व्रणयुक्त बने हुए दोनोंका (भेषजं) औषध है ॥ ४ ॥

हे (जायान्य) स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाले क्षयरोग ! (यतः जायसे) जहांसे तू उत्पन्न होता है, (ते जानं विद्म वै) वह तेरा जन्मस्थान हम जानते हैं । (त्वं तत्र कथं हनः) तू वहां कैसे मारा जाता है (यस्य गृहे हविः कृण्मः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— सब गण्डमाला बहनेवाली, बुरी, खुष्की उत्पन्न करनेवाली और द्रव उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ १ ॥

कई गण्डमाला गलेमें, कन्धेमें, गुह्यस्थानपर होती है और ये सब स्राव करनेवाली होती हैं ॥ २ ॥

हड्डीमें, तलवेमें, पीठमें एक रोग होता है वह स्त्रीसंबंधसे रोग होता है ॥ ३ ॥

इसके बीज पक्षीके समान हवामें उडते हैं, ये मनुष्यमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं । जो लोग ऐसे रोगसे चिरकालसे ग्रस्त होते हैं, अथवा जिनमें व्रण होते हैं, ऐसे रोगका भी औषधसे उपचार करना चाहिये ॥ ४ ॥

स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला क्षयरोग कैसे उत्पन्न होता है यह जानना चाहिये । जिसके घरमें हवन होता है वहांके रोगबीज हवनसे जल जाते हैं ॥ ५ ॥

धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यंन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

अर्थ—हे (शूर धृषत् इन्द्र) शूर, शत्रुको दबानेवाले इन्द्र ! (कलशे सोमं पिब) पात्रमें रखा हुआ सोमरस पी। तू (वसूनां समरे वृत्रहा) धनोंके युद्धमें शत्रुका पराजय करनेवाला है। (माध्यन्दिने सवने आवृषस्व) मध्यदिनके सवनके समय तू बलवान् हो। (रयि-स्थानः अस्मासु रयिं धेहि) तू धनके स्थानमें रहकर हमें धन दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे शूर प्रभो ! इस सोमरसका सेवन करो। तू शत्रुओंका नाश करनेवाला और बलवान् है। हमें धन दे ॥ ६ ॥

गण्डमाला

इस एक सूक्तमें वस्तुतः भिन्न भिन्न दो सूक्त हैं। और एकका दूसरेके साथ कोई संबंध नहीं। परंतु यदि इन दो सूक्तोंका संबंध देखना हो, तो एक ही विचारसे देखा जा सकता है। पहिले दो मंत्रोंमें जिस गण्डमालाका उल्लेख है, वह गण्डमाला क्षयरोगसे उत्पन्न होती है जो क्षयरोग स्त्रीके विषयातिरेकसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार संबंध देखनेसे ये दो सूक्त विभिन्न होते हुए भी एक स्थानपर क्यों रखे हैं, इसका ज्ञान हो सकता है।

यह गण्डमाला बहनेवाली, खुश्की बढानेवाली, नमक जैसी गोली रहनेवाली, बुरा परिणाम करनेवाली, गलेमें उत्पन्न होनेवाली, पसलियोंमें उत्पन्न होनेवाली होती है इसकी उत्पत्ति गुप्त स्थानके विषयातिरेकसे होती है।

इसके रोगबीज पसलियोंको और हड्डियोंको कमजोर करते हैं, हाथ पांवके तलवोंमें गर्मी पैदा करते हैं, पीठकी रीढमें रहते हैं। इन स्थानोंसे इनको हटाना चाहिये।

इस क्षयके रोगबीज पक्षी जैसे हवामें उडते हैं और वे—

पक्षी जायान्यः पतति। स पूरुषं आविशति ॥ (मं. ४)

'पक्षी जैसे क्षयरोगके बीज उडते हैं, और वे मनुष्यमें प्रवेश करते हैं' तथा ये (जायान्यः) स्त्रीसंबंधसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् स्त्रीसे अति संबंध करनेसे शरीर वीर्यहीन होता है और इनको बढनेका अवसर मिलता है।

हवनसे नीरोगता

यस्य गृहे हविः कृण्मः, तत्र हनः। (मं. ५)

'जिसके घरमें हवन करते हैं वहां इनका नाश होता है' ये क्षयरोगके बीज हवामें उडकर आते हैं और हवन होते ही इनका नाश होता है। यह हवनका महत्त्व है। हवन आरोग्य देनेवाला है। इस प्रकार नीरोग बने मनुष्य शूर होते हैं, वे सोमरस पान करें, और अपने शत्रुओंका दमन करके अपने लिये यश और धन संपादन करें।

गण्डमालाकी चिकित्सा

कां. ७, सू. ७४

(ऋषिः— अथर्वाङ्गिराः। देवता— मन्त्रोक्ताः, जातवेदाः।)

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम। मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अर्थ— (लोहिनीनां अपचितां) लाल गण्डमालाकी (कृष्णा माता इति शुश्रुम) कृष्णा उत्पादक है ऐसा सुना जाता है। (ताः सर्वाः) उन सब गण्डमालाओंका (देवस्य मुनेः मूलेन अहं विध्यामि) मुनि नामक दिव्य वनस्पतिकी मूल-जड-से मैं नाश करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— लाल रंगवाली गण्डमालाका नाश करनेके लिये मुनि नामक औषधीकी जड बडी उपयोगी होती है ॥ १ ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् । इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि तं ईर्ष्याममीमदम् । अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि ॥ ३ ॥

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह ।

तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे ॥ ४ ॥

अर्थ—(आसां प्रथमां विध्यामि) इनकी पहिली गण्डमालाको मैं वेधता हूं, (उत मध्यमां विध्यामि) और मध्यमको वेधता हूं । (आसां जघन्यां इदं आ छिनद्मि) इनकी अत्यन्त खराब गण्डमालाको भी मैं उसी प्रकार छेदता हूं (स्तुकां इव) जिस प्रकार ग्रंथिको खोलते हैं ॥ २ ॥

(त्वाष्ट्रेण वचसा) सूक्ष्मता उत्पन्न करनेवाली वाणीसे (अहं ते ईर्ष्यां वि अमीमदं) मैं तेरी ईर्ष्या दूर करता हूं । हे पते ! (अथ यः ते मन्युः) और जो तेरा क्रोध है, (ते तं शमयामसि) तेरे उस क्रोधको हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

हे (व्रतपते) व्रतपालन करनेवाले ! (त्वं व्रतेन समक्तः) तू व्रतसे संयुक्त होकर (इह विश्वाहा सुमनाः दीदिहि) यहां सर्वदा उत्तम मनवाला होकर प्रकाशित हो । हे (जातवेदः) अग्ने ! (सर्वे वयं तं त्वा समिद्धं) हम सब उस तुझ प्रदीप्त हुएको (प्रजावन्तः उपसदेम) प्रजावाले होकर प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ— इससे पहिली, बीचकी और अन्तकी गण्डमाला दूर होती है ॥ २ ॥

क्रोध और ईर्ष्या सूक्ष्म विचारके द्वारा दूर किये जायें ॥ ३ ॥

नियमपालनसे सदा उत्तम मन रहता है और मनुष्य प्रकाशमान हो सकता है। इस प्रकार सब तेजस्वी होकर, बालबच्चोंको साथ लेते हुए हम तेजस्वी ईश्वरकी उपासना करें ॥ ४ ॥

मुनि नाम ‘ दमनक, बक, पलाश, प्रियाल, मदन ’ इत्यादि अनेक औषधियोंका है, उनमेंसे कौनसी औषधि गण्डमाला दूर करनेवाली है इसका निश्चय वैद्योंको करना चाहिये । क्रोध मनसे हटाना, पथ्यके नियमोंका पालन करना इत्यादि बातें आरोग्य देनेवाली हैं इसमें संदेह नहीं है ।

गण्डमालाका निवारण

कां. ६, सू. ८३

(ऋषिः- भगः । देवता- मन्त्रोक्ता ।)

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव । सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ १ ॥

अर्थ—(वसतेः सुपर्णः इव) अपने निवासस्थानसे जैसे गरुड उडता है उसी प्रकार, हे (अपचितः) गण्डमाला नामक रोगो ! तुम (प्र पतत) उड जाओ । (सूर्यः भेषजं कृणोतु) सूर्य इसका औषध बनावे और (चन्द्रमाः वा उप उच्छतु) चन्द्र रोगको दूर करे ॥ १ ॥

भावार्थ— गंडमालाका औषध सूर्य किरणोंमें है, और चन्द्रमाके प्रकाशसे भी होता है । इससे गण्डमाला शीघ्र दूर हो जाती है ॥ १ ॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे । सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥
असूतिका रामायण्यपचित्प्र पतिष्यति । ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

अर्थ— (एका एनी) एक चितकबरी, (एका श्येनी) एक श्वेत, (एका कृष्णा) एक काली, (द्वे रोहिणी) और लाल रंगवाली दो इतने इनमें भेद हैं । (सर्वासां नाम अग्रभं) सबका नाम मैंने लिया है, अतः (अवीरघ्नीः अपेतन) मनुष्यकी हिंसा न करती हुई तुम यहांसे दूर भाग जाओ ॥ २ ॥

(रामायणी असूतिका अपचित्) नाडीमें छिपी रहनेवाली रोगकी जड यह गंडमाला रोगकी उत्पत्ति न करती हुई (प्रपतिष्यति) दूर होगी । (इतः ग्लौ प्रपतिष्यति) यहांसे यह गलनेवाली दूर होगी, तथा (सः गलुन्तः नशिष्यति) वह सडनेवाला रोग नाशको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(स्वां आहुतिं जुषाणः वीहि) अपने हवनकी आहुतिका सेवन करता हुआ भाग जा, (यत् इदं मनसा जुहोमि स्वाहा) जो यह मैं मनसे हवन करता हूं वह उत्तम हवन होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— काली, श्वेत, चितकबरी, साधारण लाल और अधिक लाल ये पांच प्रकारकी गण्डमाला होती है । इनसे मनुष्यकी हानि न हो और ये सब रोग दूर हों ॥ २ ॥

इसका बीज धमनिमें रहता है तथा इनमें फोडेवाली, गलनेवाली और सडनेवाली ऐसे भेद होते हैं । ये सब प्रकारके रोग पूर्वोक्त उपचारसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

मन लगाकर उत्तम हवन करनेसे भी यह रोग दूर होता है ॥ ४ ॥

गण्डमाला

सूर्यकिरण, चन्द्रप्रभा और मन लगाकर किया हुआ हवन इन तीन उपचारोंसे गण्डमाला दूर होती है । इसकी उपचार पद्धतिके विषयमें वैद्योंको विचार करना उचित है ।

रोग-कृमि निवारण

कां., ५ सू. २९

(ऋषिः— चातनः । देवता— जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः ।)

पुरस्ताद्युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।
त्वं भिषग्भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

अर्थ— हे जातवेद अग्ने ! (त्वं भिषक्) तू वैद्य और (भेषजस्य कर्ता असि) औषधका निर्माण करनेवाला है (पुरस्तात् युक्तः वह) पहलेसे सब कार्योंमें नियुक्त होकर कार्यके भारको उठा। (यथा इदं क्रियमाणं विद्धि) जैसे यह कार्य किया जा रहा है, उसे तू जान । (त्वया गां अश्वं पुरुषं सनेम) तेरी सहायतासे गौ, घोडे और मनुष्योंको उत्तम प्रकार नीरोग अवस्थामें हम प्राप्त करें ॥ १ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी वैद्य ! तू स्वयं वैद्य है और औषध बनानेमें प्रवीण है। रोगनिवारणके उपाय जो यहां किए जाते हैं, वे ठीक हैं वा नहीं, इसका निरीक्षण कर । तेरी चिकित्सासे हम गौवें, घोडे और मनुष्योंको उत्तम नीरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकेंगे ॥ १ ॥

तथा तदंग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥
यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदंग्ने कृणु जातवेदः ।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥
अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि ।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥
यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत्पिशाचैः ।
तदग्ने विद्वान्पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥
आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३यमस्तु ॥ ६ ॥

अर्थ— हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ (तथा तत् कुरु) वैसा प्रबन्ध कर (यः नः दिदेव) जो हमें पीडा देता है और (यतमः जघास) जो हमें खा जाता है (अस्य यथा सः परिधिः पताति) ऐसे इस रोगकी वह मर्यादा गिर जावे ॥ २ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ तू (तथा कुरु) वैसा आचरण कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह सीमा नष्ट हो जावे ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (अस्य अक्ष्यौ निविध्य) इसकी आंखोंको छेद डाल, (हृदयं निविध्य) हृदयको वेध डाल, (जिह्वां नि तृन्धि) जिव्हाको काट दे (दतः प्रमृणीहि) दांतोंको भी तोड डाल । हे (यविष्ठ) बलवाले ! (अस्य यतमः पिशाचः जघास) इसको जिस रक्त भक्षकने खाया है, (तं प्रति शृणीहि) उसका नाश कर ॥ ४ ॥

हे विद्वान् अग्ने ! (पिशाचैः अस्य आत्मनः) मांस भक्षकोंके द्वारा इसके अपने शरीरका (यत् हृतं, विहृतं, यत् पराभृतं) जो भाग हरा गया, छीना गया और लूट लिया गया है और (यतमत् जग्धं) जो भाग खा लिया गया है, (त्वं तत् पुनः आ भर) तू वह फिर भर दे, और हम (शरीरे मांसं असुं आ ईरयामः) शरीरमें मांस और प्राणको स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

(यः पिशाचः आमे सुपक्वे) जो मांसभोजी क्रिमी कच्चे, पक्के (शबले विपक्वे अशने मा ददम्भ) अधपके, विशेष पके भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे हानि पहुंचाता है, (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह स्वयं और प्रजाके साथ वे सब मांसभोजी क्रिमी (वि यातयन्तां) हटाये जाएं और (अयं अगदः अस्तु) यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— तू जल, औषधि, वायु आदि देवताओंको अनुकूल बनाकर ऐसा प्रबन्ध कर कि जिससे पीडा देनेवाले और मांसको क्षीण करनेवाले रोग जन्तुओंकी शरीरमें बनी मर्यादा नष्ट हो जावे ॥ २-३ ॥

जिस मांस भक्षक रोग क्रिमीने इसके मांसको खाया है, उसका नाश कर, उसके सब अवयव नष्ट कर दे ॥ ४ ॥

मांसभक्षक रोग क्रिमियोंने इस रोगीके जो जो अवयव क्षीण किए हैं, उनको फिर पुष्ट कर और इसके शरीरमें पुनः मांसकी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

जो शरीर क्षीण करनेवाले क्रिमी कच्चे, अधपके, पक्के और अधिक पके हुए भोजनमें प्रविष्ट होकर मनुष्यको सताते हैं, उनका समूल नाश किया जाए और यह मनुष्य नीरोग हो जावे ॥ ६ ॥

❀

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३ यः ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ७ ॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ८ ॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम् ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥
क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥
सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः ।
सहमूरानन्नु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

अर्थ— (यतमः क्षीरे मन्थे अकृष्टपच्ये धान्ये) जो दूधमें, मठेमें, विना खेतीसे उत्पन्न हुए धान्यमें तथा (यः अशने मा ददम्भ) जो भोजनमें प्रविष्ट होकर मुझे दबाता है। (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हटा दिया जावे और यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ७ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभक्षक क्रिमि (अपां पाने) जलके पान करनेमें और (यातूनां शयने शयानं) यात्रियोंके बिछोने पर सोते हुये (मा ददम्भ) मुझको दबा रहा है (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह मांसभक्षक क्रिमि अपनी संततिके साथ दूर हटाया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ८ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसभोजी क्रिमी (दिवा नक्तं यातूनां शयने शयानं मां ददम्भ) दिनमें वा रात्रीमें यात्रियोंके शयन स्थानमें सोते हुए मुझको दबाता है (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह अपनी संततिके साथ दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

हे जातवेद अग्ने! (क्रव्यादं रुधिरं मनोहनं पिशाचं जहि) मांस भक्षक, रुधिररूप, मनको मारनेवाले, रक्त खानेवाले, क्रिमीका नाश कर। (वाजी इन्द्रः तं वज्रेण हन्तु) बलवान् इन्द्र उसको वज्रसे मार देवे, (धृष्णुः सोमः अस्य शिरः छिनत्तु) निर्भय सोम इसका सिर काट देवे ॥ १० ॥

हे अग्ने! (यातुधानान् सनात् मृणसि) पीडा देनेवाले क्रिमियोंको तू सदा नष्ट करता है। (त्वा रक्षांसि पृतनासु न जिग्युः) तुझे राक्षस संग्रामोंमें जीत नहीं सकते। (सह-मूरान् क्रव्यादः अनुदह) समूल मांसभक्षकोंको जला दे। (ते दैव्यायाः हेत्याः मा मुक्षत) तेरे दिव्य शस्त्रसे कोई न छूटने पावे ॥ ११ ॥

भावार्थ— दूध, छाछ, धान्य तथा अन्य भोजनके पदार्थों द्वारा शरीरमें प्रविष्ट होकर जो रोगकृमी सताते हैं उनको दूर किया जावे, और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ७ ॥

जो मांसक्षीण करनेवाले कृमि जलपानके द्वारा तथा अनेक मनुष्योंके साथ सोनेसे शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ८ ॥

जो कृमि दिनके समय अथवा रात्रीके समय अनेक मनुष्योंके साथ सोनेके कारण शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

रक्त और मांसकी क्षीणता करनेवाले, मनको मोहित करनेवाले रोग क्रिमी हैं, उनको इन्द्र और सोमके प्रयोगसे दूर किया जावे ॥ १० ॥

अग्नि इन क्रिमियोंको सदा दूर करता है, ये क्षीणता करनेवाले क्रिमी अग्निको परास्त नहीं कर सकते। अतः अग्निद्वारा इन रोगक्रिमियोंका कुल समूल नष्ट किया जावे ॥ ११ ॥

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत्पराभृतम् । गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥
सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् । अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥
एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः । तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥
तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा । जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥ १५ ॥

अर्थ— हे (जातवेदः) जातवेद ! (अस्य यत् हृतं यत् पराभृतं) इसका जो भाग हर लिया और नष्ट कर दिया है उस भागको (समाहर) पुनः ठीक प्रकार भर दे । (अस्य गात्राणि वर्धन्तां) इसके अंग पुष्ट हो जावें, (अयं अंशुः इव आप्यायतां) यह मनुष्य चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

हे (जातवेदः) जातवेद । (अयं सोमस्य अंशुः इव आप्यायतां) यह मनुष्य चंद्रमाकी कलाके समान बढे । हे अग्ने ! इसे (विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कुरु) निर्दोष, पवित्र व नीरोग कर और यह (जीवतु) जीवित रहे ॥ १३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (एताः ते समिधः पिशाचजम्भनीः) ये तेरी समिधाएं मांस खानेवाले रोगक्रिमियोंको दूर करनेवाली हैं । हे जातवेद ! (त्वं ताः जुषस्व) तू उनका सेवन कर और (एनाः प्रति गृहाण) इनको स्वीकार कर ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! (तार्ष्ट-अधीः समिधः अर्चिषा प्रतिगृह्णाहि) तृषारोगका शमन करनेवाली इन समिधाओंको तू अपनी ज्वालाओंसे स्वीकृत कर । (यः अस्य मांसं जिहीर्षति) जो इसके मांसको क्षीण करना चाहता है वह (क्रव्यात् रूपं जहातु) मांसभोजी इसके रूपको छोड देवे ॥ १५ ॥

भावार्थ— इस रोगीका जो अवयव क्षीण हुआ था, वह फिर पुष्ट होवे और उसके सब अवयव पुनः पुष्ट हों, जिस प्रकार चंद्रमा बढता है उस प्रकार यह बढे ॥ १२ ॥

चन्द्रमाकी कलाके समान यह बढे, यह रोगी दोष रहित, पवित्र व निरोग होवे और दीर्घ कालतक जीवित रहे ॥ १३ ॥

जो समिधाएं यज्ञमें डाली जाती हैं वे रोगक्रिमियोंका नाश करनेवाली हैं । इनको जलाकर अग्निद्वारा ये रोगक्रिमी दूर किए जाएं ॥ १४ ॥

जो क्रिमी रोगीके मांसको क्षीण करते हैं उनका पूर्ण रीतिसे नाश होवे । इन समिधाओंको जलाकर प्रदीप्त की हुई अग्नि इन रोगक्रिमियोंका नाश करे ॥ १५ ॥

रोग क्रिमी निवारण

रोगोंके कृमि

इस सूक्तमें रोगजन्तुओंका वर्णन है । कुछ जातिके कृमि हैं जो शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और विविध यातनाएं उत्पन्न करते हैं, मनुष्यको इनसे बडे क्लेश होते हैं । इन क्रिमियोंको दूर करनेका साधन इस सूक्तमें बताया है । यह साधन वैद्य, औषधि और अग्नि है । इस सूक्तमें जिन क्रिमियोंका जो वर्णन है वह पहिले देखिये—

१ यः दिदेव— जो शरीरमें पीडा देते हैं, जिनके कारण शरीर अशक्त होता है, अवयवोंके टूट जानेके समान जिसमें अशक्तता आती है । (मं. ३)

२ यतमः जघास— जो शरीरको खा जाता है और क्षीण करता है । (मं. ३, ४)

३ पिशाच्— (पिशिताच्) मांस खानेवाला, रक्त पीनेवाला । जिस रोगक्रिमिके शरीरमें घुसनेके बाद रक्त मांस आदि धातु क्षीण होने लगते हैं । (मं. ४-१०)

४ **हृतं, विहृतं, पराभृतं, जग्धं**— शरीरके रक्त मांसका हरण करते हैं, जो उन्हें विशेष प्रकारसे लूटते हैं, शरीरकी जीवन शक्तिको नष्ट करते हैं, और खा जाते हैं। (मं. ५)

५ **क्रव्याद्**— (क्रवि-अद्) जो शरीरका कच्चा मांस खाते हैं। (मं. ८-११)

६ **रुधिरः**— यह रक्तरूप होता है; रक्तमें मिल जानेवाला है, रक्तमें रहता है। (मं. ११)

७ **मनोहनः**— मनकी मननशक्तिका नाश करता है। जब ये रोगक्रिमी शरीरमें जाते हैं, तब मननशक्ति नष्ट होती है, मन क्षीण होता है। (मं. १०)

८ **यातुधानः**— (यातु) यातना (धानः) धारण करनेवाला। ये क्रिमी शरीरमें प्रविष्ट होकर तो रोगीको यातनाएं देते हैं। (मं. ११)

९ **रक्षः**— (क्षरणः) क्षीण करनेवाला। (मं. ११)

ये सब शब्द रोगजन्तुओंके गुण बताते हैं। ये क्रिमी किस प्रकार शरीरमें प्रवेश करते हैं इस विषयमें अब देखिये—

रोगजन्तुओंका शरीरमें प्रवेश

आमे, शवले सुपक्वे, विपक्वे, अकृष्टपच्ये धान्ये, अशने, क्षीरे, मन्थे, अपां पाने, यातूनां शयने ददम्भ। (मं. ६-८)

दिवा नक्तं ददम्भ। (मं. ९)

'कच्चा, अधपका, अच्छा पूर्ण पका, या अधिक पका अन्न खेतीके विना उत्पन्न हुआ हुआ धान्य, आदि पदार्थोंका भोजन, दूध, दही, मठा, छाछ, पानी आदिका पान और अमंगल लोगोंके बिस्तरेपर सोना, इन कारणोंसे रोगक्रिमी दिनमें तथा रात्रीमें शरीरमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। यही बात अन्य रीतिसे यजुर्वेदमें आई है—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
(यजु. १६।६२)

' जो अन्नमें और पीनेके पात्रोंमें रहकर जनोंके शरीरोंमें घुसते हैं और उनके स्वास्थ्यको वेध डालते हैं।' अर्थात् मनुष्यको बीमार बनाते हैं। इसी मंत्रके स्पष्टीकरण ऊपर लिखे दो तीन मंत्र हैं। पाठक इस दृष्टिसे यजुर्वेद मंत्रकी तुलना करके मंत्रका ठीक भाव ध्यानमें धारण करें।

आरोग्य प्राप्ति

उक्त प्रकार रोगकृमि शरीरमें जाते हैं फिर वहांसे उनको किस रीतिसे हटाना होता है इसका विचार अब करना है। इसकी पहिली रीति यह है—

युक्तः भिषक्। भेषजस्य कर्ता। क्रियमाणं अग्रे वेत्ति
(मं. १)

' सुयोग्य वैद्य, जो औषध बनाना जानता है। किया जानेवाला प्रयोग पहिलेसे जानता है।' इस प्रकारका सुयोग्य वैद्य अपने इलाजसे रोगी मनुष्यको निरोग करे। यह वैद्य—

विश्वेभिः देवैः संविदानः अस्य परिधिः पताति।
(मं- २, ३)

' सब देवोंसे सहायता प्राप्त करनेकी रीति जानता हुआ, इस रोगकी अन्तिम मर्यादाको तोड डालता है।' इस प्रकार उसकी मर्यादा गिरानेके पश्चात् रोगकी जड स्वयं नष्ट हो जाती है। प्रत्येक देवताकी शक्तिसे जो चिकित्सा हो सकती है उस चिकित्साको करके रोग दूर करनेकी शक्ति रखना ही देवोंके साथ परिचय रखनेका तात्पर्य है मृत्तिका-चिकित्सा, जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, सौरचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा वायुचिकित्सा, औषधिचिकित्सा, मानसचिकित्सा, हवनचिकित्सा आदि सब चिकित्साएं देवताओंकी शक्तियोंकी सहायतासे होती हैं, देवोंके साथ मिलकर रोग दूर करनेका तात्पर्य यही है। चिकित्सक उक्त देवोंके साथ रहता हुआ रोग दूर करता है। इस प्रकार—

तं प्रतिशृणीहि (मं. ४)

अयं अगदः अस्तु। (मं. ५-९)

उस रोगक्रिमिका नाश कर और यह मनुष्य नीरोग हो जावे और—

विरप्शिनं मेध्यं अयक्ष्मं कृणु। जीवतु। (मं. १३)

' इस रोगीको दोषरहित, पवित्र और नीरोग कर। यह मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे। वैद्यको उचित है कि वह रोगीकी ऐसी चिकित्सा करे कि रोगीके सब शरीरके दोष दूर हो जांय' रोगीका शरीर पवित्र बने और उसके शरीरसे यक्ष्म रोग हट जावे। केवल रोगको रोकनेवाले वैद्य अच्छे नहीं होते, रोका हुआ रोग किसी न किसी रूपसे कभी न कभी बाहर प्रकट होगा ही। इसलिये शरीरको निर्दोष और मलरहितकरके रोगका बीज दूर करना चाहिये। चौदहवें मंत्रमें—

पिशाचजम्भनीः समिधः। (मं. १४)

' इन खून सुखानेवाले कृमियोंका नाश करनेवाली समिधाओंका वर्णन है' यज्ञीय वृक्षोंकी लकडियोंका यह गुण है। हवन सामग्रीको साथ रखनेसे भी यही गुण बढ जाता है।

हवन चिकित्साका यह तत्त्व है, पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकारकी चिकित्सासे—

गां अश्वं पुरुषं सनेम। (मं. १)

'गौवें, घोडे और मनुष्योंको निरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकते हैं।'

ग्यारहवें मंत्रमें अग्निचिकित्सा इन रोगजन्तुओंकोदूर करनेका संकेत है। जहां ये क्रिमि होते हैं वहां अग्नि जलानेसे अथवा हवन करनेसे वहांका स्थान नीरोग होता है।

संसर्ग रोग

कई रोग एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं, मलिन लोगोंके बिस्तरेमें (शयने शयानं) सोनेसे तथा उनके संसर्गमें रहनेसे रोग होते हैं। संसर्गके स्थानमें अग्नि प्रदीप्त करनेसे संसर्ग दोष दूर होता है। मिलकर हवन करनेसे भी इसी कारण संसर्ग दोष दूर होता है।

रोग हटनेका लक्षण

रोग हटते ही मनुष्यका शरीर पुष्ट होने लगता है, यही आरोग्य प्राप्तिका लक्षण है—

शरीरे मांसं भर। असुं ऐरयामः। (मं. ५)

सोमस्य अंशु इव आप्यायतां। (मं. १२, १३)

'शरीरमें मांस बढना, प्राणकी चेतना प्राप्त होना, चन्द्रमाकी कलाओंके समान वृद्धिको प्राप्त होना।' यह नीरोगताका चिन्ह है। चन्द्रमाके समान मुख दिखाई देने लग जाए तो समझना चाहिए की यह मनुष्य निरोगी है।

इस सूक्तका विचार करनेसे अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं।

रोगोत्पादक क्रमि

कां. २, सू. ३१

(ऋषिः– काण्वः। देवता– मही, चन्द्रमाः।)

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत्क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी। तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न्दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥

दृ॒ष्टम॒दृष्ट॑मतृह॒मथो॑ कु॒रूरु॑मतृहम्। अ॒ल्गण्डू॒न्त्सर्वा॑ञ्छ॒लुना॒न्क्रिमी॒न्वच॑सा जम्भयामसि ॥ २ ॥

अर्थ— (विश्वस्य क्रिमेः तर्हणी) सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली (इन्द्रस्य या मही दृषत्) इन्द्रकी जो बडी शिला है (तया क्रिमीन् सं पिनष्मि) उससे मैं क्रिमियोंको इसी प्रकार पीसता हूं (दृषदा उल्वान् इव जैसे पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ १ ॥

(दृष्टं अदृष्टं अतृहं) दीखनेवाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं। (अथो कुरूरुं अतृहं) और भूमिपर रेंगनेवाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूं। (सर्वान् अल्गण्डून्) सब बिस्तरे आदिमें रहनेवाले तथा (शलुनान्) वेगसे इधर उधर चलनेवाले सब (क्रिमीन्) क्रिमियोंको (वचसा जम्भयामसि) वचाके द्वारा हटाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आत्माकी दृढ शक्ति है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥

आंखसे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रेंगनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ २ ॥

अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥
अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् । अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥
ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्व१माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (अल्गण्डून् महता वधेन हन्मि) विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बडे आघातसे मैं मारता हूं। (दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन्) चलनेवाले और न चलनेवाले सब क्रिमी रसहीन हो गये। (शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि) बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंका वचासे मैं नाश करता हूं। (यथा क्रिमीणां नकिः उच्छिषातै) जिससे क्रिमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥

(अन्वान्त्र्यं) आंतोंमें होनेवाले, (शीर्षण्यं) सिरमें होनेवाले (अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्) और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको तथा (अवस्कवं) रेंगनेवाले और (व्यध्वरं) बुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको हम (वचसा जम्भयामसि) वचा औषधिसे हटाते हैं ॥ ४ ॥

(ये पर्वतेषु क्रिमयः) जो पहाडियोंपर क्रिमी होते हैं, (वनेषु, ओषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः) वन, औषधि, पशु, जल आदिमें होते हैं और (ये अस्माकं तन्वं आविविशुः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं (तत् क्रिमीणां सर्वं जनिम हन्मि) ऐसे क्रिमियोंका सम्पूर्ण कुल मैं नष्ट करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— वचा औषधिसे मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूं जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥

आंतोंमें, सिरमें, पसलीमें जो क्रिमि कुमार्गके आचरणसे होते हैं उन सबको मैं वचासे हटाता हूं ॥ ४ ॥

जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जलोंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं ॥ ५ ॥

रोगोत्पादक क्रिमि

क्रिमियोंकी उत्पत्ति

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति 'पर्वत, वन, औषधि, पशु और जल इनके बीचमें होती है।' (मं. ५)

तथा ये क्रिमि—

अस्माकं तन्वं आविविशुः। (मं. ५)

'हमारे शरीरमें घुसते हैं' और पीडा देते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य साधन करना चाहिये। यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है। जलमें सडावट होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीरमें अनेक जंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनोंमें जहां दलदलके स्थान रहते हैं वहां भी विविध जातिके क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीर के साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरमें ये कहां जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है—

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्। (मं. ४)

'आंतोंमें, सिरमें, पसलियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहां बढते हैं।' इस कारण वहां नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये आरोग्य चाहनेवालोंको इन्हें दूर करना चाहिये। इनकी उत्पत्तिके विषयमें मं. ४ में दो शब्द बडे महत्त्वके हैं—

'अवस्कवं, व्यध्वरं' (मं. ४)

१ अवस्कव— (अव+स्कव) नीचे गमन । नीच-स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है। यहां आचरणकी नीचता समझना योग्य है। २ व्यध्वर— (वि-अध्व-र) विरुद्ध मार्ग पर रमना। धर्मविरुद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मचर्यादि नियमोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्मविरुद्ध व्यवहार हैं जो रोग उत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं। इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बडे महत्त्वके हैं।

दूर करनेका उपाय

इन क्रिमियोंको दूर करनेके दो प्रकारके उपाय इस सूक्तमें कहे हैं—

१ वचा— वचा नामक वनस्पतिका उपयोग करना। भाषामें इसको वच कहते हैं। क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है। इसका चूर्ण शरीरपर लगानेसे क्रिमि बाधा नहीं होती, वचाकी मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमिपीडा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमिदोष दूर हो जाते हैं। औषधि जन्य उपायोंमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है।

२ इन्द्रस्य मही दृषत्— इन्द्रका बडा पत्थर। इस नामका कोई पदार्थ है या यह आध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषयमें अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सका। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, उसका बडा पत्थर अर्थात् जिसपर टक्कर खाकर ये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उसकी प्रबल जीवनशक्ति है। आत्मशक्तिके मुकाबलेमें इन रोगक्रिमियोंकी क्षुल्लक शक्ति ठहर नहीं सकती। यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक खोज होनेकी आवश्यकता है। ये क्रिमि इतने सूक्ष्म होते हैं, कि आंखसे दिखाई नहीं देते। (अदृष्ट), दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आंखसे दिखाई देते हैं। कई शरीरपर होते हैं कपडोंपर चिपकते हैं, बिस्तरेमें होते हैं, इसप्रकार विविध स्थानोंमें इनकी उत्पत्ति होती है। इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है।

कृमि-नाशन

कां. २, सू. ३२

(ऋषिः- काण्वः। देवता- आदित्यः।)

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥
विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

अर्थ— (ये क्रिमयः गवि अन्तः) जो क्रिमि भूमि पर हैं (क्रिमीन् उद्यन् आदित्यः हन्तु) उन क्रिमियोंका उदय होता हुआ सूर्य नाश करे और (निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु) अस्तको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे उन क्रिमियोंका नाश करे ॥ १ ॥

(विश्वरूपं) अनेक रूपवाले (चतुरक्षं) चार आंखवाले, (सारंगं अर्जुनं क्रिमिं) रंगनेवाले श्वेत रंगके क्रिमि होते हैं। (अस्य पृष्टीः शृणामि) इनकी हड्डियोंको मैं तोडता हूं (अपि यत् शिरः वृश्चामि) इनके जो सिर हैं वह भी तोडता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है। ये क्रिमि भूमि पर रहते हैं ॥ १ ॥

ये क्रिमि बहुत प्रकारके विविध रंगरूपवाले होते हैं, कई श्वेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं। इनमेंसे कईयोंकी चार अथवा अनेक आंखें होती हैं ॥ २ ॥

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् । अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥
हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥
हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः । अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ ५ ॥
प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि । भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (क्रिमयः) क्रिमियो ! (अत्रिवत् कण्ववत् जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके समान (वः हन्मि) तुमको मार डालता हूं । (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) अगस्त्यकी विद्यासे (क्रिमीन् सं पिनष्मि) क्रिमियोंको पीस डालता हूँ ॥ ३ ॥

(क्रिमीणां राजा हतः) क्रिमियोंका राजा मारा गया । (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति भी मारा गया । (हत-माता, हत भ्राता, हत-स्वसा क्रिमिः हतः) क्रिमिकी माता, भाई, बहिन तथा क्रिमि भी मारा गया है ॥ ४ ॥

(अस्य वेशसः हतासः) इसके परिचारक मारे गये । (परिवेशसः हतासः) इसके सेवक पीसे गये । (अथो ये क्षुल्लका इव) अब जो क्षुल्लक क्रिमि हैं (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमी मारे गये ॥ ५ ॥

(याभ्यां वितुदायसि) जिनसे तू काटता है (ते शृंगे प्र शृणामि) इन तेरे दोनों सींगोंको तोड डालता हूं। (यः ते विषधानः) जो तेरा विषका स्थान है (ते कुषुम्भं भिनद्मि) ऐसे तेरे विषके आशयको मैं तोडता हूं॥ ६ ॥

भावार्थ— अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग बीजोंका नाश होता है ॥ ३ ॥

इन उपायोंसे इन क्रिमियोंके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

इनके सब परिवार पूर्ण रूपसे दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इनमें जो विषका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोंसे ही नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

क्रमि-नाशन

सूर्यकिरणका प्रभाव

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं । इसलिये जिस स्थानपर रोग जन्तुओंके बढनेसे रोग उत्पन्न हुए हों उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं । जिस घरमेंसे क्रिमि उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमेंसे सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रवेश करानेसे वहांके रोग दूर हो जाते हैं। क्योंकि रोगबीजोंको हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नहीं है ।

क्रिमियोंके लक्षण

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण कहे हैं, देखिये (मं. २)

१ अर्जुनः— श्वेत रंगवाला

२ सारंगः— विविध रंगवाला, चित्रविचित्र वर्णवाला धब्बे जिसके शरीरपर हैं ।

३ चतुरक्षः— चार नेत्रवाला, चारों तरफ जिसके शरीरमें नेत्र हैं ।

४ विश्वरूपः— विविध रंगरूपवाला ।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते हैं।

रोगबीजोंके नाशकी विद्या

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मंत्रमें कही है। इस मंत्रमें इस विद्याके चार नाम आये हैं, देखिये—

(१) अत्रि, (२) कण्व, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्यके (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोगबीजभूत क्रिमियोंका नाश करता हूं। रोगबीजोंका नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं। प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें। इस समयतक हमने जो खोज की उससे कुछ भी परिणाम नहीं निकला है।

विष-स्थान

इन क्रिमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं. ६) यह विष ही मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है। इसलिये इनसे बचनेके उपायकी शक्ति ऐसी चाहिये कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्यके शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके।

रोगक्रमिका नाश

कां. ५, सू. २३

(ऋषिः– कण्वः । देवता– इंद्रः, ।)

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती । ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ क्रिमिं॑ जम्भय॒ता॒मिति॑ ॥१॥

अ॒स्येन्द्र॑ कु॒मार॑स्य॒ क्रिमी॒न्धनपते जहि । ह॒ता विश्वा॒ अरा॑तय उ॒ग्रेण॒ वच॑सा॒ मम॑ ॥२॥

यो अ॒क्ष्यौ᳡ परि॒सर्प॑ति॒ यो नासे॑ परि॒सर्प॑ति । द॒तां यो मध्यं॒ गच्छ॑ति॒ तं क्रिमिं॑ जम्भयामसि ॥३॥

सरू॑पौ॒ द्वौ विरू॑पौ॒ द्वौ कृ॒ष्णौ द्वौ रोहि॑तौ॒ द्वौ । ब॒भ्रुश्च॑ ब॒भ्रुक॑र्णश्च॒ गृध्रः॒ कोक॑श्च॒ ते ह॒ताः ॥४॥

ये क्रिम॑यः शिति॒कक्षा॒ ये कृ॒ष्णाः शि॑ति॒बाह॑वः । ये के च॑ वि॒श्वरू॑पा॒स्तान्क्रिमी॑ञ्जम्भयामसि ॥५॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी, देवी सरस्वती इन्द्रः अग्निः) द्यावापृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र, अग्नि ये सब देव (ओते, ओता, ओतौ) परस्पर मिलजुलकर (मे मे क्रिमिं जम्भयतां) मेरे लिये क्रिमियोंका नाश करें ॥ १ ॥

हे धनपते इन्द्र ! (अस्य कुमारस्य क्रिमीन् जहि) इस कुमारके क्रिमियोंको हटा दे। (मम उग्रेण वचसा विश्वाः अरातयः हताः) मेरे पासकी उग्र वचासे सब दुखदायी क्रिमि मारे गये हैं ॥ २ ॥

(यः अक्ष्यौ परिसर्पति) जो आंखोंमें भ्रमण करता है, (यः नासे परिसर्पति) जो नाकमें घुसा होता है, (दतां मध्यं यो गच्छति) दांतोंके बीचमें जो जाता है, (तं क्रिमिं जम्भयामसि) उस क्रिमिका हम विनाश करें ॥३॥

(सरूपौ द्वौ, विरूपौ द्वौ) दो समान रूपवाले और दो विरुद्ध रूपवाले, (द्वौ कृष्णौ, द्वौ रोहितौ) दो काले और दो लाल, (बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला, (गृध्रः कोकः च) गिद्ध और भेडिया (ते हताः) वे सब मर गये ॥ ४ ॥

(ये क्रिमयः शितिकक्षाः) जो क्रिमि श्वेत कोखवाले, (ये कृष्णाः शितिबाहवः) जो काले और काली भुजावाले और (ये के च विश्वरूपाः) और जो बहुत रूपवाले हैं (तान् क्रिमीन् जम्भयामसि) उन क्रिमियोंका हम नाश करते हैं ॥ ५ ॥

❀

उत्पुरस्तात्सूर्यं एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा । दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन्क्रिमीन् ॥६॥

येवांषासः कष्कंषास एजत्काः शिपवित्नुकाः । दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥७॥

हतो येवांषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत । सर्वान्नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥८॥

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥९॥

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् । अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥१०॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः । हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥११॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः । अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥१२॥

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् । भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥१३॥

अर्थ— (सूर्यः उत् पुरस्तात एति) सूर्य आगेसे चलता है वह (विश्वदृष्टः अदृष्ट-हा) दीखनेवाले और न दीखनेवाले सभी कृमियोंका नाश करनेवाला है, वह (दृष्टान् च अदृष्टान् च सर्वान् क्रिमीन्) दीखनेवाले और न दीखनेवाले सब क्रिमियोंको (घ्नन् प्रमृणन्) नष्ट करता है और कुचल डालता है ॥ ६ ॥

(येवाषासः कष्कषासः) येवाष, कष्कष, (एजत्काः शिपवित्नुकाः) एजत्क और शिपवित्नुक ये क्रिमि हैं। (दृष्टः क्रिमिः हन्यतां) दीखनेवाले क्रिमिको मारा जाय और (उत अदृष्टः च हन्यतां) और न दीखनेवालेको भी मारा जाय ॥ ७ ॥

(क्रिमीणां येवाषः हतः) क्रिमियोंमेंसे येवाष नामक क्रिमि मारा गया (उत नदनिमा हतः) और नाद करनेवाला भी मर गया, । (सर्वान् मष्मषा नि अकरं) सबको मसल मसलकर उसी प्रकार पीस दिया (दृषदा खल्वां इव) जिस प्रकार पत्थरसे चनोंको पीसते हैं ॥ ८ ॥

(त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं) तीन सिरोंवाले, तीन ककुदोंवाले (सारङ्गं अर्जुनं क्रिमिं) चित्रविचित्र रंगवाले और श्वेत रंगवाले क्रिमिको (शृणामि) मैं मारता हूं। (अस्य पृष्टीः अपि) इसकी पसलियोंको भी तोडता हूं और (यत् शिरः वृश्चामि) जो सिर है उसको कुचलता हूं ॥ ९ ॥

हे (क्रिमयः) जंतुओ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके समान (वः हन्मि) तुमको मारता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्त्यके ज्ञानसे (क्रिमीन् संपिनष्मि) रोगके क्रिमियोंको पीसता हूं ॥ १० ॥

(क्रिमीणां राजा हतः) रोगक्रिमियोंका राजा मारा गया, (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति मारा गया। और (हत-माता हत-भ्राता) इसके माता और भाई मारे गये हैं तथा (हत-स्वसा क्रिमिः हतः) इसकी बहिन भी मारी गई है ॥ ११ ॥

(अस्य वेशसः हतासः) इसके घरवाले मारे गये, (परिवेशसः हतासः) इसके परिवारवाले मारे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) और जो क्षुल्लक क्रिमि थे (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमि मारे गये हैं ॥ १२ ॥

(सर्वेषां च क्रिमीणां) सब पुरुष क्रिमियोंका और (सर्वासां च क्रिमीणां) सब स्त्री क्रिमियोंका (शिरः अश्मना भिनद्मि) सिर पत्थरसे तोडता हूं और (अग्निना मुखं दहामि) अग्निसे मुख जलाता हूं ॥ १३ ॥

रोगक्रिमियोंका नाश

रोगके क्रिमि शरीरमें घुसते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह बात वेदके कई सूक्तोंमें कही है। अग्नि, वायु, जल आदि द्वारा इन क्रिमियोंका नाश होता है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। छोटे बालकोंके शरीरमें भी क्रिमि होते हैं उनको दूर करनेके लिये वचा औषधिका उपयोग करना चाहिये यह द्वितीय मंत्रका उपदेश मननीय है।

आंख, नाक और दांतोंमें क्रिमि जाते हैं और वहां विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह तृतीय मंत्रका कथन प्रत्यक्ष देखने योग्य है। चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें क्रिमियोंके रंगोंका वर्ण है। सूर्यकिरणसे सब रोगक्रिमियोंका नाश होता है यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात षष्ठ मंत्रमें कही है। विपुल सूर्यकिरणोंके साथ अपना संबंध करके पाठक रोगक्रिमियोंसे अपना बचाव कर सकते हैं। अन्य मंत्रोंका कथन स्पष्ट है, इसलिये उस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

रोगकृमिका नाश

कां. ४, सू. ३७

(ऋषिः- बादरायणिः। देवता- अजशृंगी, अप्सरसः।)

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान्गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। गुग्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (ओषधे) औषधे! (त्वया अथर्वाणः रक्षांसि जघ्नुः) तेरे द्वारा आथर्वणीविद्या जाननेवाले वैद्य रोगक्रिमियोंका नाश करते हैं। (कश्यपः त्वया जघान) कश्यपने भी तेरे द्वारा क्रिमियोंका नाश किया। (कण्वः अगस्त्यः त्वया) कण्व और अगस्त्यने भी तेरे द्वारा रोगोंका नाश किया ॥ १ ॥

हे (अजशृंगि) अजशृंगी औषधि! (त्वया वयं अप्सरसः गंधर्वान् चातयामहे) तेरे द्वारा हम जलमें फैलनेवाले गायक क्रिमियोंको दूर हटाते हैं। (गन्धेन सर्वान् रक्षः अज, नाशय) अपने गन्धसे सब रोग क्रिमियोंको दूर कर और उनका नाश कर ॥ २ ॥

(अप्सरसः अपां तारं अवश्वसं नदीं यन्तु) जलके कृमि जलसे परिपूर्ण भरी हुई वेगवाली नदीके प्रति जांये। (गुग्गुलूः) गुग्गुल, (पीला) पीलु, (नलदी) मांसी, (औक्षगन्धि) औक्षगन्धी, (प्रमन्दिनी) प्रमोदिनी ये पांच औषधियां हैं। यह (प्रतिबुद्धा अभूतन) जान जाओ और (तत्) इसलिये हे (अप्सरसः) जलमें फैलनेवाले कृमियो! (परा इत) यहांसे दूर जाओ ॥ ३ ॥

(यत्र अश्वत्थाः न्यग्रोधाः) जहां पीपल वट (शिखंडिनः महावृक्षाः) शिखण्डी आदि महावृक्ष होते हैं, (अप्सरसः) हे जलोत्पन्न क्रिमियो! (तत् परा इत्) वहांसे दूर भागो, (प्रतिबुद्धाः अभूतन) यह स्मरण रखो ॥ ४ ॥

भावार्थ— अज शृंगी औषधिकी सहायतासे आथर्वण, कश्यप, कण्व, अगस्त्यने रोगक्रिमियोंका नाश किया ॥ १ ॥
अजशृंगीके द्वारा हम रोग कृमियोंको दूर करते हैं, इस वनस्पतिके गन्धसे ही रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ २ ॥
ये क्रिमि नदीके जलमें होते हैं और गुगुल, पीलु, मांसी, औक्षगन्धी, प्रमोदिनी इन वनस्पतियोंसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥
जहां पीपल, बड आदि महावृक्ष होते हैं वहांसे ये रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ४ ॥

यत्र॑ वः प्रे॒ङ्खा हरि॑ता॒ अर्जु॑ना उ॒त यत्रा॑घा॒टाः क॑र्क॒र्य॑ः सं॒वद॑न्ति ।
तत्परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥
एयम॑ग॒न्नोष॑धीनां वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती । अ॒ज॒शृ॒ङ्ग्य॑रा॒ट॒की ती॒क्ष्णशृ॑ङ्गी॒ व्यृ॑षतु ॥ ६ ॥
आ॒नृ॒त्य॑तः शि॒ख॒ण्डिनो॑ गन्ध॒र्वस्या॑प्सराप॒तेः । भि॒नद्मि॑ मु॒ष्कावपि॑ या॒मि शेपः॑ ॥ ७ ॥
भी॒मा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॑ष्टीर॒य॒स्मयीः॑ । ताभि॑र्हवि॒रदा॑न्ग॒न्धर्वा॑नव॒क्रा॒दान्व्यृ॑षतु ॥ ८ ॥
भी॒मा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॑ष्टीर्हि॑र॒ण्ययीः॑ । ताभि॑र्हवि॒रदा॑न्ग॒न्धर्वा॑नव॒का॒दान्व्यृ॑षतु ॥ ९ ॥
अव॒का॒दान॑भिशो॒चान॒प्सु ज्यो॑तय माम॒कान् । पि॒शा॒चान्त्सर्वा॑नोषधे॒ प्र मृ॑णीहि॒ सह॑स्व च ॥ १० ॥

अर्थ—(यत्र वः प्रेङ्खा हरिताः) जहां तुम्हारे हिलनेवाले हरे भरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत यत्र आघाटाः कर्कर्यः) और जहां आघाट और कर्करी वृक्ष अथवा कर कर शब्द करनेवाले वृक्ष रहते हैं, वहां हे (अप्सरसः) जल संचारी कृमियो ! (प्रतिबुद्धाः अभूतन) सचेत होओ और (तत् परा इत) वहांसे दूर जाओ ॥ ५ ॥

(वीरुधां ओषधीनां वीर्यावती) विशेष प्रकार उगनेवाली औषधियोंमें अधिक वीर्यशाली (इयं अजशृंगी आ अगन्) यह अजशृंगी प्राप्त हुई है। यह (अराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु) रोगनाशक तीक्ष्णशृंगी औषधी रोगनाश करे ॥ ६ ॥

(आनृत्यतः शिखण्डिनः गंधर्वस्य) नाचनेवाले चोटीवाले गायक (अप्सरापतेः) जलसंचारी कृमियोंके मुखियाका (मुष्कौ भिनद्मि) अण्डकोश तोड देता हूं और (शेपः अपि यामि) उसके प्रजननांगका नाश करता हूं ॥ ७ ॥

(इन्द्रस्य ऋष्टीः शतं अयस्मयीः हेतयः भीमाः) सूर्यकी किरणें सैंकडों लोहमय हथियारोंके समान भयंकर हैं। (ताभिः हविरदान् अवकादान्) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक (गंधर्वान् व्यृषतु) कृमियोंका विनाश करे ॥ ८ ॥

(इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्यकी सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें (शतं हेतयः भीमाः) सैंकडों शस्त्रोंके समान भयंकर हैं (ताभिः हविरदान् अवकादान् गंधर्वान् व्यृषतु) उनसे वह सूर्य अन्न खानेवाले हिंसक रोगक्रिमियोंका विनाश करे ॥ ९ ॥

हे (औषधे) औषधी (अवकादान् अभिशोचान्) हिंसक और दाह करनेवाले (मामकान् अप्सु ज्योतय) मेरे शरीरके अंदरके जलांशोंमें रहनेवालोंको जला दे। (सर्वान् पिशाचान् प्रमृणीहि) सब रक्तशोषण करनेवालोंका नाश कर और (सहस्व च) दबा दे ॥ १० ॥

भावार्थ— जहां वेगवाले अर्जुन वृक्ष, कर्कर करनेवाले और आघाट वृक्ष होते हैं वहांसे भी ये क्रिमि दूर होते हैं ॥५॥

सब वनस्पतियोंमें अजशृंगी बडी वीर्यवाली औषधी है इससे निःसंदेह रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ६ ॥

इससे इन क्रिमियोंके वीर्यस्थान भी नाश किये जा सकते हैं ॥ ७ ॥

सूर्यकी किरणें ऐसी प्रबल हैं कि जिनसे ये क्रिमि दूर हो जाते हैं ॥ ८ ॥

सूर्यकी सुवर्णके रंगवाली किरणें बडी प्रभावशाली हैं जिनके योगसे रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इस औषधीसे मेरे शरीरके अंदर जलांशमें जो इनके स्थान हैं और जिनके कारण मेरा शरीरका रक्त सूखता है उनका नाश किया जावे ॥ १० ॥

श्वेवैकः कुपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृशः इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥
जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वा पतयो यूयम् । अप धावतामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

अर्थ— (एकः श्वा इव) एक कुत्तेके समान है (एकः कपिः इव) एक बन्दरके समान है, (सर्वकेशकः कुमारः) जिसके सब शरीरपर बाल होते हैं ऐसे कुमारके समान एक है। (प्रियः दृशः इव भूत्वा) प्रियदर्शीके समान होकर (गंधर्वः स्त्रियः सचते) गंधर्व संज्ञक रोगकृमि स्त्रियोंको पकडता है (वीर्यावता ब्रह्मणा तं इतः नाशयामसि) वीर्यवाली ब्राह्मी नामक औषधिके द्वारा उसका यहांसे हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वो ! (यूयं पतयः) तुम पति हो, (अप्सरसः वः जाया इत्) अप्सराएं तुम्हारी स्त्रियां हैं। (अमर्त्याः) हे अमरो ! (अपधावत) यहांसे दूर हट जाओ, (मर्त्यान् मा सचध्वं) मनुष्योंको मत पकडो ॥ १२ ॥

भावार्थ— कुत्ते और बंदरके समान प्रभाव करनेवाले ये रोगोत्पादक क्रिमि स्त्रियोंको पीडा देते हैं, इनको ब्राह्मी वनस्पतिसे दूर किया जाता है ॥ ११ ॥

इस उपायसे इन रोगमूलोंको दूर किया जाता है ॥ १२ ॥

रोगकृमिका नाश

रोग-क्रिमि

इस सूक्तमें 'रक्षः, रक्षस्, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच,' ये शब्द रोगोत्पादक जन्तुविशेषोंके वाचक हैं। वैद्यक ग्रन्थोंमें इन रोगोंके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

(१) गंधर्वग्रहः— माधव निदानमें इसका वर्णन ऐसा मिलता है—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
स्वाचारः प्रियगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गंन्धर्वग्रहपीडितो मनुष्यः ॥ (मा. नि.)

गंधर्वग्रहसे पीडित मनुष्यका अन्तःकरण आनंदित होता है वह वनोपवनमें विहार करना चाहता है, गानाबजाना प्रिय लगता है, नाचता है और हंसता है, इत्यादि लक्षण गन्धर्व-ग्रहके हैं।

(२) पिशाचग्रहः— इसका लक्षण इस प्रकार कहा है—

उध्द्वस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोमः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ (मा. नि.)

'दुर्गन्धयुक्त अपवित्र रहनेवाला, बहुत खानेवाला, बड-बडानेवाला, रोने पीटनेवाला आदि दुर्गुणोंसे युक्त रोगी पिशाच ग्रहसे पीडित होता है।'

'रक्षः, रक्षस् और राक्षस्' ये शब्द भी इसी प्रकारके रोगोंके वाचक हैं। इस विषयमें रक्षोघ्न औषधि प्रयोग भी वैद्यक ग्रन्थमें दिये हैं। देखिये—

(१) भूतघ्नी— भूतरोगका नाश करनेवाली औषधि। प्रपौंडरीक, मुण्डरीक, तुलसी, शङ्खपुष्पी ये औषधियां भूत-रोगनाशक हैं।

(२) भूतघ्नः— भूर्ज वृक्ष, सर्षप वृक्ष।
(३) भूतनाशनः— भिलावा, हिंगु वृक्ष, रुद्राक्ष।
(४) भूतहन्त्री— दूर्वा, वन्ध्याककोंटकी वल्ली।
(५) पिशाचघ्नः— श्वेतसर्षप वृक्ष।
(६) रक्षोघ्नं— काञ्चिक, हिंगु, भिलावा, नागरंग, वचा।
(७) रक्षोहा— महिषाक्ष गुग्गुली, गुग्गुल।

इस सूक्तमें भी तृतीय मन्त्रमें गुग्गुलु वृक्षको राक्षसः, गंधर्व, अप्सरा, पिशाच आदिका नाशक कहा है, इससे ये शब्द किसी प्रकारके रोगविशेषोंके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है। ऊपर लिखे वृक्ष और वनस्पतियां राक्षस, भूत,

प्रेत, पिशाचोंको दूर करती हैं, इससे सिद्ध होता है कि ये रोगविशेष हैं।

द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि 'अजशृंगीके गन्धसे सब राक्षस (नाशय) नष्ट होते हैं और (अज) भाग जाते हैं। (मं. २)' अर्थात् ये राक्षस सूक्ष्म कृमि अथवा सूक्ष्म रोगजन्तु होंगे। इस अजशृंगी औषधिसे गंधर्व, अप्सरा और राक्षस रोग दूर होते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन है। इस अजशृंगीका वर्णन वैद्यक ग्रन्थोंमें देखिये—

अजशृंगी— 'कटुः, तिक्ता कफार्शःशूलशोथघ्नी
चक्षुष्या श्वासहृद्रोगविषकासकुष्टघ्नी च।
एतत्फलं तिक्तं कटूष्णं कफवातघ्नं जठरानलदीप्ति-
कृत् हृद्यं रुच्यं, लवणरसं अम्लरसं च॥
(रा. नि. व. ९)

'अजशृंगी औषधि कफ, बवासीर, शूल, सूजनका नाश करनेवाली, आंखके दोष दूर करनेवाली, श्वास, हृदय रोग, विष, कास, कुष्ठ दूर करनेवाली है। इसका फल कफ और वात दूर करनेवाला, पाचक आदि गुणवाला है।' इसमें मन्त्रोक्त रोगोंका नाम नहीं है। तथापि आधुनिक वैद्य ग्रंथों-की अपेक्षा वेदने यह विशेष ज्ञान कहा है। वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये।

लक्षण

इन भूतरोगोंके लक्षण ग्यारहवें मन्त्रमें कहे हैं ये अब देखिये—

(१) श्वा इव— कुत्तेके समान काटता है।
(२) कपिः इव— बंदरके समान कुचेष्टा करता है।

ये लक्षण पिशाच बाधित मनुष्योंमें दिखाई देते हैं। वे रोगी कुत्तेके समान और बंदरके समान व्यवहार करते हैं। जिन रोगोंमें मनुष्य ऐसे व्यवहार करता है उनको उन्माद रोग कहा जाता है। इस उन्मादके ही पिशाच, भूत, रक्षः, राक्षस, गंधर्व और अप्सरा ये नाम अथवा भेद हैं। और इनका नाश इस सूक्तमें वर्णित औषधियोंसे होता है। औष-धियोंसे इनका नाश होना कहा गया है, इससे ये सजीव सूक्ष्म देही क्रिमी होंगे, ऐसा प्रतीत होता है, इसके अतिरिक्त 'पिशाच' शब्द इनका रुधिर भक्षक होना सिद्ध करता है, अर्थात् ये क्रिमि शरीरमें जाकर शरीरका ही रुधिर खाते हैं और शरीरको कृश करते हैं। इनका नाश निम्नलिखित औषधियोंसे होता है। इन औषधियोंके गुणधर्म देखिये—

(१) गुग्गुलुः— इसके संस्कृत नाम ये हैं— 'देव-धूप, भूतहरः, यातुघ्नः, रक्षोहा,' ये इसके नाम इस सूक्तके कथनके साथ संगत होते हैं, अर्थात् इस गुग्गुलके धूपसे भूत, राक्षस, यातुधान नष्ट होते हैं, यह बात इन शब्दोंसे ही सिद्ध होती है। अब इसके गुण देखिये—

जराव्याधि हरत्वाद्रसायनः।
कटुतिक्तोष्णः कफवातकासघ्नः।
कृमिवातोदरप्लीहाशोफार्शोघ्नः॥ रा. नि. व. १२

'इससे बुढापा, और रोग दूर होते हैं, यह कफ, वात, श्वास, कृमि, उदर, प्लीहा, सूजन, बवासीर रोगोंको दूर करता है।' इस वर्णनसे इसका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। (मं. ३)

(२) पीला, पीलु— मंत्रमें 'पीला' शब्द है, इसका अर्थ चूंटी है। 'पीलु' शब्द वनस्पति वाचक है जिसको हिंदी भाषामें 'झल्' कहा जाता है। यह कफ वात पित्त दोषोंको दूर करता है। (मं. ३) (भा. प्र.)

(३) नलदा, नलदी— जटामासीका यह नाम है। इसके गुण— 'जटामासी कफहृत्, भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी। (रा. नि. व. १२) इस औषधीसे कफरोग, भूतरोग, पित्त-रोग ये दूर होते हैं। इसमें भूतरोग शमन इस सूक्तके साथ संगत होता है। (मं. ३)

(४) औक्षगंधि— ऋषभक औषधीका यह नाम है। इसके गुण– 'बल बढानेवाला, शुक्र बढानेवाला, पित्तरक्त दोष दूर करनेवाला, दाह क्षय ज्वरका नाशक है।' (रा. नि. व. ५) वाजीकरणमें इसका बहुत उपयोग होता है।

(५) प्रमंदनी— घातकी वृक्ष। हिंदी भाषामें 'धावई' कहते हैं। इसके गुण 'कटुः, उष्णा, मदकृद्विषघ्नी, प्रवाहिकातिसारघ्नी, विसर्पव्रणघ्नी च। (रा. नि. व. ६) तृष्णातिसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित्। (भा. प्र.)' यह औषधि विष नाशक, अतिसार, विसर्प व्रण और कृमि दोष दूर करनेवाली है। (मं. ३)

इन औषधियोंसे भूत रोग आदि ऊपर लिखे रोग दूर होते हैं। इसी कार्यके लिये अश्वत्थ, पिप्पल आदि महावृक्ष उपयोगी हैं ऐसा चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रमें कहा है। इस विषयमें वैद्यशास्त्रका कथन देखिये—

(१) अश्वत्थः— हिंदीभाषामें इसको 'पीपल' कहते हैं। इसको संस्कृतमें, 'शुचिद्रुम' कहते हैं, क्योंकि यह

शुद्धता करता है। इसके गुण— 'पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित् योनिशोधनः वर्ण्यः। (भा. पू. १ भ. वटादिवर्ग) अर्थात् यह पित्त कफ व्रण आदिके दोष दूर करता है और योनिदोषोंको दूर करता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि स्त्रियोंको जो भूत प्रेतादि रोग होते हैं वे विशेष कर योनिस्थानके दोषसे ही होते हैं, इस कारण इस वृक्षका पाठ इस सूक्तमें किया है। इसके फलोंके गुण देखिये—

अश्वत्थवृक्षस्य फलानि पक्वान्यतीवहृद्यानि च शीतलानि। कुर्वन्ति पित्तास्रविषार्तिदाहं विच्छर्दिशोषारुचिदोषनाशनम्॥ (रा. नि. व. ११)

(१) 'पीपलका फल पकनेपर शीतल और हृदयके लिये हितकारी होता है। पित्त, रक्तस्राव, विष, पीडा, दाह, वसन, शोष, अरुचि आदि दोषोंको दूर करता है।'

(२) न्यग्रोधः— वट, बड, वर, बरगद। इस बडके गुण ये हैं—

कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः योनिदोषहृत्। (भा. प्र.)

ज्वरदाहतृष्णामोहव्रणशोफघ्नश्च। (रा. नि. व. ११)

यह बड कफ, पित्त, व्रण, योनिदोष, ज्वर, दाह, तृष्णा, मूर्च्छा और सूजन आदि रोगोंका नाश करता है।

(३) शिखण्डी— गुञ्जा नामक लता, मोर अथवा मोरका पङ्ख, और स्वर्णयूथिकाका वाचक यह शब्द है।

(४) अर्जुनः— हिंदीभाषामें इसको 'कहू, कौह' कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

कफघ्नः, व्रणशोधनः, पित्तश्रमतृष्णाहरः वातकोपनश्च। (रा. नि. व. ९)
शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषरक्तहरो मेदोमेहव्रणघ्नस्तुवरः कफपित्तघ्नश्च।
(भा. पू. १ भ. वटादि.)

वह अर्जुन वृक्ष कफ, व्रण, पित्त, श्रम, तृष्णाको दूर करता है। हृदयके लिये हितकारी है। व्रण, क्षय, विष और रक्त दोष दूर करता है। मेदादि रोग दूर करता है।

(५) आघाटः— अपामार्ग औषधि। हिंदीमें लटजिरा, चिरचिरा कहते हैं। इसपर कई सूक्त हैं (अथर्ववेद का. ४ सू. १७-१९ विवरण सहित पढिये। इसमें अपामार्गके गुणधर्म लिखे हैं।)

(६) कर्करी— कर्कटी, कांकडी। (इसके विषयमें अर्थकी खोज करनी चाहिये)

ये सब वृक्ष और लतायें पूर्वोक्त रोग दूर करती हैं। इनका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन और वेदमन्त्रोक्त वर्णन पाठक तुलना करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदने इन रोगोंके विषयमें कुछ विशेष ही कहा है।

अष्टम और नवम मन्त्रमें बताया गया है कि सूर्य किरणोंका उपयोग पूर्वोक्त रोग दूर करनेके कार्यमें हो सकता है।

ग्यारहवें मन्त्रमें कहा है कि (वीर्यावता ब्रह्मणा) वीर्यवती ब्राह्मी औषधिसे ये रोग दूर होते हैं।

(७) ब्राह्मी— हिंदीभाषामें इसको 'बरंभी, ब्रह्मी' कहते हैं। इसके गुण ये हैं—

ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता मधुमेध्या च शीतला।
कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी॥
स्वर्या स्मृतिपदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्।
विषशोषहरी …… …… (भा. प्र. व)

'ब्राह्मी वनस्पति बुद्धिवर्धक, आयुष्यवर्धक; कुष्ठ पाण्डु मेह रक्तस्राव खांसी विष प्यास आदिको दूर करनेवाली है।

इस ब्राह्मी औषधीके गुण सोमवल्लीके गुणोंसे कुछ अंशमें मिलते जुलते हैं, इसलिये इसको— 'सोमवल्लरी, महौषधि, सुरश्रेष्ठा, परमेष्ठिनी, शारदा, भारती' भी कहा है। बुद्धिवर्धक और आयुष्यवर्धक गुण इसके मुख्य हैं। यह अपूर्व वल्ली है और निश्चयसे गुणकारी है।

'अप्सरस्' शब्दका मूल अर्थ (अप+सरस्) जलके साथ संचार करनेवाला। जलाशयमें संचार करनेवाला। 'मलेरिया' अर्थात् हिम ज्वरके कृमि जलसंचारी हैं। मच्छरों द्वारा इनका फैलाव होता है और मच्छर गाते रहते हैं, इसलिये ये संभवतः 'गंधर्व' ही होंगे, और इनके आश्रयसे चारों ओर जानेवाले ज्वरोत्पादक क्रिमि अप्सरस् होंगे। गंधर्व और अप्सराओंको इस प्रकरणमें यह संबंध दीखता है। पीपल, बड, अपामार्ग, अर्जुन आदि वृक्षोंके कारण इन रोग कृमियोंका दूर होना लिखा है। इसलिये 'मलेरिया' ज्वरके प्रदेशोंमें इन वृक्षोंकी उपज करके अनुभव करके देखना चाहिये। इसी प्रकार अजशृंगी गुग्गुलु आदि वनस्पतियोंका भी रोग निवारणार्थ प्रयोग करके देखना योग्य है।

रोगक्रिमिनाशक हवन

कां. ६, सू. ३२

(ऋषिः— चातनः, ३ अथर्वा । देवता— अग्निः, २ रुद्रः, ३ मित्रावरुणौ ।)

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद्यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद्रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥ १ ॥
रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत्पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः ।
वीरुद्वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥
अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणो नुदतं प्रतीचः ।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विंदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (एतद् यातुधानक्षयणं) इस पीडा देनेवालोंका नाश करनेवाली हविका (अन्तः दावे) अग्निकी प्रदीप्त अवस्थामें (सु जुहुत) उत्तम प्रकारसे हवन करो । हे अग्ने ! (त्वं रक्षांसि आरात् प्रतिदह) तू राक्षसोंको समीपसे और दूरसे जला और (नः गृहाणां न उप तीतपासि) हमारे घरोंको ताप न दे ॥ १ ॥

हे (पिशाचाः) पिशाचो ! (रुद्रः वः ग्रीवाः अशरैत्) रुद्रने तुम्हारी गर्दनोंको तोड डाला है । हे (यातु-धानाः) यातना देनेवालो ! (वः पृष्टीः अपि शृणातु) वह तुम्हारी पसलियोंको भी तोड डाले । (विश्वतोवीर्या वीरुत्) अनंत वीर्योंवाली औषधिने (वः यमेन समजीगमत्) तुमको यमके साथ संयुक्त किया है ॥ २ ॥

हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (नः इह अभयं अस्तु) हमारे लिये यहां अभय होवे । तुम (अर्चिषा अत्रिणः प्रतीचः नुदतं) अपने तेजसे भक्षक शत्रुओंको दूर हटा दो । (मा ज्ञातारं) ज्ञानीको वे न प्राप्त करें । कहीं भी वे (मा प्रतिष्ठां विन्दत) स्थिरताको न प्राप्त हों । (मिथः विघ्नानाः मृत्युं उपयन्तु) आपसमें एकदूसरेको मारते हुए वे सब मृत्युको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

रोगनाशक हवन

रोगके कृमियोंका नाश करनेवाला हवन प्रदीप्त अग्निमें उत्तम विधिपूर्वक करनेका उपदेश इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें किया है । इससे शरीरभक्षक सूक्ष्म रोगक्रिमि नाशको प्राप्त होते हैं । क्रिमी ये हैं—

१ (पिशाचाः) मांसकी क्षीणता करनेवाले, रक्तकी क्षीणता करनेवाले ।
२ (यातुधानाः) शरीरमें यातना, पीडा उत्पन्न करनेवाले ।
३ (राक्षसाः=क्षरासाः) क्षीणता करनेवाले, और
४ (अत्रिणः=अदन्ति इति) शरीर भक्षण करनेवाले ये रोगजन्तु अग्निमें किये गए हवनसे तथा—
५ (विश्वतो वीर्या वीरुत्) अत्यंत गुणवाली वनस्पतिके प्रयोगसे क्षीण होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं ।

रोगोंसे बचना

कां. ६, सू. ९६

(ऋषिः– भृग्वङ्गिराः । देवता– वनस्पतिः, सोमः ।)

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥
मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत । अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥
यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः । सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

अर्थ— (याः सोमराज्ञीः बह्वीः ओषधयः) सोम औषधि जिनमें मुख्य है ऐसी औषधियां हैं और जिनसे (शत-विचक्षणाः) सैंकडों कार्य होते हैं, (बृहस्पति-प्रसूताः ताः) ज्ञानीके द्वारा दी हुई वे औषधियां (नः अंहसः मुञ्चन्तु) हमें पापरूपी रोगसे बचावें ॥ १ ॥

वे ओषधियां (मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझको दुर्वचनके कारण होनेवाले रोगसे बचावें (अथो उत वरुण्यात्) और जलके कारण होनेवाले रोगसे बचावें । (अथो यमस्य पड्वीशात्) अथवा यमके पाश स्वरूप असाध्य रोगोंसे बचावे तथा (विश्वस्मात् देवकिल्बिषात्) सब देवोंके विषयमें होनेवाले पापोंके रोगोंसे बचावें ॥ २ ॥

(यत् चक्षुषा मनसा) जो पाप चक्षु और मनस् तथा (यत् च वाचा) जो वाणीसे (जाग्रतः यत् स्वपन्तः) जागते समय और जो सोते समय हम (उपारिम) प्राप्त करते हैं (नः तानि) हमारे वह सब पाप (सोमः स्व-धया पुनातु) सोम अपनी शक्तिसे पुनीत करके दूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब औषधियोंमें सोम औषधि मुख्य है इन औषधियोंसे सैंकडों रोगोंकी चिकित्सा होती है। ज्ञानी वैद्य द्वारा दी हुई ये औषधियां हमें रोगमुक्त करें ॥ १ ॥

दुर्वचनसे, जलके बिगडनेसे, यमके पाशरूप दोषोंसे और सब पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे औषधियां हमें बचावें ॥ २ ॥

आंख, मन, वाणी आदि इंद्रियों द्वारा जाग्रतावस्थामें और स्वप्नावस्थामें जो पाप हम करते हैं; उन पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सोम आदि औषधियां हमें बचावें ॥ ३ ॥

पापसे रोगकी उत्पत्ति

इस सूक्तमें पापसे रोगोंकी उत्पत्ति होनेकी बात बताई है । सब रोग मनुष्योंके किये पापोंसे उत्पन्न होते हैं । यदि मनुष्य अपने आपको पापसे बचावें तो निःसंदेह वे रोगोंसे बच सकते हैं ।

मनुष्य सोते हुए और जागते हुए अपनी इंद्रियोंसे अनेक पाप करते हैं और रोगी होते हुए दुःखी होते हैं । इनको चाहिए कि, ये पापसे बचे रहें और अपनी इन्द्रियोंसे पाप न करें ।

' शपथ ' अर्थात् गालियां देना, बुरे शब्द बोलना और क्रोधके वचन कहना यह भी पाप है । इससे अनेक रोग होते हैं । क्रोध भी स्वयं रोग उत्पन्न करता है । अतः इससे बचना उचित है ।

रोग होनेपर औषधि प्रयोगसे रोगनिवृत्ति हो सकती है, परंतु औषध (बृहस्पतिप्रसुत) ज्ञानी वैद्य द्वारा विचारपूर्वक दी हुई होनी चाहिये ।

संधिवातको दूर करना

कां. २, सू. ९

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः। देवता- वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्।)

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु। अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥१॥
आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्। अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥२॥
अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्। शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥३॥
देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः। चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥४॥
यश्चकार स निष्करत्स एव सुभिषक्तमः। स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः ॥५॥

अर्थ— हे (दश-वृक्ष) दस वृक्ष ! (या एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको जोडोंमें पकड रखा है। ऐसे (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसकी तरह जकडनेवाले गठियारोगकी पीडासे (इमं मुञ्च) इसे छुडा दे, हे (वनस्पते) औषधि ! (एनं जीवानां लोकं उन्नय) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जाने योग्य बनाकर ऊपर उठा ॥ १ ॥

(अयं) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित लोगोंके समूहमें (अगात्, आगात्, उद्गात्) आया, आपहुंचा, उठकर आया है। अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तमः) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् उ) बना है ॥ २ ॥

(अयं) इसने (अधीतिः अध्यगात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए हैं, और (जीवपुराः अधि अगन्) जीवोंकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं, (हि) क्योंकि (अस्य शतं भिषजः) इसके सैंकडों वैद्य हैं और (उत सहस्रं वीरुधः) हजारों औषध हैं॥ ३ ॥

(देवाः ब्रह्माणः उत वीरुधः) देव, ब्राह्मण और वनस्पतियां (ते चीतिं अविदन्) तेरे आदान, संदान आदिको जानती हैं; (विश्वे देवाः) सब देव (भूम्यां अधि) पृथिवीके ऊपर (ते चीतिं आविदन्) तेरे आदान संदानको जानते हैं ॥ ४ ॥

(यः चकार स निष्करत्) जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (सु-भिषक्-तमः) सबसे उत्तम वैद्य होता है। (स एव शुचिः) वही शुद्ध वैद्य (भिषजा) अन्य वैद्यसे विचारणा करके (ते भिषजानि कृणवत्) तेरे लिये औषधियोंको तैयार करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ— दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिया रोगको दूर करती है। यह गठिया रोग संधियोंको जकड रखता है जिससे मनुष्य चल फिर नहीं सकता। इसकी चिकित्सा दक्षवृक्षसे की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥

वह आरोग्य प्राप्त करके लोकसभाओंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥

वह निरोगी बन कर सब प्राप्तव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, जीवोंकी जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है। यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सैंकडों हैं और हजारों औषधियां भी हैं ॥ ३ ॥

इसकी अनेक औषधियां तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसा करना चाहिए यह सब दिव्यगुणधर्मोंसे युक्त ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वैद्य जानते हैं ॥ ४ ॥

जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निभा सकता है। वारंवार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ धन्वन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ धन्वन्तरी अन्य वैद्योंकी सम्मतिसे रोगीकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

सन्धिवातको दूर करना

संधिवात

वेदमें संधिवात रोगका नाम ग्राही है, क्योंकि यह (पर्वसु जग्राह) पर्वों अर्थात् जोडोंको जकड लेता है और हिलने डुलने नहीं देता। जोडोंका हिलना डुलना भी बन्द हो जाता है। इसे राक्षस अथवा पिशाच भी कहते हैं। ये नाम रक्तके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिरप्रिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसोंके वाचक हैं। इसलिये 'रक्षः ग्राही' का अर्थ रक्तके बिगाडसे होनेवाला संधिवात है।

दशवृक्ष

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। 'दश मूल' नामसे वैद्यग्रथोंमें दस औषधियां प्रसिद्ध हैं। वातरोगके लिए वे रामबाण हैं संभव है कि ये ही दशवृक्ष यहां अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें 'मुञ्च' क्रिया है, इस 'मुञ्च' धातुसे एक 'मोच' शब्द बनता है जो 'सोहिञ्जना' या मुञ्जेका झाड अर्थात् शोभाञ्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्ष भी वात दोष दूर करनेवाला है। इस वृक्षकी लंबी फलियां होती हैं जो साग आदिमें उपयोगी होती है। इस सोहिञ्जना वृक्षकी अंतस्त्वचा यदि जकडी हुई संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोंके अंदर जकडी हुई संधियां खुल जाती हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियोंसे जो संधिरोग महिनोंतक दूर नहीं होता वह इस अंतस्त्वचासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टे दो घण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करना पडता है, क्योंकि इस अन्तस्त्वचाको जोडोंपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बडी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यहां मंत्रमें 'मुञ्च' शब्द है और इस वृक्षका नाम संस्कृतमें 'मोच' है, इसलिये यह बात यहां कही है। हमने केवल दूसरोंपर अनुभव ही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि 'इस वनस्पतिसे सन्धिवातसे जकडा हुआ रोगी नीरोग लोगोंके समूहोंमें आता है और नीरोग लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है। (मं. १)

मंत्र दो और तीनमें कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोग होकर लोक सभामें जाता है और घरके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवी कर्तव्य करनेमें वह योग्य होता है। इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरेपर जकडकर पडा हुआ था वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्य-समाजोंमें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूक्ष्म रीतिसे विचार करनेपर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग द्वितीय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

अयं जीवानां व्रातं अप्यगात्।
आगात्, उद्गात्॥ (मं. २)

'यह जीवोंके समूहोंमें गया, पहुंचा, उठकर खडा होकर गया!!' अपने पांवसे गया अर्थात् जो वहां बिस्तरेपर पडा हुआ था, वही इतनी शीघ्रतासे मनुष्य समूहोंमें घूम रहा है!!! यह आश्चर्य व्यक्त करनेके लिये एक ही आशयकी तीन क्रियाएं (आगात्, अप्यगात्, उद्गात्) प्रयुक्त की हैं। इससे यह चिकित्सा शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है।

इस चिकित्साकी औषधियें सहस्रों हैं और इसके चिकित्सक भी सैंकडों हैं। (मं. ३) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुसाध्य चिकित्सा है। असाध्य नहीं है। ऊपर जो 'मोच' वृक्षसे चिकित्सा बतायी है वह प्रायः यहांके ग्रामीण भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ ही घण्टोंमें आरोग्य होता है।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विश्वेदेवाः देवाः ब्राह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं। अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं। इसमें 'चीति' शब्द (आदान संधान) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंवा (आदान-संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं। (मं. ४)

उत्तम वैद्य

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है—

यः चकार, सः निष्करत्,
स एव सुभिषक्तमः॥ (मं. ५)

'जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है।'

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है। इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है।

प्रवीणताकी प्राप्ति

प्रवीणताकी प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है। किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करनी हो तो उसका उपाय यही है कि—

यः चकार, सः निष्करत्। (मं. ५)

'जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है।' हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवैय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित्त होकर परिश्रम करते हैं वे कुशल चित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यान्य कारीगरीमें प्रवीण बननेकी बात है। एकलव्य नामक एक भील जातिका कुमार था उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन अविश्रांत रीतिसे अभ्यास करके स्वयं ही अपने दृढ निश्चयपूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की। यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्धि हुई है। यह कथा महाभारत में आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं। यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है। बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्य ही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है अल्प अनुभवी वैद्य उतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें 'ब्राह्मणः' पद है। यह ब्राह्मणों का वाचक है। इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्रह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है। वेदमें अन्यत्र '**विप्रः स उच्यते भिषक्** (वा. यजु. अ. १२।८०)' कहा है, इसमें भी 'वह विप्र वैद्य कहलाता है, यह भाव है। यहांके 'विप्र' शब्दके साथ इस मंत्रके 'ब्राह्मणः' शब्दकी संगति लगानेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यक्रिया संमिलित है। आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं। इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता।

यह सूक्त 'तक्म नाशन गण' का सूक्त है। इसलिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें।

क्षेत्रिय रोग दूर करना

कां. २, सू. ८

(ऋषिः— भृग्वङ्गिराः। देवता— वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्)

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

अर्थ— (भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज बढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चतां) खोल दें ॥ १ ॥

भावार्थ— दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढानेवाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं। वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।
वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः ।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ— (इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा (क्षेत्रिय नाशनी वीरुत्) वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी (क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥

(बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी (पलाल्या) रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) आनुवंशिक रोगको दूर करनेवाली यह वनस्पति (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करे ॥ ३ ॥

(तं लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिये सत्कार है (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकडियोंके लिये सत्कार है (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) आनुवंशिक रोगको दूर करनेवाली यह औषधि (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥ ४ ॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जलप्रवाह चलानेवाले अक्षका सत्कार, (संदेश्येभ्यः) संदेश देनेवालेका सत्कार और (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो । (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधि आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥

भूरे और श्वेतरंगवाले जौके अन्नके साथ तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देती है ॥ ३ ॥

हल भूमिको ठीक की जानेवाली लकडियोंसे ये वनस्पतियां तैय्यार होती हैं, इसलिए उनकी प्रशंसा करनी चाहिए ॥४॥

जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देता है, जिस यंत्रसे उन्हें पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका सन्देश जनता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करनी चाहिए । यह वनस्पति आनुवंशिक रोगसे बचावे ॥ ५ ॥

क्षेत्रिय रोग दूर करना

क्षेत्रिय रोग

जो रोग माता पिताके शरीरसे अथवा पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं । वैद्यकशास्त्रमें क्षेत्रियरोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है । इसलिए रोगी मातापिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म नहीं करना चाहिए । प्रथमतः ऐसे व्यवहार करने चाहिए कि रोग ही न उत्पन्न हों । इसलिए खानपान आदि सब आरोग्य साधक ही होना चाहिए । जो नीरोग हों, उन्हें ही सन्तानोत्पत्तिका अधिकार है । असाध्य आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा इस सूक्तमें बताई है ।

दो औषधियाँ

' भगवती और तारका ' ये दो औषधियां हैं, जो शरीरकी कांति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं । इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिए ।

१ भगवती— इसको वैष्णवी, लघुशतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता कहा जाता है, तथा—

२ तारका— इस औषधिको देवताडवृक्ष और इन्द्र-वारुणी कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रक्षार और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधिकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशोंद्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकती। यह विशेष महत्त्वका विषय है, अतः ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां हैं, इसका निश्चय करना आवश्यक है। 'भगवती और तारके' ये औषधीवाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी हैं, इससे ज्ञात होता है कि इस एक ही नामके अन्तर्गत दो दो औषधियां लेनी होती हैं। इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं और शरीरकी कांतिको बढाती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती हैं। यह प्रथम मंत्रका तात्पर्य है।

दूसरे मंत्रमें कहा है कि जिस प्रकार रात्रीके जाने और दिनके शुरु होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम हो जाते हैं, उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है।

तीसरे मंत्रमें इस औषधि प्रयोगके दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजनका उपदेश दिया है। जिस जौकी डण्डियों भूरे और सफेद रंगकी होती हैं, उस जौका पेय बनाकर उनमें तिल डालकर पीना। यही भोजन इस औषधि-प्रयोगके समय निहित है। इस पथ्यके साथ ली गई उपरोक्त औषध आनुवंशिक रोगसे मुक्त करती है।

चतुर्थ और पंचममंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्यान्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको समयपर पानी देनेवाले, इस खेतीके लिए हल चलानेवाले, हलके सामान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका सन्देशा आनुवंशिक रोगके रोगियोंतक पहुंचानेवालेका सत्कार किया है। यदि इस पथ्य एवं इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

आनुवंशिक रोग दूर करना

कां. ३, सू. ७

(ऋषिः- भृग्वङ्गिराः। देवता- यक्ष्मनाशनम्।)

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्। स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥
अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्। विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥
अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः। तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (रघुष्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) वेगवान् हरिणके सिरके अंदर (भेषजं) औषध है। (सः विषाणया) वह सींगसे (क्षेत्रियं विषूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगको सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांवोंसे (त्वा अनु अक्रमीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है। हे (विषाणे) सींग ! तू (यत् अस्य हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि ष्य) नष्ट कर दे ॥ २ ॥

(अदः यत्) वह जो (चतुष्पक्षं छदिः इव) चार पक्षवाले छतके समान (अवरोचते) चमकता है (तेन ते अंगेभ्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वेगसे दौडनेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अवस्थामें रहनेवाला क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥ २ ॥

चार पंखवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोगका नाश होता है ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥
यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे । वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥
अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत । अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ— (असू ये दिवि) वे जो आकाशमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रकाशमान दो सितारे हैं-वनस्पतियां हैं। (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं पाशं विमुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नीचे और ऊंचे पाशको छुडा देवें ॥ ४ ॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः) जल निःसन्देह औषध है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी दवा है। (ताः त्वा क्षेत्रियात् मुञ्चन्तु) वह जल तुझे क्षेत्रिय रोगसे छुडा देवे ॥ ५ ॥

(यत् क्रियमाणायाः आसुतेः) यदि बिगडनेवाले रससे (क्षेत्रियं त्वा व्यानशे) क्षेत्रिय रोग तेरे अंदर व्यापा है। तो (तस्य भेषजं अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हूं और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि) तुझसे क्षेत्रिय रोगका नाश करता हूं ॥ ६ ॥

(नक्षत्राणां अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत उषसां अपवासे) उषाके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं अस्मत् अप) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— ये जो प्रकाशमान् सितारोंके समान तारका नामक दो औषधियां हैं उनसे वंशके रोग दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जल उत्तम औषधि है, उससे सब रोग दूर होते हैं, सब रोगोंके लिये यह एकही औषध, है उससे क्षेत्रियरोग दूर होता है ॥ ५ ॥

यदि बिगडे हुए जलके कारण तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूं और उससे रोग भी दूर करता हूं ॥ ६ ॥

नक्षत्रके छिपनेपर और उषाके चली जानेपर सब रोगबीज हम सबसे दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

आनुवंशिक रोग दूर करना

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं। इन क्षेत्रिय रोगोंका इलाज कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है।

हरिणके सींगसे चिकित्सा

कृष्ण मृगके सींग बडे भारी होते हैं, उन सींगोंमें क्षेत्रिय-रोग दूर करनेका गुण होता है। ' हरिणके सिरमें औषध है, जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं। (मं. १) ' हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका—

मृगशृङ्गं भस्महृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्तम्।
(वैद्यक शब्द सिंधु)

' मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है। ' यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है।

हृदय रोग

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें कहा गया ' हृदि गुप्तिं क्षेत्रियं ' (मं. २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग प्रायः हृदय रोगही होगा। तृतीय मंत्रमें 'अंगेभ्यः क्षेत्रियं (मं. ३) ' सब अंगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है।

प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है। ये सब रोग हरिणके सींगसे दूर होते हैं। हरिणका सींग चंदनके समान पत्थरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोडा थोडा अल्पप्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं। कई प्रांतोंमें छोटे बाळकोंको उसे घिसकर किंचित् जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताएं कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है। पागलकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है।

औषधि चिकित्सा

चतुर्थ मंत्रमें ' सुभगा और तारका ' ये दो शब्द हैं। इसी प्रकारका मंत्र काण्ड २ सू. ८ में आया है, देखिये—

भगवती और तारका

भग-वती विचृतौ नाम तारके। (कां. २ सू.८ मं.१)

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके। (कां. ३ सू. ७ मं. ४)

इसमें विधानकी समता है। इसलिये द्वितीय कांडके अष्टम सूक्तके प्रसंगमें ' भगवती और तारका ' वनस्पतियोंके विषयमें जो लिखा है, वही यहां पाठक समझें। ' सुभगा और भगवती ' ये दो शब्द एक ही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिका वाचक होगा। ये दो वनस्पतियां क्षेत्रियरोगको दूर करती हैं।

द्युलोक और भूलोकमें समान औषधियां

वनस्पतियोंके साथ द्युलोकका संबंध बताया है। सोम द्युलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार ' सुभगा (भगवती) और तारका ' ये दो औषधियां भी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजरूपसे द्युलोकमें हैं। यह वर्णन वनस्पतिका प्रशंसापरक प्रतीत होता है।

जलचिकित्सा

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्साका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि ' जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो सकते हैं। '

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगडे खान या पानसे हुए हों तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति थोडे समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागणके छिप जानेके समय तथा उषःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि वर्णन काव्य परक माना जाय तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि ' अतिशीघ्र रोग दूर होंगे। '

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा

कां. ३, सू. २८

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— यामिनी।)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून्क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥

अर्थ— (यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहां भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली गौवें बनाईं, वहां (एषा) यह गौ (एक-एकया सृष्ट्या संबभूव) एक एकके क्रमसे सन्तान उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है। (यत्र अप-ऋतुः यमिनी विजायते) जहां ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुडवें बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहां (सा रुशती रिफती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (पशून् क्षिणाति) पशुओंको नष्ट करती है ॥ १ ॥

भावार्थ— सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवें बनायी हैं। ये सब गौवें एकबार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई गई हैं। जब यह गौ ऋतुको छोड कर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय वह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी । उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा । शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव । पशून्यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ५ ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशूंश्च ॥ ६ ॥

अर्थ— (एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा) यह गौ मांस खानेवाले कृमीके समान होकर (पशून् सं क्षिणोति) पशुओंका नाश करती है । (उत एनां ब्रह्मणे दद्यात्) इसलिये यह गौ ब्राह्मणको दे देनी चाहिये । (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे वह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥ २ ॥

(पुरुषेभ्यः शिवा भव) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (नः शिवा एधि) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहां पुष्टि और यहां रसको देनेवाली हो । (इह सहस्र—सातमा भव) यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे (यमिनी) जुडवें सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! (इह पशून् पोषय) यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(यत्र) जिस देशमें (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरका रोग त्यागकर (सुहार्दः सुकृतः मदन्ति) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (यमिनी) गौ ! (तं लोकं अभिसंबभूव) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो, (सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥५॥

(यत्र यत्र सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः) जहां जहां शुभ हृदयवालों, उत्तम कर्म करनेवालों और अग्निहोत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, हे (यमिनी) गौ ! (तं लोकं अभिसंबभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं, उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है। इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेज देनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे वह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे, बैल, गौएं आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशुओंको यहां पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे; यहां रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाये और नीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पंहुचावे ॥ ६ ॥

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा

पशुओंका स्वास्थ्य

पशुओंका स्वास्थ्य उत्तम रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशुके रोगी होनेपर वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है। एक पशुका रोग दूसरे पशुके लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं। तथा रोगी गौ आदि पशुओंका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं। इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये।

पशुरोगकी उत्पत्ति

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+ऋतुः = ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं। पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथायोग्य होना ही चाहिये। उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं। पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है।

२ यमिनी विजायते = जुडवें बच्चेको उत्पन्न करना। इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड होकर विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

३ क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा = मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है। गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं। कदाचित् वह गौ उक्त भागोंको खा जाती है और रोगी होती है। अथवा योनी आदि स्थानमें जुडवें बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ व्रणादि होते हैं और वहां प्रसूतिस्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है। इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है। इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दे।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको यह रोग लग जाए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है। इस लिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखे और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करे।

रोगी पशु

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं। वैसे रोगी होनेपर उनको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात्॥ (मं. २)

'उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास भेज देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने' अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग स्वस्थ और शुभ बन जावे। यहां 'ब्रह्मन्' शब्द है; यह आयुर्वेद शास्त्र, और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है। ब्राह्मण ही वैद्यक्रिया करते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।
(ऋ. १०।९७।६; वा. य. १२।८०)

'जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है।'

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैसी रोगी गौको तत्काल करना चाहिये। जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके। जहां इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। (मं. ५)
यत्रा सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः। (मं. ६)
तं लोकं यमिन्यभि संबभूव॥ (मं. ५-६)

'जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्द प्रसन्न होता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा।'

रुग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रुग्णालयमें विविध प्रकारके रोगी जाते हैं और उनके संस्पर्शसे विविध रोगोंके फैलनेकी संभावना होती है,

इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रातः सायं किये अग्निहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगी और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है। यह रुग्णालयकी वायुशुद्धिके विषयमें कहा है। इसके अतिरिक्त रुग्णालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियमपूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उस स्थानकी भी शुद्धता होगी और वे भी स्वस्थ रह सकेंगे।

साथ ही साथ रुग्णालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा हों। इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है। जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा, उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभविचार भी बडे सहायक होंगे।

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्रमके पवित्र वायुमंडलसे—

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय। (मं. ५)

'अपने शरीरसे रोग दूर करके' पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसीलिये कहा है कि ऐसे सुविज्ञ आचार-संपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये। वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर 'घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावे। (मं. ३)' नीरोग गौका मूत्र, गोबर, तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं। इसलिये उक्त आश्रममें पहुंचकर, वहां रहकर, पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब यह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगलकारिणी बनेगी; ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है; वह सर्वथा योग्य है। 'गौके अंदर पोषक पदार्थ और अमृतरस होते हैं। यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं. ४)' इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे योग्य प्रबंध करना उचित है।

क्लेश-प्रतिबन्धक उपाय

कां. ३, सू. ९

(ऋषिः- वामदेवः। देवताः- द्यावापृथिवी, देवाः।)

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता। यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥
अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्। कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अर्थ— (कर्श+फस्य=कृशस्य) कृश अथवा निर्बलकी उसी प्रकार (विश+फस्य) प्रबलकी भी (माता पृथिवी) माता पृथ्वी है और उनका (पिता द्यौः) पिता द्युलोक है। हे (देवाः) देवो ! तुमने पहले (यथा अभिचक्र) जैसा पराक्रम किया (तथा पुनः अपकृणुत) उसी प्रकार फिर पराक्रम करके शत्रुओंका प्रतिकार करो ॥१॥

जैसे (अ-श्रेष्माणः अधारयन्) न थकनेवाले ही किसीका धारण करते हैं (तथा तत् मनुना कृतम्) उसी प्रकार वह कार्य मनन शीलने भी किया है। (मुष्काबर्हः गवां इव) जैसे अण्डकोश तोडनेवाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं (वि-स्कन्धं वध्रि कृणोमि) रोगादि विघ्नको निर्बल करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता पिता भूमि और द्युलोक हैं। अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं। देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं, शत्रुको हटा देते हैं और निर्बलोंका संरक्षण करते हैं ॥१॥

न थकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। मननशील मनुष्य भी वैसा ही पुरुषार्थ करते हैं। मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूं, जिस प्रकार अण्डकोश तोडनेवाले बैलका अण्डकोश तोडकर उसको निर्वीर्य कर देते हैं॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः । श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥
येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया । शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥
दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् । उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥
एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु । तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (वेधसः) ज्ञानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रसें (तत् खृगलं आवध्नन्ति) उस मणिको बांधते हैं। (बंधुरः) बंधन करनेवाले (श्रवस्युं शुष्मं काबवं) प्रसिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्रिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्यः) यशस्वी पुरुषो ! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताकी कुशलतासे युक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसे कुत्तोंको तुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा काबवस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करो ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि) दुष्टताके हटानेके लिये मैं तुझे बांधूंगा। और (काबवं दूषयिष्यामि) विघ्नको निर्बल बना दूंगा। और (आशवः रथाः इव) शीघ्र चलानेवाले रथोंकेसमान तुम (शपथेभिः उत् सरिष्यथ) शापोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

(एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्ठिता) पृथ्वीपर हैं। (तेषां अग्रे) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कष्ट नाशक तुझ मणिको (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है। सबसे बढकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ— भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बांधते हैं जिससे प्रसिद्ध शोषक रोगको निर्वीर्य बना देते हैं ॥ ३ ॥

यशस्वी पुरुष जीवनके दैवी मार्गसे जाते हैं और मृत्युको दूर करते हैं। बंदर वृक्षपर रहता हुआ कुत्तोंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबन्ध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये। जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुंचनेके स्थानपर शीघ्र पहुंच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

पृथ्वीपर सैंकडों विघ्न और दुःख हैं। उनके प्रतिबंधक उपायोंमें दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभावशाली है जिसको धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

क्लेश--प्रतिबन्धक उपाय

यह सूक्त समझनेमें बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है। इस सूक्तके ' कर्शफ, विशफ, खृगल, काबव, ' ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधान कारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा।

सबके माता पिता

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभावकी बात है।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता।
(मं. १)

जगत्में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्श+फ=कृश) अशक्त बलहीन अथवा जगत्की स्पर्धामें (कर्+शफ) बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते; और दूसरे (विश+फ) अपने आपका प्रवेश दूर दूर तक कर सकते हैं और दूसरोंको पराजित करके अपना अधिकार दूसरोंपर

जमाते हैं। इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (वि+शफ) विशेष खुरवाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लातें मारनेमें समर्थ होते हैं। 'विशफ' के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि 'पाशवी शक्तिसे युक्त।'

विश्वबन्धुत्व

जगत्में ये दो प्रकारके लोग हैं एक (वि+शफ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कशफ) पाशवी शक्तिसे हीन। सदा ही ऐसा देखा जाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोग निर्बल लोगोंको दबाते रहते हैं। इस कारण सामाजिक, राजकीय और धार्मिक विषमता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं। इन क्लेशोंके निवारणका एक मात्र उपाय यह है कि 'सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं,' इस उच्च भावको जाग्रत करना। यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि 'हम सबका परम पिता और परम माता एक ही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपसमें भाई भाई हैं' तो फिर एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा। क्योंकि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हट जाएगा तो झगडा ही कहां रहेगा? सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है।

मातृभूमिको अपनी माता मानना और सूर्य, द्युलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, झगडा मिटानेके लिये यह उत्तम उपाय है। मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत हो जाए तो उन सबकी एकता होनेमें विलंब नहीं लगेगा। मातृभूमिकी भक्ति ही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकताको विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है। मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेम ही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर विश्वबंधुत्वकी कल्पना भी आती है।

पराक्रम

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने सन्मुख रखकर, उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक त्याग करनेके लिये मनुष्योंको तैय्यार रहना चाहिये। जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटा देते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुरुषार्थ करना चाहिये। शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुरुषार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः। (मं. १)

'जैसे (अभिचक्र) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसे ही (अपकृणुत) उनको दूर भी करना चाहिये।' हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिए और उनको अपने स्थानके परे भी हटाना चाहिये। इतना करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये।

इस सबके लिये; सब लोगोंका बंधुत्व व परमात्माको सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है।

परिश्रमसे सिद्धि

परिश्रम करनेके बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो भी सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे ही साध्य होती है। जो भी विजयी लोग हुए हैं वे कभी भी थकते नहीं थे। वे परिश्रम करनेमें डरते नहीं थे, इसीलिये उनमें धारकशक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों, समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके। इसीलिये मंत्रमें कहा है—

अश्रेमाणो अधारयन्
तथा तन्मनुना कृतम्। (मं. २)

'जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वे ही धारण करते हैं। मननशीलने भी वैसा ही किया था।' परिश्रम करनेके बिना धारणशक्ति नहीं आ सकती। और जो मननशील लोग हैं वे भी अपनी मननशक्तिसे इसी परिणाम तक पहुंचे हैं। प्रयत्नशीलता ही मनुष्यमात्रका उद्धार करनेवाली है। इसलिये हरएक मनुष्यको प्रयत्नशीलताका महत्त्व जानकर पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अभ्युदय करना चाहिये।

परिश्रमी पुरुष अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सब ही अवस्थाएं प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है वह निश्चय पूर्वक कहता है कि—

कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव। (मं. २)

'मैं निश्चयसे विघ्नको उसीप्रकार निर्बल करता हूं जिस प्रकार अण्डकोशको तोडनेवाले लोग बैलोंको निर्वीर्य करते हैं।' पुरुषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब आधिव्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं। पुरुषार्थ प्रयत्नके सन्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते।

यहां बैलोंके अण्डकोश तोडकर उनको प्रजननके कार्यके लिये असमर्थ बनानेकी विद्या बताई है। खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

असुर-माया

'असुरमाया' का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है। 'माया' शब्दका अर्थ 'कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म'

है। 'असुर' शब्दका अर्थ '(अ-सुर) दैत्य अथवा (असु-र) जीवनकी विद्या जाननेवाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले' है। इसलिये 'असुर-माया' का अर्थ 'असुरोंके पासका कलाकौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या' है। यह असुरमाया अपनी अपनी ढंगकी देवोंके पास भी रहती है और दैत्योंके पास भी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायया देवा इव श्रवस्यवः चरथ। (मं. ४)

'इस जीवनकी विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुम भी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो।' देव जैसे इस जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थ मंत्रका कथन मनुष्योंको पुरुषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पूजनीय होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैंकडों विघ्न

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैंकडों हैं, व्यक्ति, समाज, जाति और राष्ट्रकी उन्नतिमें सैंकडों किसके विघ्न होते हैं,। पुरुषार्थके कार्यमें विघ्न तो अवश्य ही होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। इन विघ्नोंके विषयमें कहा है।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु। (मं. ६)

'सैंकडों विघ्न पृथ्वीपर हैं।' जब ये विघ्न हैं और हरएक कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनका प्रतिबंध करते हुए आगे बढना चाहिये। आगे बढनेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये—

आशवो रथा इव शपथेभिः उत् सरिष्यथ। (मं. ५)

'शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र आगे बढते हैं उसी प्रकार पुरुषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे डालकर आगे बढ जाओ।' अपना वेग बढानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे त्रस्त होते हैं। इसलिये अपनी पुरुषार्थशक्ति बढानेसे मनुष्य विघ्नोंको परास्त करके विजयका मार्ग सुधार सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये—

शुनां दूषणः कपिः इव। (मं. ४)

'कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसे होता है।' बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पर्वाह नहीं करते। वे कुत्तोंको तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं. अतः कुत्ते उन बंदरोंका कुछ बिगाड नहीं सकते। इसी प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोडकर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विघ्न कष्ट नहीं दे सकते। जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विघ्नसे मनुष्य अपने आपको बचावे। विघ्नका जो स्थान हो उससे अपना स्थान ऊंचा करनेसे मनुष्य उनसे सदा दूर रह सकता है। इसी विषयके सूचक निम्न लिखित मंत्र हैं—

श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः॥ (मं. ३)

काबवस्य च बन्धूराः॥ (मं. ४)

काबवं दूषयिष्यामि॥ (मं. ५)

'विघ्नोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शोषक विघ्नको निर्बल करें। विघ्नका प्रतिबन्ध करें। मैं विघ्नको परास्त करूंगा।'

ये सब विधान विघ्नोंके प्रतिबन्ध करनेके सूचक है। विघ्नोंको परास्त करना अथवा विघ्नोंको दूर करना यह मनुष्यक ध्येय है और इसके उपाय इससे पूर्व दिये ही हैं। शारीरिक व्याधियोंसे अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारणका उपाय इससे पूर्व कई सूक्तोंमें कहा गया है। (देखो काण्ड २ सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबन्ध हो जाता है इसलिये मणिधारणकी सूचना देनेके लिये सूक्तमें निम्न लिखित मंत्र भाग हैं—

पिशंगे सूत्रे गखृलं तदा बध्नन्ति वेधसः। (मं. १)

दुष्टयै हित्वा भत्स्यामि। (मं. ५)

तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्ध-दूषणम्॥ (मं. ६)

'भूरे रंगवाले सूत्रमें ज्ञानी लोग इस मणिको बांधते हैं दुरवस्था हटानेके लिये तुझे बांधूंगा। मणिको विघ्नोंका निर्बल करनेवाला सबसे मुख्य उपाय मानकर उपर उठाते और धारण करते हैं॥'

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिव्याधियोंको हटानेके लिए यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है। सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विश्वबंधुत्वकी कल्पनाका फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है। तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटानेके लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है।

आरोग्य-सूक्त

कां. २, सू. ३

(ऋषिः- अंगिराः । देवता- भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।)

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् । तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥
आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते । तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम् । तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अर्थ— (अदः यत्) यह जो (अवत् कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि अवधावति) पर्वतपरसे नीचे की ओर दौडता है (तत् ते) वह तेरी ऐसी (भेषजं कृणोमि) औषधि बनाता हूँ, (यथा सुभेषजं अससि) जिससे तू उत्तम औषधि कहलाए ॥ १ ॥

हे (अंग अंग) प्रिय ! (आत् कुवित्) अब बहुत प्रकारसे (या ते) जो तुझसे उत्पन्न होनेवाली (शतं भिषजानि) सैंकडों औषधियां हैं। (तेषां) उनमेंसे (त्वं) तू (अनास्रावं) घावको हटानेवाली और (अ-रोगणं) रोगको दूर करनेवाली (उत्तमं असि) उत्तम औषध है ॥ २ ॥

(असु-राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य (इदं महत् अरुस्राणं) इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाली औषधको (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं। (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावकी औषध है, (तत् उ रोगं अनीनशत्) वह रोगका नाश करती है ॥ ३ ॥

(उपजीकाः) जलमें काम करनेवाले (समुद्रात् अधि) समुद्रसे (भेषजं उद्भरन्ति) औषधि ऊपर निकालकर लाते हैं, (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावकी औषधि है, (तत् रोगं अशीशमत्) वह रोगका शमन करती है ॥४॥

(इदं अरुस्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाली (महत्) बडी औषधि (पृथिव्याः अधि उद्भृतं) भूमिके ऊपरसे लाई गई है। (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावकी औषध है (तत् ऊ) वह (रोगं अनीनशत्) रोगका नाश करती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— एक औषध पर्वतसे नीचे लाई जाती है, उससे सर्वोत्तम औषध बनती है ॥ १ ॥

उससे अनेकों औषधियां बनाई जाती हैं, परन्तु घावको हटाने अर्थात् रक्तस्रावको ठीक करनेके काममें वह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥ २ ॥

प्राणको बचानेवाले वैद्यलोग इस औषधको खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करनेकी औषध बनाते हैं, जिससे घाव ठीक हो जाता है ॥ ३ ॥

जलमें काम करनेवाले भी समुद्रसे एक औषधी ऊपर लाते हैं, वह भी घावको ठीक कर देती और रोगको शान्त करती है ॥ ४ ॥

यह पृथ्वीपरसे लाई गई औषध भी फोडेको ठीक करती है और घावको भर देती है और रोगका नाश करती है ॥५॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शान्तिदायक हों । (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे । तथा (रक्षसां विसृष्टाः इषवः) राक्षसों द्वारा छोडे गए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ— जल और ओषधियां हमारे लिए आरोग्य देनेवाली हों । हमारे क्षत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंको भगा देवें और हम पर फेंके गए शत्रुओंके शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका 'असु–र' शब्द 'प्राण रक्षक' वैद्यका वाचक है न कि राक्षसका ।

पर्वतके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायीं जाती हैं, और उनसे सैंकडों रोगों-पर दवाइयां बनायीं जाती हैं । इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है । जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है ।

शस्त्रोंका उपयोग

क्षत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्रका उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है ।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें 'हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच पायें' ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्तस्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं । युद्ध करनेके समय जो एक दूसरेसे संघर्ष होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होनेसे जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडोंका उत्पन्न होना भी संभव है । इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है । परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना चाहिए अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना चाहिए इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है । इसलिये इस समय हम सूक्तका अधिक विचार करनेमें असमर्थ हैं ।

आरोग्य सूक्त

कां. १, सू. ३

(ऋषिः– अथर्वा । देवता– मन्त्रोक्ता नाना देवता ।)

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥
विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

अर्थ— (विद्म) हमें पता है कि शरके पिता (शत–वृष्ण्यं) सैंकडों बलोंसे युक्त पर्जन्य,…मित्र,…वरुण,…चंद्र,…सूर्य… (ये पांच) हैं । (तेन) इन पांचोंके वीर्यसे (ते तन्वे) तेरे शरीरके लिये मैं (शं करं) आरोग्य करूं । (पृथिव्यां) पृथिवीके अन्दर (ते निषेचनं) तेरा सिंचन होवे और सब दोष (ते) तेरे शरीरसे (बाल् इति) शीघ्र ही (बहिः अस्तु) बाहर हो जावे ॥ १—५ ॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

मूत्रदोष-निवारण

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ६ ॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

अर्थ— (यत्) जो (आन्त्रेषु) आंतोंमें (गवीन्योः) मूत्र नाडियोंमें तथा जो (वस्तौ) मूत्राशयमें मूत्र (संश्रुतं) इकट्ठा हुआ है वह (ते मूत्रं) तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर (मुच्यतां) निकल जावे ॥६॥

(वेशन्त्याः) झीलके पानीके (वर्त्रं) बंधको (इव) जिस प्रकार खोल देते हैं तद्वत् तेरे (वेहनं) मूत्रद्वारको (प्र भिनद्मि) मैं खोल देता हूं इस प्रकार (ते मूत्रं) तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर (मुच्यतां) निकल जावे ॥ ७ ॥

(समुद्रस्य) समुद्रके अथवा (उदधेः) बडे तालाबके जलके लिये मार्ग खुला करनेके समान तेरा (वस्ति-बिलं) मूत्राशयका बिल मैंने (विषितं) खोल दिया है वह (ते मूत्रं) तेरा मूत्र (सर्वकं) सबका सब एकदम बाहर (मुच्यतां) निकल जावे ॥ ८ ॥

जिस प्रकार (धन्वनः अवसृष्टा) धनुष्यसे छूटा हुआ (इषुका) बाण (परा अपतत्) दूर जाता है (एवा) उस प्रकार (ते सर्वकं मूत्रं) तेरा सब मूत्र शीघ्र (बहिः मुच्यतां) बाहर निकल जावे ॥ ९ ॥

भावार्थ— तृणादिसे लेकर मनुष्यपर्यंत सृष्टिकी माता भूमि है और पिता पर्जन्य, मित्र, वरुण, चंद्र, सूर्य ये पांच हैं। इनमें अनंत बल है। उनके बलोंका योग्य उपयोग करनेसे मनुष्यके शरीरमें आरोग्य स्थिर रह सकता है, मनुष्यका जीवन दीर्घ हो सकता है और उसके शरीरसे सब दोष बाहर हो जाते हैं ॥ १-५ ॥

तालाब आदिसे जिस प्रकार नहर निकालते हैं जिससे तालाबका पानी सुखपूर्वक बाहर जाता है उसी प्रकार मूत्रा-शयसे मूत्र मूत्रनाडियों द्वारा मूत्रेंद्रियसे बाहर निकल जावे ॥ ६-९ ॥

*

आरोग्य-सूक्त

आरोग्यका साधन

पांच मंत्रोंका मिलकर यह एक ही गणमंत्र है और इसमें मनुष्यादि प्राणियों तथा वृक्षवनस्पतियोंके आरोग्यके मुख्य साधन दिये हैं। 'शर' शब्द घास वाचक होता हुआ भी सामान्य अर्थसे यहां उपलक्षण है और तृणसे लेकर मनुष्यतक सृष्टिका आशय उसमें है। विशेष अर्थमें 'शर' संज्ञक वनस्पतिका गुणधर्म बताया जाता है यह बात भी स्पष्ट ही है।

इन मंत्रोंमें 'पांच' पिता कहे हैं। 'पिता' शब्द पाता अर्थात् रक्षा, संरक्षण करनेवाला इस अर्थमें यहां प्रयुक्त है। तृणादिसे लेकर मानव-सृष्टिपर्यंत सबकी सुरक्षा करनेका कार्य इनका ही है। ये पांचों सब सृष्टिकी रक्षा कर ही रहे हैं। देखिये—

१ पर्जन्य वृष्टिद्वारा जलसिंचन करके सबका रक्षण करता है।

२ मित्र प्राणवायु है और इस वायुसे ही सब जीवित रहते हैं।

३ वरुण जलका देवता है और वह जल सबका जीवन ही कहलाता है।

४ चंद्र औषधियोंका अधिराजा है और औषधियाँ खाकर ही मनुष्य पशुपक्षी जीवित रहते हैं।

५ सूर्य सबका जीवनदाता प्रसिद्ध ही है। सूर्य न रहे तो सब जीवन नष्ट ही हो जाएगा।

इन पांचोंकी विविध शक्तियां हमारे जीवनके लिये सहायक हो रही हैं, इसलिये ये पांचों हमारे संरक्षक हैं और संरक्षक होनेसे ही हमारे पितृस्थानीय हैं। इनसे आरोग्य किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? यह प्रश्न बडा गहन और बडे अन्वेषणकी अपेक्षा रखता है। परंतु संक्षेपसे यहां इस विधिकी सूचना दी जाती है।

पर्जन्यसे आरोग्य

पर्जन्यका शुद्ध जल जो स्वाती आदि मध्य नक्षत्रोंसे प्राप्त किया जा सकता है वह बडा आरोग्यप्रद है। दिनके पूरे लंघनके समय यदि इसका पान किया जाय तो शरीरके संपूर्ण दोष दूर हो जाते हैं और पूर्ण नीरोगता प्राप्त होती है। वृष्टि जलके स्नानसे शरीरके शुष्क खुजली आदिका निवारण होता है अंतरिक्षमें शुद्ध प्राण विराजमान है वह वृष्टिके जल-बिंदुओंके साथ भूमिपर आता है। इसलिये वृष्टिजलका स्नान आरोग्यवर्धक है।

मित्र (प्राण) वायुसे आरोग्य

प्राणायामसे योगसाधनमें आरोग्यरक्षणका जो उपाय वर्णन किया है वह यहां अनुसंधेय है। दोनों नासिका-रन्ध्र-सूत्र-नेतिसे, भस्त्रिकासे अथवा जलकी नेतिसे स्वच्छ और मल-रहित रखनेसे प्राणवायु अंदर जाता और उत्तम पवित्रता स्थापित करता है। खुली वायुमें सब कपडे उतार कर रहनेसे भी होनेवाला वायुस्नान बडा आरोग्यवर्धक है। जो सदा वस्त्ररहित रहते हैं उनको रोग कम होते हैं इसका यही कारण है। वस्त्रोंके बढनेसे भी रोग बढे हैं इसका कारण इतना ही है कि वस्त्रोंके कारण प्राणवायुका संबंध शरीरके साथ जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होता और इस कारण आरोग्य न्यून होता है।

वरुण (जल) देवसे आरोग्य

वरुण मुख्यतः समुद्रका देव है। समुद्रके खारे पानीके स्नानसे संपूर्ण चर्मदोष दूर होते हैं, रुधिराभिसरण होता है, पाचनशक्ति बढती है और अनेक प्रकारसे आरोग्य प्राप्त होता है। अन्य जल अर्थात् तालाब, कुंए, नदी आदिकोंके जलके स्नानसे, उनमें उत्तम प्रकारसे तैरनेसे भी कई दोष दूर हो जाते हैं। जलचिकित्साका यह विषय है वह पाठक यहां अनुसंधान करके देखें यह बडा ही विस्तृत विषय है क्योंकि प्रायः सभी बीमारियां जलचिकित्सासे दूर हो सकती हैं।

चन्द्र (सोम) देवसे आरोग्य

चंद्र औषधियोंका राजा है, इसका दूसरा नाम सोम है। सोमादि औषधियोंसे आरोग्य प्राप्त करनेका साधन चरकादि आचार्योंने अपने वैद्य ग्रंथोंमें लिखा ही है। इसी साधनका दूसरा नाम 'वैद्यक' है।

सूर्यदेवसे आरोग्य

सूर्य पवित्रता करनेवाला है। सूर्यकिरणसे जीवनका तत्त्व सर्वत्र फैलता है। सूर्यकिरणोंका स्नान नंगे शरीर होकर करनेसे अर्थात् धूपमें अपना शरीर तपानेसे आरोग्य प्राप्त होता है। सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा करनेका भी एक बडा भारी शास्त्र है।

पञ्चपाद पिता

ये पांच देव अनेक प्रकारसे मनुष्य, पशुपक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदिकोंका आरोग्य सिद्ध करते हैं। वृक्षवनस्पति और आरण्यक पशु उक्त पंचपाद पितरों अर्थात् पांचों देवोंके साथ पांचों पिताओंके साथ-पांचों रक्षकोंके साथ नित्य रहते हैं, इसलिये सदा आरोग्य संपन्न होते हैं। नागरिक पशुपक्षी मनुष्यके कृत्रिम– बनावटी जीवनसे संबंधित होनेके कारण रोगोंसे अधिक ग्रस्त होते हैं। जंगली लोग प्रायः सीदे सादे रहनेके कारण अधिक नीरोग होते हैं। परंतु नागरिक लोग कि जो सदा तंग मकानोंमें रहते हैं, सदा तंग वस्त्रोंसे वेष्टित होते हैं और जल वायु तथा सूर्य प्रकाश आदिकोंसे अपने आपको दूर रखते हैं, अर्थात् जो अपने पंचपिताओंसे ही विमुख रहते हैं वे ही अधिकसे अधिक रोगी होते हैं और प्रति दिन इस तंगीसे पीडित नागरिक लोगोंमें ही विविध रोग बढ रहे हैं और अस्वास्थ्यसे ये ही सदा दुःखी होते हैं।

इसलिये वेद कहता है कि पर्जन्य, मित्र (प्राण) वायु, जलदेव वरुण, चंद्र, सूर्यदेव इन पांच देवोंको अपना पिता अर्थात् अपना संरक्षक जानो और—

तेना ते तन्वे शं करम्।

'इन पांचों देवोंके विविध बलोंसे अपने शरीरका आरोग्य प्राप्त करो' अथवा 'मैं उक्त देवोंकी शक्तियोंसे तेरे शरीरको आरोग्य युक्त करूं।' आरोग्य इनसे ही प्राप्त होता है। आरोग्यका मुख्य ज्ञान इस मंत्रमें स्पष्टतया आया है।

पृथ्वीमें जीवन

पृथ्वीमें प्राणिमात्रका सामान्यतः और मनुष्यका उच्च जीवन विशेषतः उक्त पांचों शक्तियोंपर ही निर्भर है। मंत्रका 'निषेचन' शब्द 'जीवनरूप जल' का सूचक है इस लिये—

ते पृथिव्यां निषेचनम्।

इस मंत्रभागका आशय 'तेरा पृथ्वीमें जीवन' पूर्वोक्त पांचों देवताओंके साथ संबंधित है यह स्पष्ट है। जो शरीरका आरोग्य, शरीरका कल्याण करनेवाले हैं वेही जीवन अथवा दीर्घ जीवन देनेवाले निश्चयसे हैं। इनके द्वारा ही—

ते वाल् इति बहिः अस्तु।

'तेरे शरीरके दोष शीघ्र बाहर हो जांय।' पूर्वोक्त पांचों देवोंके योग्य संबंधसे शरीरके सब दोष शरीरसे बाहर हो जाते हैं। देखिये—

(१) वृष्टि जल-पान-पूर्वक लंघन करनेसे मूत्रद्वारा शरीर दोष बाहर हो जाते हैं।

(२) शुद्ध प्राणके अंदर जानेसे रक्तशुद्धि होती है और उच्छ्वासद्वारा दोष दूर होते हैं।

(३) जलचिकित्साद्वारा हरएक अवयवके दोष दूर किये जा सकते हैं।

(४) सोम आदिके औषधियोंका औषधि नाम इसलिये है, कि वे शरीरके (दोष-धी) दोषोंको धोती हैं।

(५) सूर्यकिरण पसीना लाने तथा अन्यान्य रीतियोंसे शरीरके रोग बीज दूर कर देते हैं।

इस रीतिसे पाठक अनुभव करें कि ये पांच देव किस प्रकार शरीरका (शं करं) कल्याण करते हैं। आरोग्य देते हैं, (निषेचनं) जीवन बढाते हैं और (बहिः) दोषोंको बाहर निकाल देते हैं।

'शं' शब्द 'शांति' का सूचक है। शरीरमें 'शांति, समता, सुख' आदि स्थापन करना आरोग्यका भाव बता रहा है। ये देव 'शं' करनेवाले हैं, इसका तात्पर्य यही है कि, ये आरोग्यके बढानेवाले हैं। आरोग्य बढानेके कारण जीवन बढानेवाले अर्थात् दीर्घ जीवन देनेवाले हैं और सदा सर्वदा दोषोंको शीघ्र बाहर करनेवाले हैं। पाठक इस मंत्रके मननसे अपने आरोग्यके मुख्य सिद्धान्तका ज्ञान स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार आरोग्यके मुख्य साधनका सामान्यतया उपदेश करके मूत्रदोष निवारणका विशेष उपाय बताते हैं—

मूत्र दोष निवारण

मूत्र खुली रीतिसे बाहर जानेसे शरीरके बहुत दोष दूर हो जाते हैं। शरीरके सब विष मानो इस मूत्रमें इकट्ठे हुए होते हैं और इस मूत्रके बाहर जानेसे विष भी उसके साथ बाहर निकल जाता है और आरोग्य प्राप्त होता है। इसीलिये किसी रोगीका मूत्र अंदर रुक जानेसे मूत्रका विष शरीरमें फैलता है और रोगी शीघ्रही मर जाता है। इस कारण आरोग्यके लिये मूत्रका उत्सर्ग नियमपूर्वक होना अत्यंत आवश्यक है। यदि वह मूत्र मूत्राशयमें रुक जाय तो मूत्र नलिकाको खोल कर मूत्रका मार्ग खुला करना आवश्यक है। इस कार्यके लिये शर या मुञ्ज औषधिका प्रयोग बडा सहायक है। वैद्य लोग इसका उपयोग करें। इसपर दूसरा उपाय मूत्रद्वार खोलनेका है इसके लिये लोहशलाका बस्तियंत्र (Catheter कैथेटर) का प्रयोग करनेकी सूचना इन मंत्रोंकी उपमाओंसे

मिलती है। यह मूत्राशय यंत्र सोनेका, चांदीका या लोहेका बनाया जाता है, यह बारीक नलिका आरंभमें गोल सी होती है आजकल यह रबर आदि अन्यान्य पदार्थोंका भी बना बनाया मिलता है। इस समय इसको हरएक डाक्टरके पास पाठक देख सकते हैं। यह मूत्र इंद्रियसे मूत्राशयमें योग्य रीतिसे डाला जाता है। वहां पहुंचनेसे अंदर रुका हुआ मूत्र इसके अंदरकी नलीसे बाहर हो जाता है।

योगी लोग इसकी सहायतासे वज्रोली आदि क्रियाएं साध्य करते हैं मूत्रद्वारसे गुनगुना दूध अथवा जल आदि अंदर मूत्राशयमें खींचने और उसके द्वारा मूत्राशयको शुद्ध करनेका सामर्थ्य अपनेमें बढाते हैं। इसका अभ्यास बढानेसे न केवल मूत्राशयपर प्रभुत्व प्राप्त होता है अपितु संपूर्ण वीर्य नाडियोंके समेत संपूर्ण वीर्याशयपर भी प्रभुत्व प्राप्त होता है। ऊर्ध्वरेता होनेकी सिद्धि इसीके योग्य अभ्याससे प्राप्त होती है। योगी लोग इस अभ्यासको अतिगुप्त रखते हैं और योग्य परीक्षाके पश्चात् ही यह अभ्यास शिष्यको सिखाया जाता है। पूर्णब्रह्मचर्य रहना इसी अभ्याससे साध्य होता है। गृहस्थ धर्म पालन करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालनकी संभावना इस अभ्याससे हो सकती है।

जिस प्रकार तालाब या कुंवेके अंदरसे पहिला जल निकालनेसे उसकी स्वच्छता होती है, और शुद्ध नया जल उसमें आनेसे इसका अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसी प्रकार मूत्राशयका पूर्वोक्त प्रकार योगादि साधनद्वारा बल बढानेसे बडा ही आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

सामान्य मनुष्योंके लिये मुञ्ज औषधिके प्रयोगसे अथवा मूत्राशयमें मूत्रबस्ति यंत्रके प्रयोगसे लाभ होता है। योगियोंको वज्रोली आदि अभ्याससे मूत्रस्थानकी सब नस नाडियोंको बलसे युक्त और शुद्ध करनेसे आरोग्य प्राप्त होता है।

पूर्वापर सम्बन्ध

द्वितीय सूक्तमें आरोग्य साधनका विषय प्रारंभ किया था। उसी आरोग्य प्राप्तिका विस्तृत नियम इस तृतीय सूक्तके प्रथम पांच मंत्रोंके गणमें कहा है। सबके आरोग्यका मानो यह मूलमंत्र ही है। हरएक अवस्थामें सुगमतया आरोग्य-साधनका उपाय इस गणमंत्रमें वर्णन किया है। इस तृतीय सूक्तके अंतिम चार मंत्रोंमें मूत्राशयके दोषको दूर करनेका साधन बताया है।

इस सूक्तका 'शत वृष्ण्यं' शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'वृष्ण्यं' शब्द बल, वीर्य, उत्साह, प्रजनन सामर्थ्य आदिका वाचक है। ये सैंकडों बल देनेवाले पूर्वोक्त पांचों देव हैं यह यहां इस सूक्तसे स्पष्ट हुआ है। वीर्यवर्धक अन्य उपायोंका अवलंबन न करके पाठक यदि इन पांचोंको ही योग्य रीतिसे वर्तते रहेंगे तो उनको अनुपम लाभ हो सकता है।

द्वितीय सूक्तमें 'भूरि धायस्' शब्द है जिसका अर्थ है 'अनेक प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला' यह भी पर्जन्यके साहचर्यके कारण इस सूक्तमें अनुवृत्तिसे आता है और पांचों देवोंका विशेषण बनता है।

'भूरि-धायस्' शब्दका 'शत-वृष्ण्यं' शब्दसे निकट संबंध है, मानो ये दोनों शब्द एक दूसरेके सहायक हैं। विशेष प्रकारसे धारण पोषण करनेवाला ही सैंकडों वीर्योंको देनेवाला हो सकता है। क्योंकि पुष्टिके साथ ही बलका संबंध है। इस प्रकार पूर्व सूक्तसे इस सूक्तका संबंध देखिये।

शरीरशास्त्रका ज्ञान

इस सूक्तके मननसे पाठकोंने जान ही लिया होगा कि शरीरशास्त्रका ज्ञान अथर्वविद्याके यथावत् जाननेके लिये अत्यंत आवश्यक है। मूत्राशयमें शलाकाका प्रयोग विना वहांके अवयवोंके जाननेके नहीं हो सकता। शरीरशास्त्रको न जाननेवाला मनुष्य योगसाधन ज्ञान भी यथायोग्य रीतिसे प्राप्त नहीं कर सकता।

यह 'अंगि-रस' का विषय है, अर्थात् अंगोंके रसोंका ही यह अथर्वशास्त्र है। अर्थात् जिसने अंगोंका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, अंगोंको अंदरके जीवन रसोंका जिसको कुछ भी ज्ञान नहीं है वह अथर्वविद्यासे बहुत लाभ प्राप्त नहीं कर सकता।

डाक्टर लोग जिस प्रकार मुर्दोंकी चीर फाड करके शरीरांगोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार योगियों और अथर्वाङ्गिरसविद्याके पढनेवालोंको करना उचित है।

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण

कां. ४, सू. १३

(ऋषिः- शंतातिः । देवता- चन्द्रमाः, विश्वेदेवाः)

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः । दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः । त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः । त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः । दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! हे देवो ! जो (अवहितं) अवनत होता है उसको (पुनः उन्नयथ) तुम फिर उठाओ । हे देवो ! हे देवो ! (उत आगः चक्रुषं) जो पाप करता है उसको भी (पुनः जीवयथ) तुम फिर जिलाओ ॥ १ ॥

(द्वौ इमौ वातौ) यह दोनों वायु हैं, एक (आ सिन्धोः) सिन्धु देश तक जाता है और दूसरा (आ परावतः) बाहर दूर स्थान तक जाता है । इनमेंसे (अन्यः ते दक्षं आवातु) एक तेरे लिये बल बढावे, (यत् रपः अन्यः आवातु) जो दोष है उसको दूसरा बाहर निकाल देवे ॥ २ ॥

हे (वात, भेषजं आवाहि) वायो ! तू रोगनाशक रस ला, हे (वात, यत् रपः, विवाहि) वायो ! जो दोष हो उसे निकाल दे । (हि) क्योंकि, हे (विश्व-भेषज) सर्व रोगके निवारक ! (त्वं देवानां दूतः ईयसे) तू देवोंका दूत होकर चलता है ॥ ३ ॥

(देवाः इमं त्रायन्तां) देव इसकी रक्षा करें, (मरुतां गणाः त्रायन्तां) मरुतोंके गण इसकी रक्षा करें । (विश्वा भूतानि त्रायन्तां) सब भूत इसकी रक्षा करें (यथा अयं अरपाः असत्) जिससे यह नीरोग हो जाय ॥४॥

(शं-तातिभिः) शांतिदायकोंके साथ और (अथो अ-रिष्ट-तातिभिः) विनाशनिवारक गुणोंके साथ (त्वा आ आगमं) तुझको मैं प्राप्त करता हूं । (ते उग्रं दक्षं आ अभारिषं) तेरे लिये उग्र बल मैं लाया हूं । और (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे रोगको मैं दूर करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— देवता लोग गिरे हुए मनुष्यको भी फिर उठाते हैं और जो पाप करते हैं उसको भी फिर सुधारते हैं ॥१॥

दो प्राण वायु हैं, एक फेंकडोंके अन्दर रुधिरतक जानेवाला प्राण है और दूसरा बाहर जानेवाला अपान है । पहला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको हटाता है ॥ २ ॥

वायु रोगनाशक औषध लाता है और शरीरमें जो दोष होते हैं उन दोषोंको हटाता है । यह सब रोगोंका निवारण करनेवाला है, मानो यह देवोंका दूत है ॥ ३ ॥

सब देव, मरुद्गण, तथा सब भूत इस रोगीकी रक्षा करें और यह सत्वर नीरोग हो जावे ॥ ४ ॥

हे रोगी ! मैं तेरे पास कल्याण करनेवाले और विनाशको दूर करनेवाले सामर्थ्योंके साथ आया हूं । अब मैं तेरे अन्दर बल भर देता हूं और तेरा रोग दूर करता हूं ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

अर्थ— (अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ भगवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा हाथ अधिक भाग्यशाली है । (अयं मे विश्वभेषजः) यह मेरा हाथ सब रोगोंका निवारक है । (अयं शिव-अभिमर्शनः) यह मेरा हाथ शुभ और मंगल बढानेवाला है ॥ ६ ॥

(दशशाखाभ्यां हस्ताभ्यां) दशशाखोंवाले दोनों हाथोंसे (जिह्वा वाचः पुरोगवि) जिह्वा वाणीको आगे चलानेवाली करता हूं । (ताभ्यां अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां) उन आरोग्यदायक दोनों हाथोंसे (त्वा अभि-मृशामसि) तुझको स्पर्श करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह मेरा हाथ सामर्थ्यशाली है और मेरा दूसरा हाथ तो अधिक ही प्रभावशाली है । मेरे इस एक हाथमें सब रोग दूर करनेवाली शक्तियां हैं, और इस दूसरे हाथमें मंगल करनेका धर्म है ॥ ६ ॥

दस अंगुलियोंके साथ इन अपने दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं और मेरी जिह्वा वाणीसे प्रेरणाके शब्द बोलती है । इस प्रकार नीरोगता करनेवाले इन अपने दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूं ॥ ७ ॥

हस्तस्पर्शसे रोगनिवारण

देवोंकी सहायता

पहिला मंत्र देवोंकी सहायताका वर्णन करता है– ' गिरे हुए मनुष्यको भी देव फिर उठाते हैं, एक बार पाप करनेसे जो मरनेकी अवस्थातक पंहुचा है उसको भी देव फिर जीवन देते हैं । ' (मं. १) यह प्रथम मंत्रका कथन मनुष्यको बहुत सहारा देनेवाला है । मनुष्य किसी प्रलोभनमें फंस कर पाप करता है, पापसे अस्वस्थ होता है, रोगी होता है और क्षीण होनेतक अवस्था आती है, मृत्यु आनेकी भी संभावना हो जाती है । ऐसी अवस्थामें पंहुचा हुआ मनुष्य देवताओंकी सहायतासे नीरोग हो सकता है और पुनः दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है । ऐसी अवस्थामें सहायता देनेवाले देव कौनसे हैं ? मृत्तिका, जल, अग्नि, सूर्य-किरण, वायु, विद्युत्, औषधि, अन्न, रस, वैद्य आदि देवताएं हैं कि जिनकी सहायतासे मनुष्य रोगोंको दूर कर सकता है और दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है । ये सब देव मनुष्य के सहायक हैं । मनुष्य चिन्तामें न रहे, बीमार होनेपर अत्यधिक चिंता न करे । क्योंकि चिन्ता एक भयंकर व्याधि है । इस चिन्ताको दूर करनेके लिये इस मंत्रके उपदेशपर विश्वास रखे कि पूर्वोक्त देवताओंकी सहायतासे नीरोगता प्राप्त हो सकती है । देव हमारे चारों ओर हैं और वे मनुष्य मात्रकी तथा प्राणिमात्रकी सहायता करते हैं, उनकी सहायतासे हीन अवस्थामें पहुंचा हुआ मनुष्य उन्नत हो सकता है और रोगी भी नीरोग हो सकता है ।

प्राणके दो देव

शरीरमें प्राणके दो देव हैं जो यहां बडा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं । प्राण और अपान ये दो देव हैं, एक प्राण हृदयके अंदर तक जाता है और वहां अपनी प्राणशक्ति स्थापित करके मृत्युको हटाता है और दूसरा अपान है जो शरीरके मलोंको दूर करता हुआ विविध रोग बीजोंका नाश करता है । पहिला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको दूर करता है, इस रीतिसे ये दोनों देव इस शरीरकी रक्षा करते हैं और आरोग्य बढाते हैं । यह द्वितीय मंत्रका कथन स्मरण रखने योग्य है । यहां प्राण अपान अथवा श्वास और उच्छ्वास ये भी दो देव हैं ऐसा माना जा सकता है ।

देवोंका दूत

तृतीय मंत्रका कथन है कि ' प्राण रोगनिवारक शक्ति शरीरमें लाता है और अपान सब दोषोंको दूर करता है, इस प्रकार यह वायु सब रोगोंको दूर करनेवाला देवोंका दूत ही है। ' (मं. ३) अपने शरीरमें सब इंद्रियां देवताओंके अंश हैं, उनकी सेवा यह प्राण पूर्वोक्त प्रकार करता है, जीवन शक्तिकी प्रत्येक अवयवमें स्थापना करना और प्रत्येक स्थानके दोष दूर करना यह दो प्रकारकी सेवा इस शरीररूपी देवमंदिरमें प्राण करता है। इस विचारसे प्राणका महत्त्व जानना चाहिये।

चतुर्थ मंत्रमें ' सब देव, सब मरुत् और सब भूतगण इस रोगकी सहायता करें ' इस विषयकी प्रार्थना है। इसका आशय पूर्वोक्त विचारसे स्वयं स्पष्ट होनेवाला है।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य

हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी विद्या आजकल ' मेस्मेरिज्म ' के नामसे प्रसिद्ध है। यह ' मेस्मेरिज्म ' शब्द ' मेस्मर ' नामक यूरोपीयनके नामपर है, यह विद्या उसने प्रथम यूरोपमें प्रकाशित की, इसलिये इस विद्याको उसीका नाम उसका गौरव करनेके लिये दिया गया। मेस्मर साहबने पचास वर्ष पूर्व यूरोपमें इस विद्याका प्रचार किया, परंतु पाठक इस सूक्तमें ' हस्तस्पर्शसे आरोग्य ' प्राप्त करनेकी विद्या देख सकते हैं, अर्थात् यह विद्या वेदने कई शताब्दियां पहले ही प्रकाशित की थी और ऋषिमुनि इसका अभ्यास करके रोगियोंको आरोग्य देते थे। हस्तस्पर्शसे, दृष्टिक्षेपसे, शब्दके कथन मात्रसे, तथा इच्छामात्रसे आरोग्य देनेकी शक्ति योगाभ्याससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, इसके अनुष्ठानकी विधियां वेदादि आर्यशास्त्रोंमें लिखी हैं। इस विद्याको पाठक इस सूक्तके मं. ५ से ७ तक देख सकते हैं। मनको एकाग्र करना और अपनी सब शक्ति मनमें संग्रहीत करना तथा जिस कार्यमें चाहे उसका उपयोग करना यह जिसको साध्य है वह मनुष्य इससे लाभ उठा सकता है, अर्थात् अनुष्ठानसे सिद्धि पहिले प्राप्त करनी चाहिये, पश्चात् हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेका सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है।

रोगीपर प्रयोग करनेके समय प्रयोग करनेवाला कैसे शब्द बोले यही बात इन तीन मंत्रोंमें कही है—

' हे रोगी मनुष्य ! मेरे अंदर शांति और समता स्थापित करनेका गुण है और दोषों तथा विनाशको दूर करनेका भी गुण है। इन गुणोंके साथ मैं तेरे समीप आया हूं, अब तू विश्वास धारण कर कि, मैं अपने पहिले सामर्थ्यसे तेरे अंदर बल भर देता हूं और अपने दूसरे गुणसे तेरा रोग समूल दूर करता हूं। इस रीतिसे तू निःसंदेह नीरोग और स्वस्थ हो जायगा। (मं. ५)

' हे रोगी मनुष्य ! देख ! यह मेरा हाथ बडा प्रभावशाली है, और यह दूसरा हाथ तो उससे भी अधिक सामर्थ्यवान् है। यह मेरा हाथ मानो संपूर्ण औषधियोंकी शक्तियोंसे भरपूर है और यह दूसरा हाथ तो निःसंदेह मंगल करनेवाला है। अर्थात् इसके स्पर्शसे तू निःसंदेह नीरोग और बलवान् बनेगा। (मं. ६)

' हे रोगी मनुष्य ! ये दस अंगुलियोंके साथ मेरे दोनों हाथ संपूर्ण रोग दूर करनेवाले हैं। इनसे तेरा अब मैं स्पर्श करता हूं, इस स्पर्शसे तेरा सब रोग दूर होगा और तू पूर्ण नीरोग हो जाएगा। तू अब स्वास्थ्यपूर्ण हुआ है, यह मैं अपने सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली शब्दोंसे भी तुझे कहता हूं। (मं. ७) '

मंत्रोंसे निकलनेवाला आशय अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ विशेष शब्दोंका भी उपयोग ऊपर लिखे भावार्थमें किया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा कि इसका प्रयोग रोगीके ऊपर किस विधिसे किया जाता है। प्रयोग करनेवालेको अपना मन एकाग्र करना चाहिये और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा रोगीके मनको प्रेरणा देनी चाहिये। रोगीके मनको प्रभावित करनेसे और अपने पवित्र शब्दों द्वारा रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है। जो किसीपर भी विश्वास नहीं रखते वे अविश्वासी लोग इससे लाभ नहीं प्राप्त कर सकते।

दुर्गतिसे बचना

कां. ६, सू. ८४

(ऋषिः- भगः । देवता- निर्ऋतिः ।)

यस्या॑स्त आ॒सनि॑ घो॒रे जु॒होम्ये॒षां ब॒द्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय॒ कम् ।
भूमि॒रिति॑ त्वाभि॒प्रम॑न्वते॒ जना॒ निर्ऋ॑ति॒रिति॑ त्वा॒हं परि॑ वेद स॒र्वतः॑ ॥ १ ॥
भूते॑ ह॒विष्म॑ती भवै॒ष ते॑ भा॒गो यो अ॒स्मासु॑ । मु॒ञ्चेमान॒मूनेन॑सः॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥
ए॒वो ष्व१॒स्मन्निर्ऋ॑ते॒ऽने॒हा त्वम॑य॒स्मया॒न्वि चृ॑ता बन्धपा॒शान् ।
य॒मो मह्यं॑ पु॒नरित्त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥
अ॒य॒स्मये॑ द्रुप॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म् ।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्याः ते घोरे आसनि) जिस तेरे क्रूर मुखमें (एषां बद्धानां अवसर्जनाय) इन बद्ध हुओंकी मुक्तताके लिये (कं जुहोमि) अपने सुखकी आहुति देता हूं। (त्वा जनाः भूमिः इति अभिप्रमन्वते) तुझको लोग अपनी जन्मभूमि मानते हैं और (अहं त्वा सर्वतः निर्ऋतिः परिवेद) मैं तुझको सब प्रकारके कष्टोंकी जड मानता हूं ॥ १ ॥

हे (भूते) उत्पन्न हुई ! (हविष्मती भव) हवन करनेवाली हो (एषः ते भागः यः अस्मासु) यह तेरा भाग है जो हममें है। (इमान् अमून् एनसः मुञ्च) इनको पापसे छुडा (स्वाहा=सु आह) मैं सच कहता हूं ॥ २ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (अनेहा एव उ त्वं) अविनाशिका होकर तू (एवो) निश्चयसे (अयस्मयान् बन्धपाशान् अस्मत् सु विचृत) लोहेके बने बन्धनोंके पाशोंको खोल दे। (यमः मह्यं त्वा पुनः इत् ददाति) यम मेरे लिये तुझको पुनः पुनः देता है। (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस यम मृत्युके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥

जब तू (अयस्मये द्रुपदे बेधिषे) लोहमय काष्टस्तंभमें किसीको बांध देती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यहां बांधा जाता है। (त्वं इमं उत्तमं नाकं अधिरोहय) तू इसको उत्तम स्वर्गमें चढा दे ॥ ४ ॥

भावार्थ— दुरवस्था बडी कठिन है, उसमें बंधे अतएव जो पराधीन हुए हैं, उनकी मुक्तता होनी चाहिये। इस कार्यके लिये अपने सुखको त्यागनेका प्रयत्न करना चाहिये। कई लोग तो इसी पराधीनताको अपना आश्रय मानते हैं और उसके निवारणके लिये प्रयत्नतक नहीं करते। परन्तु यह दुरवस्था सबसे भयानक है ॥ १ ॥

जो दुरवस्थाका भाग अपने अंदर हो, उसको प्रयत्नसे दूर हटाना चाहिये ॥ २ ॥

दुर्गतिको दूर करना चाहिये। लोहेके सब पाश तोडने चाहिये। इन पाशोंको तोडनेके लिये ही यम वारंवार जन्म देता है अतः उसको नमन करना उचित है ॥ ३ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उनको हजारों दुःख और सैंकडों आपत्तियां सताती हैं, इन रक्षकोंके और नियामकके साथ संमेलन करके इस मनुष्यको बन्धमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ४ ॥

पराधीनता सम्पूर्ण दुःखोंका मूल है, अतः हरएकको उचित है कि वह पराधीनतारूप दुर्गतिके पाश तोडे और स्वतंत्र-रूप स्वर्गधाममें स्थान प्राप्त करे।

दुर्गतिसे बचनेका उपाय

कां. २, सू. १०

(ऋषिः- भृगुः अंगिराः । देवता- निर्ऋतिः, द्यावापृथिवी, नानादेवताः ।)

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ २ ॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ३ ॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(त्वा) तुझे (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे और (वरुणस्य पाशात् मुंचामि) वरुणके पाशसे छुडाता हूँ। (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानके द्वारा निष्पाप करता हूँ (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(अद्भिः सह अग्निः ते शं अस्तु) सब जलोंके साथ अग्नि तेरे लिए कल्याणकारी हो, तथा (ओषधीभिः सह सोमः शं) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिए सुखदायी हो (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी प्रकार मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ २ ॥

(अन्तरिक्षे वातः) अन्तरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः शं धात्) तेरे लिए बलयुक्त कल्याण देवे। तथा (चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु) चारों दिशायें तेरे लिए कल्याणकारी हों (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी प्रकार मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोडनेसे होनेवाले बंधन आदि सब दुर्गतियोंसे निर्दोष होकर पवित्र बननेका एक मात्र उपाय ज्ञान ही है दूसरा उपाय नहीं है ॥ १ ॥

*

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ५ ॥
अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ६ ॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशायें जो (वातपत्नीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (सूर्यः अभिविचष्टे) जो सूर्य चारों ओर देखता है, वह तेरे लिए कल्याणकारी हो। (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी प्रकार मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ ४ ॥

(तासु त्वा) उनमें तुझको (जरसि अन्तः आदधामि) मैं वृद्धावस्थाके अन्दर धारण करता हूँ । तेरे पाससे (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुंह करके दूर चले जाएं (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी प्रकार मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ ५ ॥

(यक्ष्मात्) क्षय रोगसे (दुरितात्) पापसे (अवद्यात्) निन्दनीय कर्मसे (द्रुहः पाशात्) द्रोहके बंधनसे (ग्राह्याः) जकडनेवाले संधिरोगसे तू (अमुक्थाः) मुक्त हुआ है (उत् अमुक्थाः) तू बिल्कुल छूट चुका है । (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी प्रकार मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ ६ ॥

(अ-रातिं अहाः) कृपणताको तूने छोडा है (स्योनं अविदः) सुखको तूने पाया है (अपि सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः) और भी पुण्यकारक आनन्ददायी लोकमें तू आया है । (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी कारण मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥७॥

भावार्थ— इस ज्ञानसे ही द्युलोक अन्तरिक्षलोक और पृथ्वीलोकके अन्तर्गत सम्पूर्ण पदार्थ अर्थात् जल, अग्नि, औषधियां, सोम, वायु सब दिशाओंमें रहनेवाले सब पदार्थ सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखवर्धक होते हैं और आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं ॥ २-७ ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेनसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (देवाः) देवोंने (तमसः ग्राह्याः) अंधकारकी पकडसे तथा (एनसः अधि मुंचन्तः) पापसे मुक्त करते हुए (ऋतं सूर्यं निः असृजन्) सत्यस्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्) इसी प्रकार मैं तुझे आनुवंशिक रोगसे (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे (जामिशंसात्) सम्बन्धियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे (द्रुहः) द्रोहसे (वरुणस्य पाशात्) और वरुणके पाशसे (मुंचामि) छुडाता हूँ (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे आस्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक तेरे लिए कल्याणकारी हों ॥ ८ ॥

भावार्थ— इसी ज्ञानसे मैं तुझे वृद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयु तक ले जाता हूँ । इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जाएंगे ॥ ५ ॥

क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहके पाश, संधिवात आदि आपत्तियोंसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुझे रोगादियोंसे छुडाता हूँ ॥ ६ ॥

इस ज्ञानसे ही तू अपने अन्दरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोकको प्राप्त कर । मैं भी इस ज्ञानसे ही तुझे आपत्तिसे बचाता हूँ ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको हटाकर स्वयं अपनी शक्तिसे उदयको प्राप्त होता है। इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घने अन्धकारकी पकडको दूर करते हुए स्वयं अपनी शक्तिसे प्रकाशते हैं । इसी तरह स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना उद्धार करना चाहिए, क्योंकि उन्नतिका यही एक मात्र मुख्य साधन है ॥ ८ ॥

दुर्गतिसे बचनेका उपाय

दुर्गतिका स्वरूप

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया गया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बडा महत्वपूर्ण है । इस सूक्तमें दुर्गतिका स्वरूप इस प्रकार बताया है ।

१ क्षेत्रियः— माता पितासे प्राप्त होनेवाले रोग, अशक्तता अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियां । ये जन्मसे ही खूनके साथ सन्तानमें आती हैं ।

२ निर्ऋतिः— विनाश, अधोगति, आपसकी फूट, सत्य-नियमोंका उल्लंघन, दुरवस्था, विरुद्ध परिस्थिति, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति । (मं. १)

३ जामिशंसः— इसमें दो शब्द हैं, जामि+शंस । इनके अर्थ हैं जामि= वंश, नाता, सम्बन्ध, जल, अंगुली, सम्मान्य स्त्री, पुत्री, बहिन, बहु और 'शंस' के अर्थ हैं प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, कष्ट, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति । इन दोनोंको मिलानेसे 'जामिशंस' का अर्थ होता है 'नातेके कारण आनेवाली आपत्ति या अपकीर्ति या स्त्रीविषयक होनेवाला लांछन या कलंक' इत्यादि । इसी प्रकार अन्यान्य अर्थ भी पाठक विचार करके देख सकते हैं परन्तु अर्थोंमें आपत्ति या कष्टका सम्बन्ध अवश्य चाहिये, क्योंकि निर्ऋति द्रोह आदिके गणमें यह 'जामिशंस' शब्द आया है, इसलिये इसका आपत्तिदर्शक अर्थ ही यहां अपेक्षित है । (मं. १)

४ द्रुहः— द्रोह, घातपात, विश्वास देकर घात करना । (मं. १)

५ वरुणस्य पाशः— वरुण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है । सबसे जो 'वर' है उसको वरुण कहते हैं । उस जगदीशके पाश सब जगत्में फैले हुए हैं और उनसे कुकर्मी पुरुष बांधे जाते हैं । जगत्में उस परमात्माकी ऐसी व्यवस्था है, कि बुरे कर्म स्वयं पाश रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पडता है । (मं. १)

६ यक्ष्मः– क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग। (मं. ५)

७ दुरितं– (दुः+इत्) जो दुष्टता अन्दर घुसी होती है। मन, बुद्धि, इंद्रिय और शरीरमें जो विजातीय दुष्टभाव या पदार्थ घुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोंमें बिगाड होकर कष्ट होते हैं उनका नाम दुरित है। यही पाप है। (मं. ६)

८ अवद्यं– निंदा करने योग्य। जिनसे अधोगति होती है आपत्ति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है। (मं. ६)

९ ग्राही– जो जकड कर रखता है, छोडता नहीं, जिससे मुक्त होना कठिन है। शरीरमें संधिवात आदि रोग जो जोडोंको जकड रखते हैं। मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आत्मिक निर्बलता आदि हैं। (मं. ६)

१० अराति– (अ+रातिः) अनुदारता, कृपणता, कंजूसी। (मं. ७)

११ तमः– अज्ञान, अन्धकार, आलस्य। (मं. ८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं। इन शब्दोंका शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक अवनतिके साथ सम्बन्ध यदि पाठक विचारपूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गतिका कितना बडा कार्य इस मानवसमाजमें हो रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कमर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये। मनुष्योंके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इंद्रियगण तथा शारीरिक व्यवहारमें इस दुर्गतिके नाना रूपोंका संचार देखकर विचारशील मनुष्यका मन चक्करमें पड जाता है और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित सा हो जाता है, उसको इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सूझता, ऐसी अवस्थामें यह सूक्त उस मूढ बने मनुष्यसे कहता है कि 'हे मनुष्य! क्यों मूढ बना है, मैं इस मार्गसे तुझे बचाता हूं और तुझे निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूं।' (मं. १)

एकमात्र उपाय

आपत्तियां अनंत हैं। यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दों द्वारा इस सूक्तमें आपत्तियोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानो, अनन्त आपत्तियोंका वर्णन ही है। इन अनन्त क्लेशोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूक्तके हरएक मन्त्रने 'ब्रह्म' शब्दसे बताया है। प्रत्येक मन्त्रमें—

मुञ्चामि त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि।

'......तुझे छुडाता हूं......और तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूं।' यह वाक्य पुनः पुनः कहा है। वारंवार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स्पष्ट है। दुर्गतिसे मनुष्यका बचाव करनेवाला एकमात्र उपाय 'ब्रह्म' अर्थात् 'सत्यज्ञान' ही है। ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे गिरता जाता है। जो उन्नति, प्रगति या बंधनसे मुक्ति होनी है वह ज्ञानसे ही होनी है। परम पुरुषार्थ द्वारा अपना उत्कर्ष साधन करना भी ज्ञानसे ही साध्य हो सकता है। ज्ञानहीन मनुष्य किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता।

ज्ञानका फल

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्योंकि ज्ञानसे ही सब कुछ उन्नति होती है। कोई उच्च ध्येय ऐसा नहीं है कि जो बिना ज्ञानके सिद्ध हो सकता है। तथापि इस सूक्तमें ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। अब इसी बातका विचार करेंगे। सत्यज्ञानका पहिला फल यह है—

(१) उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम्। (मं. १)

'द्युलोक और पृथ्वीलोक ये तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हों।' अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सब पदार्थ शुभकारी होंगे। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंतके सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अकेले ज्ञानी मनुष्यको ही साध्य होती है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह बडी भारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है। तृणसे लेकर सूर्य पर्यंतके सब पदार्थ उसके वशवर्ती होकर उसका हित करनेमें तत्पर रहते हैं। यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानी ही प्राप्त करता है।

(२) अद्भिः सह अग्निः शम्॥ (मं. २)

'जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी होता है।' ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्निसे–दोनोंके संयोगसे या वियोगसे–अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता।

(३) ओषधीभिः सह सोमः शम्॥ (मं. २)

'औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है।' सोम एक बडी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है। सोम और औषधियोंसे प्राणिमात्रका हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्रमें कहा

है। नानाप्रकारके रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्रमें कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त कष्टोंमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं। जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसीमें संमिलित हैं।

(४) अन्तरिक्षे वातः वयः शं धात्। (मं. ३)

' अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है। ' विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है। योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका द्योतक है। प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं। वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करनेका विषय इसमें आता है। रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं।

(५) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम्। (मं. ३,४)

' दिव्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे लिये सुखकारक हों। ' चार दिशाएं और चार उपदिशायें अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं। इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य है।

(६) सूर्यः अभिविचष्टे। (मं. ४)

' सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है ' वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है। सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत लाभ होते हैं। इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं।

(७) त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं. ५)

' तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं। ' अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है। ज्ञानसे जीवनके नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायुवाला हो सकता है।

(७) यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः एतु। (मं. ५)

' यक्ष्मा आदि रोग तथा अन्यान्य आपत्तियां ज्ञानसे दूर होंगी। ' ज्ञानसे आरोग्य संपादनके सत्य नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है।

(८) यक्ष्मात्, दुरितात्, अवद्यात्, द्रुहः पाशात्, ग्राह्याः च अमुक्थाः, उदमुक्थाः। (मं. ६)

' ज्ञानसे यक्ष्म, रोग, पाप, निंद्य कर्म, द्रोह, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ति होती है। ' अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं। यह बात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आ जायगी।

(१०) स्योनं अविदः (मं. ७)

' सुख प्राप्त होगा, ज्ञानसे ही उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वशवर्ती होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदयकी परम सीमा है। इसीको कहते हैं—

(११) सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः। (मं. ७)

' सुकृतके कल्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा। ' ज्ञानसे ही सुकृत किये जांयगे और उन सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यही भूलोक स्वर्गधाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इसलिये हरएक वैदिकधर्मी आर्यको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये ग्यारह फल इस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके विना अन्य साधनोंसे कोई लाभ नहीं होगा। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिका मार्ग बताया है वह यहां देखिये—

उन्नतिका मार्ग

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अपूर्व अलंकारके द्वारा उन्नतिका मार्ग दर्शाया है वह भी यहां अब देखना चाहिये—

तमसो ग्राह्या अधिमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्य एनसः असृजत्॥ (मं. ८)

' जिस प्रकार अंधकारकी पकडसे छुडाते हुए देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अधोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं। '

अलंकारकी भाषा

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है। सूर्य और अन्य देवोंका अन्योक्ति अलंकारसे रूपक बनाकर यहां वर्णन किया है। वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्वका रूपक है। यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये—

' चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नामकी माता करती है और सूर्य रूपी बालकका पालन दिनप्रभा नामकी माता करती है। प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्र भी गाढ अंधकारमें दबा रहता है। मानो इसको मार्ग

दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, द्युपिता, वायु आदि संपूर्ण देवता करते हैं। सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदयको प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अधिकाधिक चमकने लगता है और मध्यान्हमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजको कोई सहन कर नहीं सकता। इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी क्षयी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है।

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवालेकी इस ढंगसे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपकका प्रयोजन है। जो स्वयं यत्न नहीं करेंगे उनकी उन्नति होनी कठिन है। दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें संमिलित नहीं होता। यह उन्नतिका मूल मंत्र है।

स्वकीय प्रयत्न

इस मंत्रमें 'ऋतं, सूर्य देवाः तमसः मुञ्चतः' अर्थात् 'स्वयं चलनेवाले सूर्यको ही देव अंधकारसे छुडा सकते हैं' ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते। इसी प्रकार मनुष्य भी जो स्वयं अपने उद्धारका यत्न रातदिन करता रहता है, उसीके अन्य गुरु जन सहाय्यकारी होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग सकता है कि इस मंत्रमें 'ऋत' शब्द बहुत महत्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय। ऋत= 'योग्य, ठीक, सत्य, हलचल करनेवाले, गतिमान् प्रयत्नशील यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिवृत्ति, कर्मफल, अढल विश्वास दिव्य सत्यनियम।'

जो (ऋतं) सत्य नियमका पालन करता है, वही अंधकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसी की दूसरे सहायता कर सकते हैं। सूर्य प्रकाशमान् है उदय होना चाहता है, नियमपूर्वक प्रयत्नशील है; इसलिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फीके हो जाते हैं। जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसाही प्रभावशाली बनेगा।

वायु, जल, नक्षत्र आदि जगत्के देव विद्वान् शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीर स्थानीय देव उसी पुरुषकी सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्यनियम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करता रहता है। पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर नीरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं 'ऋतगामी' होना अत्यंत आवश्यक है। यही ऊपरके मंत्रमें 'ऋतं' शब्द द्वारा बताया है। जो ऋतगामी होता अर्थात् सत्य-नियमोंके अनुसार चलता है वही बंधनोंको काट सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है। इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है,

प्रार्थनाका बल

वेदमें 'ब्रह्म' शब्दका दूसरा अर्थ 'स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना' भी है। जो प्रार्थनावाचक वैदिकसूक्त हैं उनके पुरुष व्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, परन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता। 'ईश प्रार्थना' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थना से आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है। इसीलिये प्रारंभसे अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रों सूक्त प्रार्थना के हैं। जो लोग एकान्तमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वे ही प्रार्थनाका महत्व समझ सकते हैं अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जान सकते। इसलिये यहां कहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये जितना उपयोग औषधादि प्रयोगोंका हो सकता है, उससे कई गुना अधिक लाभ ईश प्रार्थना से हो सकता है। यह मानो एक 'प्रार्थना–योग' ही है। औषधि योग से 'प्रार्थना योग' अधिक बलवान् है। दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि लोग प्रार्थनाका महत्त्व नहीं समझते और उससे होनेवाले लाभसे वंचित ही रहते हैं ! यह बडी भारी हानि है।

इस सूक्तमें 'ब्रह्म' शब्द विशेष कर स्तोत्रवाचक ही है। ईश गुणवर्णन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें तल्लीन हो जाता है वह संपूर्ण आपत्तियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उस समय अद्भुत अमृत रसका आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें।

मनको धीरज देना

वेदमें 'मैं छुडाता हूं' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं, वे वाक्य 'मानसचिकित्सा' या 'वाचिकचिकित्सा' के

सूचक हैं। अपने अंदरके आरोग्यपूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगीके निर्बल मनमें प्रविष्ट करानेसे यह चिकित्सा साध्य होती है। इसमें रोगीके निर्बल मनको धीरज देना होता है। इस समय—

१ त्वा क्षेत्रियात्…मुंचामि। (मं. १)
२ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि। (मं. १)
३ त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं. ५)
४ यक्ष्मात् अमुक्थाः। (मं. ६)
५ ग्राह्याः उदमुक्थाः। (मं. ६)

ऐसे वाक्य बोलकर रोगीको धीरज देना होता है जैसे—

'(१) तुझको क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता हूं। (२) तुझे ईश प्रार्थना द्वारा निर्दुष्ट करता हूं। (३) तुझको अति दीर्घ आयुवाला करता हूं। (४) तू अब यक्ष्म रोगसे मुक्त हुआ है। (५) जकडनेवाले रोग तू अब पार हो गया है।' इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगीको धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढाकर और उसमें दृढ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है। यह बडा भारी गहन विषय है। जो पाठक ईश प्रार्थनाका बल जानते हैं, वे ही इस बातको समझ सकते हैं।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करनेमें जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारियां कम आती हैं। पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वरके विश्वासी प्रायः आनंदमें मस्त रहते हैं और अविश्वासी ही रोगी होते हैं।
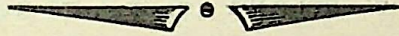
मृत्यु

कां. ६, सू. १३

(ऋषिः— अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)। देवता— मृत्युः।)

नमो॑ देवव॒धेभ्यो॒ नमो॑ राजव॒धेभ्यः॑। अथो॒ ये विश्या॑नां व॒धास्तेभ्यो॑ मृत्यो॒ नमो॑ऽस्तु ते ॥ १ ॥
नम॑स्ते अधिवा॒काय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑। सुम॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दुर्म॒त्यै त॑ इ॒दं नमः॑ ॥ २ ॥
नम॑स्ते यातु॒धाने॑भ्यो॒ नम॑स्ते भेष॒जेभ्यः॑। नम॑स्ते मृत्यो॒ मूले॑भ्यो ब्राह्म॒णेभ्य॑ इ॒दं नमः॑ ॥ ३ ॥

अर्थ— (देववधेभ्यः नमः) ब्राह्मणोंके शस्त्रोंको नमस्कार, (राजवधेभ्यः नमः) क्षत्रियोंके शस्त्रोंको नमस्कार (अथो ये विश्यानां वधाः) और जो वैश्योंके शस्त्र हैं उनको नमस्कार है और हे मृत्यो! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार होवे ॥ १ ॥

(ते अधिवाकाय नमः) तेरे आशीर्वादको नमस्कार और (ते परावाकाय नमः) तेरे प्रतिकूल वचनको भी नमस्कार हो। हे मृत्यो! (ते सुमत्यै नमः) तेरी उत्तम मतिके लिये नमस्कार और (ते दुर्मत्यै इदं नमः) तेरी दुष्ट मतिको भी यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(ते यातुधानेभ्यः नमः) तेरे यातना देनेवाले रोगोंको नमस्कार और (ते भेषजेभ्यः नमः) तेरे औषध उपायोंके लिये भी नमस्कार हो। हे मृत्यो! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे मूल कारणोंको नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः) ब्राह्मणोंको भी मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

मृत्यु

मृत्युके प्रकार

इस सूक्तमें मृत्युके प्रकार बताए हैं, देखिये—

१ देववधः— देवोंके द्वारा होनेवाला वध अथवा मृत्यु। अग्नि, वायु, सूर्यादि देव हैं, ब्राह्मण भी देव हैं। इनके कारण होनेवाली मृत्यु। अग्नि प्रकोप, वायु बिगडने, सूर्यके उत्ताप, तथा ब्राह्मणादिकोंके कारण जो मृत्यु होती है।

२ राजवधः— लडाईमें होनेवाला वध, अथवा राजपुरुषोंके व्यवहारोंसे होनेवाली मृत्यु।

३ विश्यानां वधः— वैश्यों, पूंजीपतियों अथवा धनवानोंके कारण होनेवाली मृत्यु।

इन तीन कारणोंसे मृत्युएं होती हैं। अतः इनका सुधार होना चाहिये। तथा—

४ अधिवाकः— अनुकूल वचन,

५ परावाकः— प्रतिकूल वचन,

६ सुमतिः— उत्तम बुद्धि, और

७ दुर्मतिः— दुष्टबुद्धि।

ये भी चार कारण हैं जिनसे मृत्यु होती है। अनुकूल वचनका अतिरेक होनेसे भी अविवेकके कारण मृत्यु होती है, प्रतिकूल वचनसे निराशा होकर मृत्यु होती है। उत्तम बुद्धि होनेसे केवल बौद्धिक कार्योंका ही ध्यान करनेके कारण शारीरिक निर्बलता उत्पन्न होकर मृत्यु होती है और दुर्मतिसे तो मृत्यु होती ही है। तथा—

८ यातुधानः— यातना देनेवाले रोग मृत्यु लाते हैं, और

९ भेषजं— औषधि उपाय भी किसी किसी समय मृत्युको लानेवाले होते हैं ये और इससे भिन्न जो भी मृत्युकी जडें हैं, उन सबको दूर करना चाहिये।

यही ब्राह्मणों अर्थात् ज्ञानियोंका कार्य है। इस कारण उनको नमस्कार है। सबको प्रयत्न करके इन सब मृत्युके कारणोंको दूर करके अपने आपको दीर्घजीवी बनानेका यत्न करना चाहिये।

मृत्युसे संरक्षण

कां. ४, सू. ३५

(ऋषिः- प्रजापतिः। देवता- अतिमृत्युः।)

यमो॑द॒नं प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ प्र॒जाप॑ति॒स्तप॑सा ब्र॒ह्मणेऽप॑चत्।
यो लो॒काना॒ं विधृ॑ति॒र्नाभि॒रेषा॒त्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥ १ ॥

अर्थ— (ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) ऋत नियमका पहिला प्रवर्तक प्रजापति (ब्रह्मणे यं ओदनं अपचत्) ब्रह्मके लिये जिस अन्नको पकाता है (यः लोकानां वि-धृतिः) जो लोकोंको विशेष रूपसे धारण करनेवाला है और (न अभि रेषात्) जो कभी किसीको हानि नहीं पहुंचाता, (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ १ ॥

भावार्थ— जिसने संपूर्ण सत्य और अटल नियमोंका सबसे पहिले प्रवर्तन किया, उस प्रजापतिने विशेष महत्त्व प्राप्तिके लिये यह ज्ञान रूप अन्न तैयार किया, यह सब लोकोंका विशेष रीतिसे धारण पोषण करता है और इससे किसीका भी नाश नहीं होता है। इसी ज्ञानसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ १ ॥

येनातरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥
यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन ।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥
यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥
यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥
यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

अर्थ— (येन भूत-कृतः मृत्युं अति अतरन्) जिससे भूतोंको बनानेवाले मृत्युके पार हो गये, (यं तपसा श्रमेण अन्वविन्दन्) जिसको लोगोंने तप और परिश्रमसे प्राप्त किया, और (यं पूर्वं ब्रह्म ब्रह्मणे पपाच) जिसको पहिले ब्रह्मने ब्रह्मके निमित्त पकाया (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्यु पार करूं ॥ २ ॥

(यः विश्वभोजसं पृथिवीं दाधार) जो सबको भोजन देनेवाली पृथ्वीका धारण करता है, (यः रसेन अन्तरिक्षं आ पृणात्) जो रससे अन्तरिक्षको भर देता है, (यः महिम्ना ऊर्ध्वः दिवं अस्तभ्नात्) जो अपनी महिमासे ऊपर ही द्युलोकको धारण किये हुए है, (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ३ ॥

(यस्मात् त्रिंशत्-अराः मासाः निः-मिताः) जिससे तीस दिन रूपी अरोंवाले महिने बनाये हैं, (यस्मात् द्वादश-अरः संवत्सरः निः मितः) जिससे बारह महिने रूप अरोंवाला वर्ष बनाया है, (परियन्तः अहोरात्राः यं न आपुः) गुजरते हुए दिन रात जिसको प्राप्त नहीं कर सकते (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ४ ॥

(यः प्राण-दः प्राण-द-वान् बभूव) जो जीवन देनेवाला प्राणके दाताओंका भी स्वामी हुआ है (यस्मै घृत-वन्तः लोकाः क्षरन्ति) जिसके लिये घृतयुक्त लोक रस देते हैं, (यस्य सर्वाः प्रदिशः ज्योतिष्मतीः) जिसकी सब दिशा उपदिशाएं तेजवाली हैं (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ५ ॥

(यस्मात् पक्वात् अमृतं संबभूव) जिस परिपक्वसे अमृत उत्पन्न हुआ, (यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) जो गायत्रीका अधिपति हुआ, (यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिताः) जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हुए हैं, (तेन ओदनेन मृत्युं अति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करूं ॥ ६ ॥

भावार्थ— इसीसे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले मृत्युके पार हो गये, जिसकी प्राप्ति तप और परिश्रमसे होती है और जो पहिले ब्रह्मने महत्त्व प्राप्तिके लिये परिपक्व किया था, उसी ज्ञानसे मैं भी मृत्युको दूर करता हूं ॥ २ ॥

जिसने पृथ्वीको धारण किया, अन्तरिक्षमें जलको भर दिया और द्युलोक ऊपर स्थिर किया उस ज्ञान रूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ३ ॥

जिससे तीस दिनवाले महिने और बारह महिनोंवाला वर्ष बना और प्रतिक्षण गमन करनेवाले दिन रात भी जिसका अन्त न लगा सके, उस ज्ञानरूप पक्वान्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ४ ॥

जो स्वयं जीवनशक्ति देनेवाला है और जीवन देनेवालोंका भी जो स्वामी है, जिसकी तृप्तिके लिये संपूर्ण जगत्के रस प्रवाहित हुए हैं और जिसके तेजसे सब दिशाएं तेजोमय हो चुकी हैं, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

*

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

अर्थ— (देव-पीयुं द्विषन्तं अवबाधे) देवत्वके नाशक शत्रुओंको मैं हटाता हूं। (ये मे सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं वे दूर होवें। मैं (विश्वजितं ब्रह्मौदनं पचामि) विश्वको जीतनेवाला ज्ञान रूपी अन्न पकाता हूं। (देवाः श्रद्दधानस्य मे शृण्वन्तु) सब देव श्रद्धा धारण करनेवाले मेरा यह भाषण सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिस परिपक्क आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ है, जो वाणीका पति है और जिसमें सब प्रकारका ज्ञान है, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ६ ॥

देवत्वका नाश करनेवालोंका मैं प्रतिबंध करता हूं, अपने प्रतिस्पर्धियोंको भी मैं दूर करता हूं और जगत्को जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न परिपक्क करता हूं। मैं इसमें श्रद्धा रखनेवाला हूं अतः मेरा यह कथन सब ज्ञानीजन सुनें ॥ ७ ॥

मृत्युसे संरक्षण

ब्रह्मौदन

' ब्रह्म ' शब्द ' ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान ' इत्यादिका वाचक है। यहां विशेष कर ज्ञानवाचक है। ' ओदन ' शब्द अन्नका वाचक है। इसलिये ' ब्रह्मौदन ' शब्द ' ज्ञान-रूप अन्न ' यह अर्थ बताता है। बुद्धिका अन्न ' ज्ञान ' है। शरीरका अन्न चावल आदि खाद्यपेय हैं। इंद्रियोंका अन्न उसके विषय हैं, मनका अन्न मन्तव्य है और बुद्धिका अन्न ज्ञान है। आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें ' चित् ' शब्द ज्ञानवाचक है, अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इसका फलित यह हुआ कि आत्माका स्वभाव गुण ही ज्ञान है। यह ज्ञान प्राप्त करके, अर्थात् इसको खा कर बुद्धि पुष्ट होती है।

आत्माका गुण ज्ञान होनेसे ज्ञानका सदा उसके साथ रहना स्वाभाविक है। जिस प्रकार दीप और प्रकाश एकत्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाश ही ज्ञानरूप है, इस कारण वह उसके साथ रहता है। दीप कहा जाए अथवा प्रकाश कहा जाए दोनों एक ही बात है। व्यवहारमें यही बात है, मैं प्रकाशसे पढता हूं, या दियेसे पढता हूँ इसका अर्थ एक ही होता है। इसी प्रकार ' मैं ज्ञानसे मृत्युको पार करता हूं, अथवा मैं आत्मशक्तिसे मृत्युको पार करता हूं, या आत्मासे मृत्युको दूर करता हूं ' इसका तात्पर्य एक ही है।

इस सूक्तमें ' ब्रह्मौदनसे मृत्युको पार करता हूं ' (तेन ओदनेन अतितराणि मृत्युं । मं. १-६) यह वाक्य छः बार आया है। इसका आशय भी पूर्वोक्त प्रकार ही समझना उचित है। मैं आत्माके ज्ञानरूप अन्नसे मृत्युको दूर करता हूं। गुण और गुणीका अभेद अन्वय मान कर गुणके वर्णनसे गुणीका वर्णन यहां किया गया है। इसीलिये ' पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकका धारक यह है ' यह तृतीय मन्त्रका वर्णन सार्थ होता है क्योंकि परमात्माने इस त्रिलोकीको धारण किया है इस विषयमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु इसमें कहा है कि ब्रह्मौदनने त्रिलोकीको धारण किया है। ज्ञानरूप अन्नसे त्रिलोकीका धारण हुआ है अर्थात् ज्ञान जिसका गुण है उस परमात्मासे त्रिलोकीका धारण हुआ है, यह अर्थ अब इस स्पष्टीकरणसे स्पष्ट हुआ।

इसी दृष्टिसे तृतीय, चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका आशय जानना उचित है। जिसका ज्ञान गुण है उसी आत्माने पृथ्वीको धारण किया, अन्तरिक्षमें जल भर दिया और आकाशको ऊपर स्थिर किया है ॥ ३ ॥ उसी आत्मासे सूर्य चंद्रादि गतिवाले होकर दिन, महिने और वर्ष बनते हैं, परंतु ये कालके अवयव कालको मापते हुए भी उस परमात्माका मापन करनेमें असमर्थ हैं ॥ ४ ॥ यह सबको जीवन देता है और सब अन्य जीवन देनेवालोंका यह ईश है, अर्थात् इसकी शक्ति प्राप्त करके ही वे सब जीवन देनेमें समर्थ होते हैं। सब पदार्थमात्रमें जो रस होते हैं वे जिसको एक समय ही प्राप्त होते हैं सब जगत्की दिशा उपदिशाएं जिसके तेजसे तेजस्वी बनी हैं, उसके ज्ञानामृतसे पुष्ट होता हुआ मैं मृत्युको दूर करता हूं ॥ ५ ॥

यह इन तीनों मंत्रोंका आशय है। इन मंत्रोंमें गुणोंके वर्णनसे गुणीका वर्णन किया गया है। अर्थात् उस आत्मामें जो रस भरा है उसीको प्राप्त करके अमर बनना है और मृत्युको दूर करना है।

अमृतकी प्राप्ति

आगे छठे मंत्रमें कहा ही है कि—

यस्मात् पकात् अमृतं सं बभूव। (मं. ६)

जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ, उस अमृतको प्राप्त करके मैं मृत्युको दूर करता हूं। यह बात स्पष्ट ही है कि परमात्मा सबसे अधिक परिपक्व, पूर्ण, रसमय और अमृतरस युक्त है तथा उसीका पान करके सब अन्य जन तृप्त होते हैं। यही गायत्री रक्षा (गाय-त्री) करनेवाली वाग्देवीका अधिपति है, इसीलिये उसमें सब वेद रखे हैं। जिसमें वाणी रहती है, उसीमें वेद रहते हैं। यह षष्ठ मंत्रका कथन अब स्पष्ट हो गया है।

आत्मशुद्धि

सप्तम मन्त्रमें आत्मशुद्धिपर बहुत जोर दिया है, इसका आशय यह है - (१) देव निन्दकोंको दूर करना, (२) प्रतिस्पर्धियोंको दूर करना, (३) सत्यपर श्रद्धा रखना (४) और विश्वमें विजयके लिये इस ब्रह्मज्ञानरूपी अन्नको पकाना और पश्चात् अन्योंके साथ स्वयं उसको सेवन करना। इससे मनुष्यकी उन्नति होगी और वह मृत्युको दूर कर सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। देवकी निंदा करनेके श्रद्धाहीन विचार अपने मनमें उत्पन्न हुए तथा कामक्रोधादि विरोधी भाव मनसें आये, तो उनको दूर करनेसे आत्मशुद्धि होती है और अन्य श्रद्धादिके धारण करनेसे उन्नति होती है। इस रीतिसे मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ मृत्युको दूर कर सकता है।

तप

यह सब तपके आचरणसे और परिश्रमसे साध्य हो सकता है। जो तप करेंगे और आत्मोद्धारके लिये तप करेंगे वेही अपना उद्धार कर सकते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन ध्यानमें धारण करके तपके आचरण द्वारा अपने आपको पवित्र करके मृत्युको दूर किया जा सकता है और इस प्रकार अपना जीवन सफल बनाया जा सकता है।

अथर्ववेद्का सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

' दीर्घजीवन और आरोग्य '

सु भा षि त

कां. ११।४

१ प्राणाय नमो यस्य सर्वं इदं वशे– जिसके अधीन यह सब कुछ है उस प्राणको नमस्कार हो। (१)

२ यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं– इसी प्राणमें सब जगत् प्रतिष्ठित है। (१)

३ यदा प्राणः वर्षेण पृथिवीं अभ्यवर्षीत् तत् पशवः प्रमोदन्ते, नः वै महः भविष्यति– जब प्राण वृष्टि द्वारा पृथ्वीपर बरसता है, तब सारे पशु प्रसन्न हो जाते हैं कि अब हमारे लिए बहुत अन्न मिलेगा। (५)

४ हे प्राण ! ते इदं नमः– हे प्राण ! तुझे यह नमस्कार हो। (८)

५ हे प्राण ! यत् तव भेषजं, नः जीवसे धेहि– हे प्राण ! तेरे पास जो औषधि है वह हमारी दीर्घायुके लिए हमें दे। (९)

६ प्राणः तक्मा– प्राण जीवनशक्ति है। (११)

७ प्राणः सत्यवादिनं उत्तमे लोके आभरत्– प्राण सत्यवादीको उत्तम लोकमें पहुंचाता है। (११)

८ प्राणः विराट्– प्राण विशेष तेजस्वी राजा है। (१२)

९ प्राणं सर्वे उपासते– प्राणकी सब उपासना करते हैं। (१२)

१० यदा त्वं प्राण जिन्वसि, अथ स जायते पुनः– हे प्राण ! जब तू प्रेरणा देता है, सब जीव पुनः उत्पन्न होता है। (१४)

११ वातः ह प्राण उच्यते– वायुको ही प्राण कहते हैं। (१५)

१२ भूतं भव्यं सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम्– सब भूत और भविष्य प्राणमें स्थित हैं। (१५)

१३ हे प्राण ! यदा जिन्वसि आथर्वणीः आंगिरसीः दैवीः मनुष्यजाः ओषधयः प्रजायन्ते– हे प्राण ! जिस समय तू प्रेरणा देता है, तभी आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मानवी औषधियां उपयोगमें आती हैं। (१६)

१४ यस्मिन् प्रतिष्ठितः असि, तस्मै सर्वे बलिं हरान्– जिसमें प्राण होता है, उसीके लिए सब बलि समर्पित करते हैं। (१८)

१५ प्राणः मा अनुतिष्ठतु– प्राण मेरे अन्दर रहे। (२४)

१६ प्राण ! मा मत् पर्यावृतः– हे प्राण ! तू मुझसे दूर मत हो। (२६)

१७ मदन्यः न भविष्यसि– हे प्राण ! तू मुझसे अलग मत हो। (२६)

१८ प्राण बध्नामि त्वा मयि– हे प्राण ! मैं तुझे अपनेमें बांधता हूँ। (२६)

कां. ८।१

१ ते प्राणाः अपानाः इह रमन्ताम्– तेरे प्राण और अपान तुझमें खेलते रहें। (१)

२ अयं पुरुषः असुना सह इह अस्तु– यह पुरुष प्राणोंके साथ यहां रहे। (१)

३ हे पुरुष ! उत्क्राम मा अवपत्थाः– हे पुरुष ! तू ऊपर चढ, नीचे मत गिर। (४)

४ मृत्योः पड्वीशं अवमुञ्चमानः– मृत्युके बंधनसे अपनेको छुडा। (४)

५ त्वां मृत्युः दयतां– मृत्यु तुझ पर दया करे। (५)

६ मा प्रमेष्ठाः– तू मृत्युको प्राप्त मत हो। (५)

७ उद्यानं ते पुरुष ! नावयानं– हे पुरुष ! हमेशा तेरी उन्नति हो, अवनति कभी न हो। (६)

८ ते जीवातुं दक्षतातिं कृणोमि– तुझे जीवन और बल देता हूँ। (६)

९ इमं अमृतं सुखं रथं आरोह– इस अमर और सुख देनेवाले रथ पर चढ। (६)

१० ते मनः तत्र मा गात्– तेरा मन बुरे विचारोंकी ओर न जावे। (७)

११ जीवेभ्यः मा प्रमदः– जीवोंका हित करते समय तू आलस्य मत कर। (७)

१२ विश्वे देवाः त्वा अभिरक्षन्तु– सब देव तेरा संरक्षण करें। (७)

१३ गतानां मा आदिधीथाः– मरों हुओंके लिए तू शोक मत कर। (८)

१४ तमसा ज्योतिः आरोह– अन्धकारको छोडकर प्रकाश पर चढ। (८)

१५ पराङ्मनाः मा तिष्ठ– विरुद्ध दिशामें मन मत लगा। (९)

१६ एतं पन्थां मा अनुगाः, भीमः एषः– इस कुमार्गसे मत जा, यह मार्ग भयंकर है। (१०)

१७ एतत् तमः, मा प्रपत्थाः– यह अन्धकारपूर्ण मार्ग है, अतः इस मार्गसे मत जा। (१५)

१८ संकसुकात् आरात् चर– नाश करनेवालोंसे दूर रह। (१२)

१९ बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतां– ज्ञान और विज्ञान तेरी रक्षा करें। (१३)

२० अस्वप्नश्च, त्वानवद्राणश्च रक्षतां– जागरूकता और तत्परता तेरी रक्षा करें। (१३)

२१ गोपायन् च जागृविः च त्वा रक्षताम्– रक्षा करने और जागृत रहनेवाला दोनों तेरी रक्षा करें। (१३)

२२ मा त्वा प्राणो बलं हासीत्– प्राण तेरे बलको कम न करे। (१५)

२३ जम्भः संहनुः त्वा मा विदत्– विनाश और घात करनेवाले तुझे प्राप्त न करें। (१६)

२४ तमः त्वा मा विदत्– अन्धकार तुझ पर कभी न फैले। (१६)

२५ स्वस्तये त्वा उद्भरन्तु– लोग कल्याणके लिए तुझे उन्नतिकी तरफ ले चलें। (१६)

२६ सहस्रवीर्येण इमं मृत्योः उत्पारयामसि– हजारों शक्तियोंसे इसे मृत्युके पार ले जाते हैं। (१८)

२७ पुनः आगाः, पुनर्णवः– तू फिर आया है, फिर नया होकर आया है। (२०)

२८ त्वत् तमः व्यवात्– तेरे पाससे अन्धकार दूर हो गया है। (२१)

२९ ते ज्योतिः अभूत्– तेरा प्रकाश फैल रहा है। (२१)

३० त्वत् निर्ऋतिं मृत्युं अप निदध्मसि– तेरे पाससे दुर्गति और मृत्युको हम दूर कर रहे हैं। (२१)

कां. ८।२

१ ते जरदष्टिः अच्छिद्यमाना अस्तु– तेरा जीवन बुढापे तक आपत्तिरहित रहे (१)

२ ते असुं आयुः पुनः आभरामि– तेरे अन्दर मैं फिर प्राण और आयु भरता हूँ। (१)

३ तमः मा उपगाः– अज्ञानके पास मत जा। (१)

४ जीवतां ज्योतिः अर्वाङ् अभि ऐहि– जीवित मनुष्योंकी ज्योतिके पास जा। (२)

५ त्वा शत-शारदाय आ हरामि– मैं तुझे सौ वर्षकी आयु तक ले जाता हूं। (२)

६ मृत्यु-पाशान् अशस्तिं अवमुञ्चन्, ते द्राघीयः आयुः प्रतरं दधामि– मृत्युके पाश और अपकीर्ति इनको दूर करके तुझे मैं दीर्घायु देता हूँ। (२)

७ अयं जीवतु मा मृत– यह जीवित रहे, न मरे। (५)

८ हे मृत्यो! पुरुषं मा वधीः– हे मृत्यो! इस पुरुषको मत मार। (६)

९ दुरितं अपसिध्य, आयुः धत्तं– पापको दूर करके इसको दीर्घायु दे। (७)

१० अरिष्टः सर्वांगः जरसा शतहायनः आत्मना भुजं अश्नुतां– पीडा रहित, सब अंग अवयव और इंद्रियोंसे युक्त होकर वृद्धावस्था तक सौ वर्षका होकर अपनी शक्तिके भोग प्राप्त कर। (८)

११ त्वा मृत्योः उत् अपीपरं– तुझे मृत्युसे ऊपर उठा लिया है। (९)

१२ अस्मै ब्रह्म वर्म कृण्मसि– इसके लिए ज्ञानका कवच मैं तैय्यार करता हूँ। (९)

१३ ते दीर्घं आयुः स्वस्ति कृणोमि– तेरे लिए दीर्घायु कल्याण कारक करता हूँ। (९)

१४ वैवस्वतेन प्रहितान् चरतः सर्वान् यमदूतान् अपसेधामि– यमके द्वारा भेजे गए सर्वत्र घूमनेवाले यमदूतोंसे तुझे दूर करता हूँ। (११)

१५ अरातिं निर्ऋतिं ग्राहिं सर्वं दुर्भूतं तत् परः आरात् अपहन्मासि– शत्रु दुर्गति, रोग और जो कुछ अहितकारक है, वह सब दूर करता हूँ। (१२)

१६ अमृतः न रिष्याः– अमर हो और नाशको मत प्राप्त हो। (१३)

१७ क्षुरेण सुतेजसा केशश्मश्रु वपासि मुखं शुभं– तेज उस्तरेसे जब तू बाल और दाढीकी हजामत करेगा, तब तेरा चेहरा सुन्दर दीखेगा। (१९)

१७ सर्वं ते अन्नं अविषं कृणोमि– तेरा सारा अन्न मैंने विष रहित बना दिया है। (१९)

१९ अरायेभ्यो जिघत्नुभ्यः इमं परिरक्षत– दान न देनेवाले हिंसकोंसे इसकी रक्षा कर। (२०)

२० वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि– वर्ष तेरे लिए सुखकारक हों। (२३)

२१ स अरिष्टः न मरिष्यसि, मा बिभेः– हे अहिंसित मनुष्य ! तू मरनेवाला नहीं है, डर मत। (२०)

२२ सर्वो वै तत्र जीवति, यत्रेदं ब्रह्म क्रियते– जहां यह ज्ञान फैलता है, वहां सब जीवित रहते हैं। (२६)

२३ अमम्रिः अमृतः अतिजीवः– अक्षीण और अमर होकर दीर्घायु हो। (२६)

२४ असवः ते शरीरं मा हासिषुः– प्राण तेरे शरीरको न छोडें। (२६)

२५ रक्षोहा असि, सपत्नहा अमीवचातनः– राक्षस, शत्रु और रोगोंको मारनेवाला तू है। (२६)

कां. ७।५३

१ देवानां भिषजौ शचीभिः अस्मत् मृत्युं प्रत्यौहताम्– देवोंके वैद्य अपनी शक्तिके द्वारा हमसे मृत्युको दूर करते हैं। (१)

२ प्राणापानौ ! संक्रामताम्– हे प्राण और अपान ! इस शरीरमें अच्छी तरहसे संचार करते रहो। (२)

३ शरीरं मा जहीतं– इस शरीरको न छोडो। (२)

४ वर्धमानः शरदः शतं जीव– वृद्धि प्राप्त करनेवाला तू सौ वर्षतक जीवित रह। (२)

५ इमं प्राणः मा हासीत्– प्राण इसे न छोडे। (४)

६ अपानः अवहाय परा मा गात्– अपान इसे छोडकर दूर न निकले। (४)

७ सप्तर्षिभ्यः एनं परिददामि, ते एनं जरसे स्वस्ति वहन्तु– मैं इसे सप्त–ऋषियोंको सौंप देता हूँ, वे इसे वृद्धावस्थातक सुखसे लेकर जाएं। (४)

८ इह अरिष्टः वर्धतां– यहां नष्ट न होता हुआ वृद्धि प्राप्त करता रह। (५)

९ ते यक्ष्मं परा सुवामि– तेरे अन्दरसे यक्ष्मरोगको मैं दूर करता हूँ। (६)

कां. ७।३३

१ अयं मा प्रजया धनेन सिंचतु च मे दीर्घमायुः कृणोतु– यह मुझे प्रजा और धन देवे और मेरी आयु लम्बी करे। (१)

कां. ५।३०

१ प्रत्यक् भेषजं सेवस्व त्वा जरदष्टिं कृणोमि– औषधका योग्य रीतिसे सेवन कर, वृद्धावस्थातक मैं तुझे पहुंचाऊंगा। (५)

२ मा बिभेः, न मरिष्यसि, त्वा जरदष्टिं कृणोमि– डर मत, तू मरनेवाला नहीं है, तुझे वृद्धावस्थातक पहुंचाता हूँ। (८)

३ निरवोचं अहं यक्ष्मं अंगेभ्यो अंगज्वरं तव– मैं तेरे शरीरसे यक्ष्मरोग और ज्वर दूर करता हूँ। (८)

४ ऋषी बोध–प्रतिबोधौ अस्वप्नो यश्च जागृविः तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ, दिवा नक्तं च जागृताम्– बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं, एक निद्रारहित है और दूसरा जागृत है। ये दोनों ही तेरे प्राणके रक्षण हैं। वे रात-दिन तेरे अन्दर जागृत रहें। (१०)

५ गंभीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः परि उदेहि– गाढे और काले अन्धकाररूपी मृत्युमुखसे उठकर उदयको प्राप्त कर। (११)

६ मा पुरा जरसो मृथाः– वृद्धावस्थासे पहले ही मृत्युको मत प्राप्त हो। (१७)

कां. ५।३१; कां. ५।२८

१ शतशारदाय दीर्घायुत्वाय नव प्राणान् नवभिः संमिमीते– सौ वर्षकी आयुके लिए नौ प्राणोंको नौ इंद्रियोंके साथ जोडता हूँ। (१)

२ दक्षं दधातु सुमनस्यमानं– सुविचारयुक्त मनसे बल स्थापित करे। (५)

३ हिरण्य आयुषे त्रिवृदस्तु– सोना तीनगुना होकर तेरी आयु बढानेवाला हो। (६)

४ द्विषतां उत्तरः भवः– द्वेष करनेवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हो। (१०)

५ भिन्दत् सपत्नान् अधरांश्च कृण्वत् महते सौभगाय आरोह– शत्रुओंको छिन्नभिन्न करके और उन्हें नीचे गिराकर महान् सौभाग्यके लिए उन्नत हो। (१४)

कां. ३।११

१ मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्– अज्ञात रोगोंसे और राजयक्ष्मासे तुझे हवनके द्वारा छुडाता हूं और दीर्घायुसे युक्त करता हूँ। (१)

२ यदि क्षितायुः, यदि वा परेतः, यदि मृत्योः अन्तिकं नीत एव, तं आहरामि निर्ऋतेः उपस्थात्, अस्पर्शं एनं शतशारदाय– यदि उसकी आयु समाप्त हो गई हो अथवा यदि वह मृत्युके पास पहुंच गया हो, तो उसे विनाशसे छुडाकर तथा दीर्घायु युक्त बनाकर सौ वर्ष तक जीनेके योग्य करता हूँ। (२)

३ सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा आहार्षं एनं– सैंकडों शक्तियोंसे युक्त तथा सैंकडों वीर्योंसे युक्त, सौ वर्षकी आयु करनेवाले हवनके द्वारा उसे मैं वापस ले आया हूँ। (३)

४ शतं जीव शरदो वर्धमानः– प्रगति करते हुए सौ वर्षतक जीवित रहो। (३)

५ विश्वस्य दुरितस्य पारं अतिनयाति– यह हवन सब पापोंसे दूर ले जाता है। (४)

६ प्राणापानौ प्रविशतं– प्राण और अपान इसमें प्रवेश करें। (५)

७ अन्ये शतं मृत्यवः वियन्तु– दूसरी सैंकडों मुत्यएं इससे दूर हों। (५)

८ प्राणापानौ इह एव स्तं, इतः मा अपगातं– हे प्राण और अपान! यहीं रहो, इसके पाससे दूर न जाओ। (६)

९ शरीरस्य अंगानि जरसे वहतं– शरीरके अवयवोंको वृद्धावस्थातक ले जाओ। (६)

१० जरायै त्वा परि ददामि– तुझे वृद्धावस्थाको सौंपता हूँ। (७)

११ जरा त्वा भद्रा नेष्ट– वृद्धावस्था तुझे सुख देवे। (७)

कां. २।२९

१ अस्मै आयुः धेहि– इसे दीर्घायु दे। (२)

२ अयं शतं शरदः जीवाति– यह सौ वर्षतक जीवित रहे। (२)

३ अयं सहसा क्षेत्राणि जयन्– यह अपने सामर्थ्यसे देश जीतेगा। (३)

४ अन्यान् सपत्नान् अधरान् कृण्वानः– दूसरे शत्रुओंको यह गिराता है। (३)

५ अनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः– निरोगी और शक्ति युक्त होकर आनन्दित हो। (६)

कां. २।२८

१ अन्ये शतं मृत्यवः इमं मा हिंसिषुः– दूसरी सैंकडों मृत्युएं इसे न मारें। (१)

२ जरामृत्युं कृणुतां– वृद्धावस्थाके बाद इसे मृत्यु आवे। (२)

३ मेमं प्राणो हासीन्, मो अपानः– इसे प्राण और अपान छोडकर न जावें। (३)

कां. १।३५

१ दाक्षायणं हिरण्यं ते बध्नामि आयुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय– यह सोना तेरे बांधता हूँ। इसके कारण तुझे आयु तेज, बल, दीर्घायु और सौ वर्षका जीवन प्राप्त हो। (१)

२ यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स दीर्घं आयुः कृणुते– जो शरीरपर दाक्षायण सोना धारण करता है, उसे दीर्घायु प्राप्त होती है। (१)

कां. १।३०

१ ते कृणुत जरसमायुः अस्मै– वे इसके लिए वृद्धावस्थातककी आयु देवें। (३)

२ शतमन्यान् मृत्यून् परिवृणक्तु– दूसरी सैंकडों तरहकी मृत्युओंको भी दूर करें। (३)

कां. ७।९४

१ विशः संमनसस्करत्– प्रजाजनोंको उत्तम मनसे युक्त करें। (१)

कां. ७।६९

१ अहानि शं भवन्तु नः, शं रात्रीः प्रतिधीयतां, उषा न शं व्युच्छतु– दिन, रात और उषा हमारे लिए कल्याणकारी हों। (१)

कां. १।२६

१ हेति अस्मद् आरे अस्तु– शस्त्र हमसे दूर रहे। (१)

२ मृडत, मृडय नः तनूभ्यः तोकेभ्यः मयः कृधि– हमें सुखी करो, हमारे शरीरको सुख दो और हमारी सन्तानों अर्थात् वंशजोंको सुखी करो। (४)

कां. ७।५९

१ यः नः अशपतः शपात्, शपतो यश्च नः शपात्, मूलात् अनु शुष्यतु– शाप न देनेवाले होते हुए भी हमको जो शाप देता है अथवा शाप देनेवालेको भी शाप देता है, वह जडसे ही सूख जाए। (१)

कां. ७।४७

१ चिकितुषी रायस्पोषं नः अद्य दधातु– ज्ञानसे युक्त विद्या हमें धन और पोषण देवे। (२)

कां. ७।८

१ इमं सर्ववीरं आरे शत्रुं कृणुहि– उन सब वीर पुत्रोंको शत्रुओंसे दूर कर। (१)

कां. ४।३१

१ शत्रून् हत्वाय वेदः विभजस्व– शत्रुको मारकर धन बांट दे। (२)

२ ओजः विमानः मृधः विनुदस्व– अपनी शक्तिको मापकर शत्रुओंको दूर कर। (२)

३ अभिमातिं सहस्व– शत्रुओंको हरा। (३)

४ शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि– शत्रुओंको मारते, काटते, छिन्नभिन्न करते हुए आगे बढ। (३)

५ विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि– प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिए शिक्षित कर। (४)

६ वशी वशं नयासे– तू स्वयं संयमी होकर शत्रुको भी अपने आधीन कर। (३)

७ उत्तरं सहः बिभर्षि– अत्यधिक उत्तम बल धारण करता है। (६)

८ महा धनस्य संसृजि एधि– महान् धन प्राप्त होनेवाले युद्धमें तू जा। (६)

९ संसृष्टं सं आकृतं अस्मभ्यं धत्तां– उत्पन्न और प्राप्त किए हुए धन हमें दे। (७)

१० हृदयेषु भियः दधानाः शत्रवः पराजितासः अप निलयन्तां– हृदयमें भय धारण कर शत्रु पराजित होकर भाग जावें। (७)

कां. ४।३२

१ विश्वं सह ओजः आनुषक् पुष्यति– वह सब शक्ति और सामर्थ्योंको निरन्तर पुष्ट करता है। (१)

२ त्वया युजा दासं आर्यं साह्याम– तेरी सहायतासे हम दास और आर्योंको पराजित करें। (१)

३ हे मन्यो ! सजोषाः तपसा नः पाहि– हे उत्साह ! प्रीतिसे युक्त होकर अपनी तपश्चर्यासे हमारी रक्षा कर। (२)

४ तपसा युजा शत्रून् विजहि– तपसे युक्त होकर शत्रुओंको जीत। (३)

५ अमित्रहा दस्युहा विश्वा वसूनि नः आभर– शत्रुओं और दुष्टोंको मारकर सब धन हमें भरपूर दे। (३)

६ त्वं अभिभूत्योजाः स्वयंभूः भामः अभिमातिषाहः विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयान् पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि– तू विजयी बलसे युक्त, अपनी शक्तिसे युक्त, तेजस्वी, शत्रुओंको हरानेवाला, सब लोगोंका हित करनेवाला, सामर्थ्यवान् और शत्रुओंको जीतनेवाला होकर युद्धके समय हमें सामर्थ्ययुक्त कर। (४)

७ दस्यून् हनाव– हम दोनों मिलकर शत्रुओंका वध करें (६)

कां. २।१५

१ ब्रह्म च क्षत्रं न बिभीतः न रिष्यतः– ब्राह्मण और क्षत्रिय डरते नहीं इसलिए नष्ट भी नहीं होते। (४)

कां. २।१७

१ ओजः सहः बलं आयुः श्रोत्रं चक्षुः परिपाणं मे दाः– सामर्थ्य, साहस, बल, आयुष्य, श्रवणशक्ति, दर्शनशक्ति और संरक्षणशक्ति यह सब मुझे दे। (१–७)

कां. ६।७

१ येन असुराणां ओजांसि आवृणीध्वं तेन नः शर्म यच्छत– जिससे राक्षसोंकी शक्तिको घेरा जा सकता है, उस शक्तिसे हमें सुख दो। (३)

कां. ५।१५

१ हे ऋतावरि ऋतजाते औषधि ! मधुला, मे मधु करः– हे सत्यपालक और सत्यसे उत्पन्न औषधि ! तू मीठी है अतः मुझे भी अपनी तरह मीठी कर। (१-१२)

कां. ४।३९

१ प्रथमं आयुः प्रजां पोषं रयिं– पहले आयु, फिर प्रजाओंका पोषण, फिर धन मुझे प्राप्त हो। (१-१०)

कां. २।१४

१ सर्वान् आजीन् अजैषं इतः सुदान्वा नश्यत– सब युद्धमें जय प्राप्त की है। सारी पीडायें यहांसे दूर हों। (६)

कां. १।९

१ सपत्ना अस्मदधरे भवन्तु– हमारे शत्रु अधोगतिको जावें। (२)

२ इमं वर्धय, एनं सजातानां श्रेष्ठये आधेहि- इसे बढा और इसे अपनी जातिवालोंमें श्रेष्ठ बना। (३)

कां. १।१६

१ यदि नो गां अश्वं पुरुषं हांसि, तं त्वा सीसेन विध्यामः- यदि तू हमारी गायों, घोडें और मनुष्योंको मारेगा, तो हम तुझे सीसेकी गोलीसे मार देंगे। (४)

कां. ३।८

१ यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचं अहं त्वत्- सब रोग और मृत्यु इन्हें यहांसे दूर करता हूँ। (१-२०)

कां. १२।२

१ यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि- सब रोग और मृत्यु इन्हें यहांसे दूर करता हूँ। (२)

२ मृत्यो! परं पन्थां अनु परा इहि- हे मृत्यु! यहांसे दूर जा। (२१)

३ इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि, मैषां नु गात् अपरो अर्थं एतम्- जीवोंके लिए आयुकी मैं मर्यादा देता हूँ, कोई भी नीच होकर इस आयुष्यरूपी धनको न खोये। (२३)

४ शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीः- सौ वर्षतक जीवित रहे। (२३)

५ पर्वतेन मृत्युं अन्तर्दधतां- पर्वत अर्थात् पृष्ठवंशसे मृत्युको दूर करो। (२३)

६ सर्वं आयुः जीवनाय नयतु- जीवित रहनेके लिए पूर्ण आयुकी ओर लेजा। (२४)

७ उत्तिष्ठत, प्रतरत सखायः अश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्- उठो, तैरो, हे मित्रो! पत्थरोंसे युक्त यह नदी बही जा रही है। (२७)

८ शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम- सौ वर्षतक सब मनुष्य पुत्रपौत्रोंके साथ आनन्द करें। (२८)

९ मृत्योः पदं योपयन्त एत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः- मृत्युके कदम हटाते हुए चलो, दीर्घायुको और लम्बी करते चलो। (३०)

१० दीर्घेण आयुषा इमान् संसृजामि- दीर्घायुसे इसे संयुक्त करता हूँ। (३२)

कां. ६।८५

१ वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे- वाणीसे तेरे रोगको दूर करता हूँ। (३)

कां. २।३३

१ यक्ष्मं ते विवृहामि- रोग तुझसे दूर करता हूँ। (१-७)

कां. ६।१२७

१ परा तं अज्ञातं यक्ष्मं अधराञ्चं सुवामसि- उस अज्ञात रोगको नीचेके मार्गसे मैं दूर करता हूँ। (३)

कां. ६।१४

१ बलासं सर्वं नाशय- सब कफ दूर कर। (१)

कां. १।१२

१ मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुः परुः आविवेश यो अस्य- सिर दर्द अथवा खांसी जो उसके अंगमें व्याप्त हो गई है दूर हो जाए। (३)

कां. ४।७

१ वीरान् नो अत्र मा दभन्- हमारे पुत्र और पौत्रोंको कष्ट मत दे। (७)

कां. १०।४

१ घनेन हन्मि वृश्चिकं, अहिं दण्डेन आगतम्- हथौडेसे बिच्छुको और दण्डेसे सांपको मारता हूँ। (९)

कां. १।२४

१ अनीनशत् कीलासं सरूपां अकरत् त्वचं- सफेद कोढका नाश हुआ और चमडीका रंग शरीरके समान हो गया है।

कां. २।३१

१ ये अस्माकं तन्वं आविविशुः सर्वं तत् हन्मि- जो कृमि जन्तु हमारे शरीरमें प्रविष्ट हो गए हैं उन सब कृमियोंका नाश करता हूँ— उनका नाश करता हूँ। (५)

कां. २।३२

१ उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु, निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः- उदय होनेवाला सूर्य कृमियोंका नाश करे और अस्त होनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे कृमियोंका नाश करे। (१)

२ ब्रह्मणा संपिनष्मि अहं क्रमीन्- ज्ञानसे मैं कृमियोंका नाश करता हूँ। (३)

कां. ५।२३

१ सूर्यः दृष्टान् घ्नन् अदृष्टान् च सर्वान् प्रमृणन् क्रिमीन्- सूर्य सभी दृश्य और अदृश्य कृमियोंका नाश करता है। (५)

कां. ४।३७

१ अजशृंगि अज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय– हे अजश्रृंगि ! तू अपने गंधसे सब राक्षसों--रोग--जन्तुओंका नाश कर। (२)

२ पिशाचान् सर्वान् ओषधे प्रमृणीहि सहस्व च– हे औषधि ! सब पिशाचों--रोगकृमियों-को नष्ट कर। (१०)

कां. ६।३२

१ आराद् रक्षांसि प्रति दह– पाससे राक्षसोंको जला दे। (१)

२ मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्– तुम परस्पर एक दूसरेको मारते हुए मृत्युको प्राप्त हो। (३)

कां. २।९

१ यः चकार स निष्करत् सुभिषक्तमः- जो औषधि तैय्यार करता है, जो उत्तम औषधि तैय्यार करता है, वही उत्तम वैद्य होता है। (५)

कां. २।८

१ वीरुत् क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु– यह औषधि आनुवंशिक रोगोंका नाश करनेवाली है, वह क्षेत्रिय रोगोंको दूर करे।

कां. ३।७

१ आपः विश्वस्य भेषजीः– पानी सब रोगोंको दूर करनेवाली है। (५)

२ आपः त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्– पानी तुझे आनुवंशिक रोगोंसे बचावे। (५)

कां. ४।१३

१ वात आ वाहि भेषजं– हे वायो ! औषध लेकर आ। (३)

२ त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूतः इयसे– तू सब औषधिरूप देवोंका दुत होकर जाता है। (३)

३ अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः– मेरा हाथ भाग्यवान् है, मेरा हाथ और अधिक भाग्यशाली है। (६)

४ अयं मे विश्वभेषजः, अयं शिवाभिमर्शनः– मेरा हाथ सब औषधियोंके प्रभावसे युक्त है और वह कल्याण करनेवाला है। (३)

५ हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवि अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि- दस (उंगलियोंरूपी) शाखाओंसे युक्त अपने हाथोंसे तुझे मैं छूता हूँ। जीभसे उत्साहदायक शब्द बोलता हूँ, यह मेरा हाथ आरोग्य देनेवाला है, उससे मैं तुझे स्पर्श करता हूँ। (७)

कां. ६।१३

१ ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः– ज्ञानियोंके लिए यह नमस्कार हो। (३)

कां. ४।३५

१ विश्वजितं ब्रह्मौदनं पचामि– विश्वको जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न मैं पकाता हूँ। (७)

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

' दीर्घजीवन और आरोग्य '

उ प मा सू ची

पृष्ठ

१ अपां गर्भ इव जीवसे त्वयि बध्नामि– (११।४।२६) जलोंके गर्भके समान इस प्राणको अपने अन्दर बांधकर रखता हूँ। ४

२ जातं अग्निं इव त्वा प्राणेन संधमामि– (८।२।४) जिस प्रकार अग्निकी छोटीसी ज्वालाको फूंक फूंककर प्रदीप्त करते हैं, उसी तरह इस मनुष्यके प्राणको हम प्रदीप्त करते हैं। ४६

३ यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तमः इव अप हन्मसि– (८।२।१२) जो कुछ अकल्याण करनेवाला है, उसे हम अंधकारके समान हटा देते हैं। ४८

४ अनड्वाहौ व्रजं इव प्राणापानौ प्रविशतं– (७।५३।५; ३।११।५) जिस प्रकार दो बैल बाडेमें घुसते हैं, उसी प्रकार प्राण और अपान मेरे शरीरमें प्रविष्ट हों। ६२; ८१

५ अयं शेवधिः– (७।५३।५) यह प्राण एक बहुत बडे खजानेके समान है। ६२

६ श्येनः इव यक्ष्मः परस्तरां प्रापतत्– (५।३०।९) जिस प्रकार बाज दूर दूर तक उडता चला जाता है, उसी तरह यक्ष्मरोग बहुत दूर भाग जाए। ६७

७ उक्षणः गां रज्ज्वा इव जरिमा त्वा अभि आहित– (३।११।८) जिस प्रकार बैल या गायको रस्सीसे बांध देते हैं, उसी प्रकार वृद्धावस्थासे तुझे बांध दिया है। ८१

पृष्ठ

८ प्रमनाः माता पुत्रं उपस्थे इव मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु– (२।२८।१) जिस प्रकार प्रसन्न मनवाली माता अपने पुत्रको अपने गोदमें लेकर प्यार करती है, उसी तरह मित्र मित्रविषयक पापसे बचाकर इसे प्यार करे। ८८

९ अदितेः अस्मै माता इव शर्म यच्छ– (२। २८।५) हे आदिशक्ते ! इसे माताके समान सुख दे। ८९

१० इन्द्रे इन्द्रियाणि इव दक्षमाणः हिरण्यं बिभ्रत्– (१।३५।३) जिस प्रकार आत्मामें इन्द्रियें धारण की जाती हैं; उसी प्रकार बल बढानेकी इच्छा वालोंको सोना धारण करना चाहिए।

११ अशपतः शपतः नः शपात्– (७।५९।१) शाप न देते हुए अथवा शाप देते हुए हमें जो शाप देता है, वह आ मूलात् अनु शुष्यतु विद्युता आहतः वृक्षः इव– जड सहित उसी प्रकार सूख जाए, जिस प्रकार बिजलीके गिरनेपर वृक्ष सूख जाता है। १०७

१२ अस्य दहतः अग्नेः दहतः दावस्य– (७। ४५।२) इस मनुष्यकी ईर्षा जलनेवाली अग्निके समान अथवा बहुत प्रज्वलित वनाग्निके समान है। १०७

१३ एतां ईर्षां उद्ना अग्निं इव शमय– (७। ४५।२) इस मनुष्यकी ईर्षा पानीसे अग्निके समान शान्त हो जावे। १०७

१४ नरः तिग्म-इषवः अग्निरूपाः–(४।३१।१) नेतागण तीक्ष्ण शस्त्रोंसे युक्त और अग्निके समान तेजस्वी हों। ११२

पृष्ठ

१५ मन्यो ! अग्निः इव त्विषितः सहस्व- (४।३।१२) हे उत्साह ! तू अग्निके समान तेजस्वी होकर शत्रुओंको हटा। ११२

१६ मन्युः इन्द्रः इव विजेषकृत्- (४।३।१५) यह उत्साह इन्द्रके समान विजय करनेवाला है। ११३

१७ यथा द्यौः पृथिवी, अहः रात्री, सूर्यः चन्द्रः, ब्रह्म क्षत्रं, सत्यं अनृतं, भूतं भव्यं न बिभीतः न रिष्यतः, मे प्राण मा विभेः- (२। १५।१-६) जिस प्रकार द्युलोक और पृथ्वीलोक, दिन और रात, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म और क्षत्रिय, सत्य और अनृत, भूत और भविष्य न डरते हैं और न दुःखी होते हैं, उसी प्रकार हे प्राण ! तू भी मत डर। ११८

१८ सर्वाः अपचितां वाकाः इव नश्यन्तु- (६।२५।१-३) सभी पीडायें उसी प्रकार नष्ट होजाएं, जिस प्रकार पूजनीय सज्जनोंके सामने सामान्य मनुष्योंकी बातें। १२०

१९ देवेभ्यः आवृश्चन्ते सर्वदा पापं जीवन्ति, अग्निः अनुवपते-(१२।२।५०) जो देवोंसे स्वयंको दूर रखते हैं और पापी जीवन व्यतीत करते हैं, अग्नि उनका उसी प्रकार नाश करता है, जिस प्रकार अश्वः इव नडं घोडा घासका नाश करता है। १५८

२० यथा वृत्रः आपः तस्तम्भ, ते यक्ष्मं अग्निना वारये- (६।८५।३) जिस प्रकार वृत्र पानियोंको रोक लेता है, उसी प्रकार तेरे यक्ष्मारोगको अग्निके द्वारा रोकता हूँ। १६५

२१ दहतः शुष्मिणः अस्य अग्नेः इव- (६।२०।१) जलनेवाले बलवान् अग्निकी गर्मीके समान यह ज्वर व्यापता है। १६८

२२ उत मत्तः इव विलपन् अपायति- (६।२०।१) और उन्मत्तके समान बडबडाता हुआ निकल जाता है। १६८

२३ उर्वार्वाः मूलं इव अस्य बंधनं छिनद्मि- (६।१४।२) जिस प्रकार खरबूजकी जडको तोड देते हैं, उसी प्रकार इस मनुष्यके बंधनको तोडता हूँ। १६९

२४ मुष्करं यथा बलासं निक्षिणोमि- (६।१४।२) जिस प्रकार चोरको दूर किया जाता है, उसी प्रकार रोगीसे यक्ष्माको दूर करता हूँ। १६९

२५ हे बलास ! अशुंगः शिशुकः यथा इतः निः प्रपत- (६।१४।३) हे यक्ष्मा रोग ! वेगसे दौडनेवाले बछडेके समान तू भी यहांसे दूर भाग जा। १६९

२६ हायनः इटः इव अवीरहा अप द्राहि- (६।१४।३) जिस तरह प्रतिवर्ष बरसातमें होनेवाली घास नष्ट हो जाती है, उसी तरह वीरोंका नाश करनेवाले हे रोग ! तू भी नष्ट हो जा। १६९

२७ यथा आशुमत् मनः परा पतति एवा कासे प्र पत- (६।१०५।१) जिस प्रकार वेगवान् मन दूर दूर जाता है, उसी प्रकार हे खांसी रोग ! तू भी दूर चला जा। १७०

२८ यथा सुसंशितः बाणः परा पतति कासे प्र पत- (६।१०५।२) जिस प्रकार अति तीक्ष्ण बाण वेगसे दूर जाता है, उसी तरह हे खांसी ! तू भी दूर चली जा। १७०

२९ यथा सूर्यस्य रश्मयः परा पतन्ति कासे समुद्रस्य विक्षरं प्र पत- (६।१०५।३) जिस तरह सूर्यकी किरणें दूर दूर जाती हैं, उसी तरह हे खांसी ! समुद्रके प्रवाहके समान तू दूर चली जा। १७०

३० हे ब्रह्मणस्पते ! यः अयं वक्रः वि अंगः इषिकां इव सं नमः- (७५६।४) हे ज्ञानी ! जो यह टेढा और विकृत अंगोंवाला है, उसे मुंजकी तरह सीधा कर। १७४

३१ हे मदावति ! ते मदं शरं इव वि पातयामसि- (४।७।४) हे मूर्च्छा तुझ मूर्च्छाको हम बाण के समान दूर करते हैं। १७७

३२ येषन्तं चरुं इव वचसा प्रस्थापयमासि- (४।७।४) चूनेके बर्तनके समान हे मुर्च्छे ! तुझे हम बचा औषधिके द्वारा दूर करते हैं। १७७

३३ आचितं ग्रामं इव वचसा परि स्थापयामसि- (४।७।५) एकत्रित हुए हुए गांवके लोगोंके समान हम वचासे औषधियोंको रोकते हैं। १७७

पृष्ठ

३४ स्थास्नि वृक्षः इव तिष्ठ- (४।७।५) हे रोगो ! अपने स्थानों पर वृक्षके समान स्थिर रहो। १७७

३५ उद्प्लुतं दारु इव अहीनां उग्रं विषं- (१०।४।४) जिस प्रकार भरे पानीमें लकडी बह जाती है, उसी प्रकार श्वेत औषधिसे सांपोंका भयंकर विष भी बह जाता है। १७९

३६ पौंजिष्ठः सिन्धोः कवरं मध्यं परेत्य इव अहेः विषं व्यानिजम्- (१०।४।१९) जिस प्रकार मल्लाह नदीके गहरे मध्यभागमें जाकर फिर वापस आ जाता है, उसी तरह मैं भी सांपोंके विषको नष्ट करता हूँ। १८०

३७ उर्वरीः इव ओषधीनां अहं साधुया वृणे- (१०।४।२१) जिस प्रकार उपजाऊ भूमिसे अच्छा धान्य अनायास ही प्राप्त किया जा सकता है, उसी तरह औषधियोंको भी मैं सरलतासे ही प्राप्त करता हूँ। १८०

३८ धन्वन् इरा इव ते विषं निजजास- (५।१३।१) रेगिस्तानमें जिस प्रकार पानीकी धारा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार तेरे विषको दूर करता हूँ। १८२

३९ तमसः ज्योतिः सूर्यः इव उदेतु- (५।१३।३) अंधेरेमें प्रकाश देनेवाले सूर्यके समान यह उदयको प्राप्त हो। १८२

४० धन्वनः ज्यां इव रथान् इव सत्रासाहस्य मन्योः विमुंचामि- (५।१३।६) धनुषकी डोरी अथवा रथके बंधनोंके समान क्रोधी सांपके विषको शिथिल करता हूँ। १८३

४१ सूर्यः द्यां इव अहीनां जनिम परि अगमं- (६।१२।१) जिस प्रकार सूर्य द्युलोकको जानता है, उसी प्रकार मैं सांपके जन्मोंको जानता हूँ। १८७

४२ प्रेष्यन् शेवधिं जनं इव तक्मानं परि दद्मसि- (५।२२।१४) जिस प्रकार खजानेकी रक्षा करनेवाले मनुष्यको दूर भेजा जाता है, उसी प्रकार हम ज्वरको दूर भेजते हैं। १९१

पृष्ठ

४३ स्तुकां इव आसां प्रथमां मध्यमां जघन्यां आछिनद्मि- (७।७४।२) जिस प्रकार गांठको खोलते हैं, उसी प्रकार प्रथम, मध्यम और निकृष्ट-प्रकारकी गण्डमालाको नष्ट करता हूँ। २०१

४४ अयं अंशुः इव आप्यायतां- (५।२९।१२-१३) यह रोगी मनुष्य स्वस्थ होकर चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त हो। २०५

४५ दृषदा खल्वान् इव क्रिमीन् संपिनष्मि- (२।३१।१) जिस प्रकार पत्थरोंसे चने पीसते हैं, उसी तरह मैं रोगोंकी क्रिमियोंको पीसता हूँ। २०७

४६ अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत् क्रिमयो हन्मि- (२।३२।३) अत्रि, कण्व और जमदग्निके समान मैं कृमियोंको मारता हूँ। २२०

४७ चतुःपक्षं छदिः इव अदः अवरोचते- (३।७।३) चार कोनोंवाली छतके समान हिरणकी सींग चमकती है। २२४

४८ मुष्कबर्हः गवां इव विष्कन्धं वध्रि कृणोमि- (३।९।२) जिस प्रकार अण्डकोष तोडनेवाला बैलोंको निर्वीर्य करता है, उसी प्रकार मैं रोगोंको निर्वीय करता हूँ। २२९

४९ कपिः शुनां इव बन्धुरा काबवस्य- (३।९।४) जिस प्रकार बन्दर कुत्तोंको तुच्छ समझता है, उसी प्रकार रोगोंका प्रतिबंध करना चाहिए। २३०

५० आशवः रथाः इव शपथेभिः उत सरिष्यथ- (३।९।५) वेगवान् रथोंके समान शापोंसे दूर भाग जाओ। २३०

५१ समुद्रस्य उदधिः इव ते वस्तिविलं विषितं- (१।३।८) जिस प्रकार तलाबके पानीके लिए मार्ग साफ करते हैं, उसी प्रकार तेरे मूत्रमार्गको साफ करता हूँ। २३५

५२ धन्वनः अवसृष्टा इषुका परापतत् ते मूत्रं मुच्यतां (१।३।९) धनुषसे छूटा बाण जिस प्रकार दूर जाकर गिरता है, उसी प्रकार तेरा मूत्र दूर जाकर गिरे। २३५

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

' दीर्घजीवन और आरोग्य '

कांडक्रमानुसार सूक्तकी

अ नु क्र म णि का

कांड	सूक्त	मंत्रसंख्या	पृष्ठ
१	३	९	२८४
	९	४	१३०
	१२	४	१७०
	१६	४	१४१
	२३	४	१९७
	२४	४	१९५
	२५	४	१९२
	२६	४	१०५
	३०	४	९८
	३५	४	९३
२	३	६	२३३
	८	५	२२२
	९	५	२२०
	१०	८	२४३
	१४	६	१२७
	१५	६	११८
	१७	७	११९
	१८	५	१३९
	१९	५	१३४
	२०	५	१३४
	२१	५	१३५
	२२	५	१३५
	२३	५	१३५
	२४	८	१४३
२	२८	५	८८
	२९	७	८३
	३१	५	२०७
	३२	६	२०९
	३३	७	१६६
३	७	७	२२५
	९	६	२२९
	११	८	७९
	२८	६	२२६
४	६	८	१७५
	७	७	१७७
	१३	७	२३९
	३१	७	११२
	३२	७	११५
	३५	७	२५०
	३७	१२	२१३
	३९	१०	१२२
५	१३	११	१८२
	१५	११	१२१
	२२	१४	१८९
	२३	१३	२११
	२८	१४	७३
	२९	१५	२०२
	३०	१७	६६

कांड	सूक्त	मंत्रसंख्या	पृष्ठ	कांड	सूक्त	मंत्रसंख्या	पृष्ठ
५	३१	१२	७१	७	४७	२	१०८
६	७	३	१२०		५३	७	६१
	१२	३	१८७		५४	२	१०८
	१३	३	२४९		५५	१	१०९
	१४	३	१६९		५६	८	१७३
	२०	३	१६८		५७	२	११०
	२५	३	१२०		५८	२	१११
	३२	३	२१८		५९	१	१०७
	५६	३	१८७		६९	१	१०५
	८३	४	२०१		७४	४	२००
	८४	४	२४२		७६	६	१९९
	८५	३	१६५		८८	१	१८५
	९६	३	२१९		९४	१	१०४
	१००	३	१८६		११६	२	१८८
	१०५	३	१७०	८	१	२१	३३
	१२७	३	१६७		२	२८	४६
७	८	१	११२	९	८	२२	१४५
	३२	१	६५	१०	४	२६	१७८
	३३	१	६५	११	४	२६	१
	४३	१	१०४	१२	२	५५	१४८
	४५	२	१०७				

अथर्ववेदका सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

' दीर्घजीवन और आरोग्य '

कांड-सूक्त-विषय-मंत्रसंख्या-ऋषि-देवताकी

अनुक्रमणिका

अथर्ववेद्का सुबोध अनुवाद [भाग चौथा]

‘ दीर्घजीवन और आरोग्य ’

वर्णानुक्रम मन्त्र-सूची

*

वर्णानुक्रम मन्त्र-सूची